ज्ञान-पा०,
मण्डी, आगरा।

सम्वत् २०११
सन् १९५४

मूल्य चार रुपये

जालिमसिंह मेड़तवाल
प्रेस, ब्यावर

प्रकाशकीय वक्तव्य

'जीवन-दर्शन' को पाठकों के कर-कमलों में अर्पण करते हुए मेरा तन-मन उल्लास से भर रहा है। कारण, विश्व के चौगान में सफल जीवन जीने वालों के लिये यह एक 'प्रकाश-स्तम्भ' है, जो जीवन के चौराहे पर खड़े होकर उसके हर पहलू पर अपने प्रकाश की उज्ज्वल किरणें फेंक रहा है। जीवन क्या है? उसका महत्त्व क्या है? उनकी कौन धारा कहाँ किस रूप में प्रवाहित हो रही है? जीवन-समुन्नयन किस प्रकार सम्भव है? जीवन की सार्थकता उसके हर मोड़ पर दृढ़ता के साथ कर्त्तव्य-पालन करने में है या जी चुराकर कहीं दूर भाग जाने में? जीवन का सफल खिलाड़ी कौन है? इन सब प्रश्नों के तथ्यपूर्ण समाधान आप इसमें पा सकेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है।

'जीवन-दर्शन' में कवि श्री जी जन-मन के समक्ष जीवन के एक समर्थ व्याख्याकार बन कर उपस्थित हुए हैं। उनकी शैली इतनी सरल, परमार्जित और ममस्पर्शी है कि वह पाठकों के मन पर चुम्बक का काम करती है। उन्होंने जीवन के हर कोण को अपनी ओजस्वी वाणी से इतना चमत्कृत कर दिया है कि वह जन-मानस

को बलात् आकृष्ट कर लेता है। अपने प्रत्येक सारगर्भित प्रवचन में वे जीवन की आत्मा को छूते हुए चले हैं। और यही कारण है कि इनके द्वारा जीवन का सर्वाङ्गीण विश्लेषण बड़ा ही विलक्षण बन पड़ा है। हमारी इस बात में कितना वजन है—इसका सही आकलन पाठक अपनी बौद्धिक तुला पर स्वयं कर सकेंगे।

सम्पादन का सम्पूर्ण भार जैन-जगत् के समर्थ सम्पादक पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अपने ऊपर लेकर इस प्रकाशन को प्रस्तुत रूप दिया है और प्रूफ-संशोधन के बृहत् कार्य को भी उन्होंने बड़े परिश्रम, प्रेम तथा उत्साह से किया है।

इस दुहरे दायित्व-निर्वहण के लिए भारिल्लजी हमारी ओर से भूरि-भूरि धन्यवाद के पात्र हैं।

रतनलाल जैन मीतल

मन्त्री—सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा।

दो शब्द

मुनि श्री अमरचन्द जी महाराज को प्रवचन करते मैंने सुना है। उनकी वाणी ओजपूर्ण, भाषा प्रवाहमय, और दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। शास्त्रवादी होते हुये भी वे रूढ़िवादी नहीं हैं। उनकी विद्वत्ता में चिन्तन की मौलिकता है, और चिन्तन में अनुभूति की ताजगी।

प्रस्तुत पुस्तक मे उनके कतिपय प्रवचनों का संकलन है। इनमें उन्नत जीवन की वहुमुखी कल्पना है, और उसकी ओर बढ़ने की यथेष्ट प्रेरणा भी। पहला प्रवचन समाज सुधार-विषयक है। इसमें अपने सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय देते हुये मुनिजी ने बतलाया है कि समाज-सुधार का अर्थ प्राचीन में से निर्जीव अथवा विगलित अश को छाँटकर स्वस्थ पुरातन की भूमिका पर स्वस्थ नवीन की प्रतिष्ठा करना है। यह व्यक्तियों के किये ही हो सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है, व्यक्तियों के सुधरने-सुधारने का नाम ही समाज-सुधार है।

दूसरे और तीसरे प्रवचन में विद्यार्थियों और महिलाओं को उद्‌बोधन देते हुये, चौथे प्रवचन में मुनि महाराज ने धर्म और बाह्याचार के पारस्परिक सम्बन्ध की सुन्दर विवेचना की है।

पाँचवे प्रवचन मे भारत की खाद्य-समस्या का मार्मिक चित्र है। इसमें जीवन का आधार अन्न है और धर्म से भी पहले उसकी आवश्यकता है, यह दर्शाते हुये मुनिजी कहते हैं कि महावीर, बुद्ध, कृष्ण, या राम के नाम के छींटे देने से भूखी जनता का मन ठंडा नहीं हो सकता।

अन्नाभाव के दिनों में भी संस्कार-वश पशु-पक्षियो और जलचरों को अन्न-दान करके पुण्य-सञ्चय करने वालों के प्रति उन्होंने बड़ी ही स्पष्टवादिता से काम लिया है। उन्हीं के शब्दों म, "आज देखते है कि करोड़ों इन्सान भूखो मर रहे है, और हमारे भावुक भाई कीड़ियों को, बन्दरों को और मछलियों को अन्न खिलाते हैं। मै भूतदया की इस भावना का विरोध और निषेध नही करता, किन्तु यह कहता हूँ कि सबसे पहले उस इन्सान का पेट भरो, जिसकी जिन्दगी अन्न पर ही निर्भर है और जिसके भूखे रहने पर मॉसाहार की महापातकमयी प्रवृत्ति के प्रचलित होने का अंदेशा है। अगर आपने मानव-दया को प्राथमिकता नही दी, तो मै नहीं समझता कि आपने दया-धर्म के मर्म को समझा है या नही? उस हालत में बन्दरों को बचाना भी कठिन हो जायगा और लोग उन मछलियों को भी पकड़-पकड़कर खा जायँगे, जिन्हे आप आटा खिला खिला कर मोटा बना रहे हैं।" यदि भारत के सभी धर्माचार्य इस स्वर मे बोलने लग जॉय, तो सम्भवतः खाद्य-समस्या का अस्तित्व ही न रहे।

आगे के छः प्रवचन आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इनमें सरल और ओजस्विनी भाषा में साधना के तत्त्व और लक्ष्य का प्रतिपादन किया गया है। 'अशुभ दशा' और 'शुभ दशा' दोनों को लॉघकर 'शुद्ध दशा' की प्राप्ति का प्रयत्न ही आध्यात्मिक साधना है। "अशुभ दशा पाप का कारण है, शुभ दशा पुण्य का कारण है, और शुद्ध दशा पाप और पुण्य दोनों को काट कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाली है।"

सांस्कृतिक पर्वों और त्यौहारों पर भी मुनि महाराज के कुछ प्रवचन इस पुस्तक मे संगृहीत हैं। मुनिजी की प्रखर दृष्टि इन पर्वों के ऊपरी छिलके को भेदकर उनके वास्तविक स्वरूप और महत्व का

उद्घाटन करती है। उदाहरण के लिये रक्षा-बन्धन के विषय में वे कहते हैं, 'वास्तव मे रक्षा-बन्धन पर्व का यही प्रधान और एकमात्र संदेश है। तुम्हारे सामने कहीं भी अनीति हो रही हो, बुराई फैल रही हो और गलती हो रही हो, तो तुम उससे लड़ो—जहाँ तक तुम्हारे मन में बल हो, वहाँ तक लड़ो। लड़ाई केवल शरीर से नहीं होती, वह लड़ाई ऊँचे चरित्र-बल की होनी चाहिये, न्याययुक्त होनी चाहिये।

ये सभी प्रवचन बड़े ही रोचक प्रेरणा-प्रद ढंग से जीवन के सर्वांगीण उत्थान का सन्देश देते हैं। मुनि महाराज की वाणी में एक आह्वान है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पढ़ते-पढ़ते ऐसी धारा-प्रवाहिकता अनुभूत होती है कि पाठक उसमें बरबस बहा चला जाता है। ऐसी सुन्दर और स्वस्थ सामग्री एक साथ संकलित करके पुस्तक रूप में प्रस्तुत करने के लिये श्री शोभाचन्द्र जी बधाई के पात्र हैं।

ब्यावर (अजमेर)
१५-४-५४

किशोरीलाल गुप्त, एम० ए०
प्रिंसिपल—सनातन धर्म कालेज

विषय-सूची

सामाजिक जीवन			**१–१०३**
१—समाज-सुधार	....	....	१
२—विद्यार्थी-जीवन	....	..	२१
३—महिला-जीवन	.	...	४१
४—जैन-धर्म और रीति-रिवाज		..	५७
५—भारत की खाद्य-समस्या	....	....	७५
अध्यात्मिक जीवन			**१०३–२१९**
६—अन्तर्जीवन	....	....	१०७
७—तीन परिणतियाँ (१)	....	.	१२४
८— ,, ,, (२)	....	....	१४५
९—निमित्त और उपादान	..	....	१६३
१०—जप-साधना	....	.	१८३
११—मानवता का मूल्य	.	...	१९९
१२—आचार : प्रथमो धर्मः	.	..	२२३
सांस्कृतिक जीवन			**२२३–३८५**
१३—राष्ट्रीय चेतना	...	...	२४५
१४—जैन सँस्कृति का संदेश	..	....	२६५
१५—रक्षा-बन्धन	..	...	२८५
१६—कृष्ण-जन्माष्टमी	....	....	३०३
१७—विजयपर्व-विजयादशमी	....	....	३२३
१८—ज्ञान-पंचमी	...	...	३३७
१९—अक्षय-तृतीय	...	..	३५७
२०—वैशाखी पूर्णिमा-बुद्ध-जयन्ती		....	३७३

जीवन-दर्शन

सामाजिक-जीवन

★

: १ :

समाज-सुधार

●

आज 'समाज-सुधार' सप्ताह का प्रथम दिवस है। समाज क्या है? और उसका सुधार कैसे होता है? यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय है। यह विषय केवल इसी वर्तमान् युग में विचारणीय है, ऐसी बात नहीं है। अतीत काल के इतिहास को पढ़िए, तो उस में भी आप इस विषय की गम्भीर चर्चा सुन सकेंगे। अपने युग के सामाजिक दोषों का परिमार्जन भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने भी किया था। इसी प्रकार समय-समय पर समाज के सुधार का कार्य होता ही रहता है। 'समाज-सुधार' आज का ही कोई नया कदम नहीं है।

आइए, हम पहले इस प्रश्न पर विचार कर लें, कि समाज क्या चीज है? समाज का स्वरूप समझ लेने पर समाज का सुधार कैसे हो? इस प्रश्न पर विचार करना उचित होगा। हम समाज को खोजने चलते हैं, तो ऐसा मालूम पड़ता है, कि समाज का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। जिधर देखो उधर और जहाँ देखो, वहीं

व्यक्ति ही व्यक्ति नजर आता है। उससे भिन्न, उससे अलग समाज का कहीं अस्तित्व नहीं है, सत्ता नहीं है। जैसे अङ्गों और उपांगों से सर्वथा भिन्न शरीर का अस्तित्व नहीं है और जल-कणों से सर्वथा भिन्न समुद्र का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तियों से भिन्न समाज की सत्ता नहीं है। अतएव व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का उत्थान ही समाज के जीवन का उत्थान है और व्यक्तियों का अधःपतन ही समाज का अधःपतन है, क्योंकि एक-एक व्यक्ति के मिलने से परिवार बनता है और परिवारों का समूह समाज का रूप धारण करता है। एक-एक परिवार की इकाइयाँ जब सामूहिक जीवन को प्राप्त करती हैं, उनमें सामूहिक सुख-दुःख की भावना जागृत होती है और जब प्रत्येक व्यक्ति यह समझ लेता है कि समूह के उत्थान में हमारा उत्थान है और उसके गिरने में हमारा गिरना है, और इस प्रकार जब समूहगत अखंड चेतना जागृत हो जाती है और समूह में व्यक्ति घुल-मिल जाता है, तब समाज का निर्माण होता है।

इस प्रकार हम समाज को अलग खोजने चलेंगे तो वह कहीं नहीं मिलेगा। वस्तुतः परिवारों की इकाइयाँ मिल कर ही समाज का निर्माण करती है।

मनुष्यों की भाँति पशुओं में भी सामूहिक प्रवृत्ति देखी जाती है। उनमें पारिवारिक जीवन भी है और बहुत-से पशु समाज के रूप में अपने-अपने दल बना कर भी चलते हैं। इस रूप में जैसा मनुष्यों का समाज है, उसी प्रकार पशुओं का भी समाज होता है। किन्तु दोनों के समूहों में बड़ा भारी अन्तर है। जब हमारे आचार्यों ने समाज के प्रश्न को हल करना शुरू किया और कहा कि अनेक मनुष्य मिल कर समाज बनता है और यही बात पशुओं में भी दिखाई दी तो उन्होंने दो विधान किये। उन्होंने मनुष्यों के समूह को तो 'समाज' का रूप दिया और पशुओं के समूह को 'समज'

कहा। दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं सिर्फ एक मात्रा का अन्तर है। किन्तु यह एक मात्रा का अन्तर दोनों की भावना में महान् अन्तर की ओर इंगित करता है।

तो 'समज' और 'समाज' की भावना में क्या अन्तर है ? हमारे पूर्वाचार्य कहते है कि जो केवल ओघसंज्ञा रखते हैं, जिन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला है, जिनमें सामूहिक उत्थान का संकल्प जागृत नहीं है और जो एक दूसरे में घुल-मिल कर सामूहिक प्रगति नहीं कर सकते, उनका समूह 'समाज' कहलाता है। इसके विरुद्ध सामूहिक प्रगति का संकल्प लेकर, अपने आसपास की जिन्दगियों को भी उठाते हुए और दूसरो के सुख-दुःख में अपने आपको साझीदार बनाते हुए जो चलते हैं, उनका समूह 'समाज' कहलाता है।

इस व्याख्या के अनुसार मनुष्यों का समाज भी अगर कोरा समूह ही है, इकट्ठा हो गया है और उसमें एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, संवेदना और प्रेम नहीं है, सामूहिक उत्थान की भावना नहीं है, स्वयं ऊँचा उठने और साथ ही दूसरों को ऊँचा उठाने का संकल्प नहीं है, बल्कि गिराने का संकल्प है, तो क्या ऐसा समूह समाज कहलाने का अधिकारी है ? जो व्यक्ति अपने लिए महलों का निर्माण कराने तो चले, किन्तु अपने आसपास की झोंपड़ी को महल बनाने न चलें, जो अपनी ही सुख-सुविधा में बँध गये हों और दूसरों के सुख-दुःख के साझीदार न हों और इस प्रकार जो अपने आप तक ही सीमित होकर चल रहे हों, उनका गिरोह भले एक साथ चल रहा हो, उसे हम 'समाज' नहीं कह सकते, 'समज' ही कहेंगे।

समाज जिस अनिवार्य शर्त के कारण 'समाज' कहलाता है, हमें निर्णय कर लेना है कि वास्तव में वह उस शर्त को पूरा करता है या नहीं ? और यदि उस शर्त को पूरा नहीं करता तो उसे समाज

कैसे कहा जा सकता है ? उस गिरोह को पशुओं का समाज या समज ही कहना चाहिए।

पशुओं के गिरोह में भविष्य के संकल्प के संबंध में कोई निश्चित धारणा नहीं होती है और जीवन-विकास की कोई योजना नहीं होती है। उसमें यह बुद्धि भी नहीं होती कि हम किस प्रकार अपने भविष्य का निर्माण करें ? पशु अपने ही और वर्त्तमानकालीन ही सुख-दुःख को लेकर चलते हैं। मरने वाले मर जाते हैं और गिरने वाले गिर जाते हैं, किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करता हुआ गिरोह आगे चलता जाता है।

यदि ऐसी ही वृत्ति समाज की है कि गिरोह चल रहा है और कोई गिर जाता है, पिछड़ जाता है और संकट में फँस जाता है और दूसरों को यह खयाल नहीं आता कि हमारा साथी क्यों पीछे रह गया ? उसमें क्या दुर्बलता है कि जिससे वह हमारे साथ नहीं चल सका ? और वे उसकी सहायता नहीं करते और आगे चले जाते हैं तो वे भी पशुओं के गिरोह की तरह ही हुए। जैसे पशुओं के गिरोह में से कोई लूला-लंगड़ा पशु पिछड़ जाता है तो उसके लिए कोई नहीं ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्य-गिरोह भी अपने पीछे रह जाने वाले साथी का खयाल नहीं करता और आगे बढ जाता है, तो मैं कहता हूँ कि पशुओं के चलने में और मनुष्यों के चलने में कोई अन्तर नहीं।

अभिप्राय यह है कि समाज के सुधार और उत्थान के लिए हममें सामूहिक चेतना आनी चाहिए। व्यक्ति या परिवार के रूप में सोचने की कला हमें बदल देनी चाहिए और सामाजिक रूप में सोचने की कला अपने जीवन में जागृत करनी चाहिए। धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इसी कला में सन्निहित है। मैं समझता हूँ कि

धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न नहीं है। भगवान् महावीर की भावना तो इस रूप में हमारे सामने व्यक्त हुई है:—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ॥
—दशवैकालिक

प्रश्न पूछा गया कि जीवन में कदम-कदम पर पाप लगता है, जीवन का समस्त क्षेत्र पापों से घिरा हुआ है, और जो धर्मात्मा बनना चाहता है उसे पापों से बचना होगा, किन्तु पापों से बचाव हो कैसे सकता है?

तब भगवान् महावीर ने कहा—तू पहले यह देख कि तू संसार के प्राणियों के साथ एकरस हो चुका है या नहीं? तेरी वृत्तियाँ उनके साथ एकरूप हो चुकी हैं या नहीं? तेरी आंखों में उन सब के प्रति प्रेम बसा है या नहीं? यदि तू उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहा है, संसार के प्राणी-मात्र को समभाव दृष्टि से, विवेक और विचार की दृष्टि से देख रहा है—उनके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझ रहा है तो तुझे पाप-कर्म नहीं बँधेंगे।

अहिंसामय जीवन के भी विकास का एक क्रम होता है। कुछ अपवादों को अलग कर दिया जाय तो साधारणतया उस क्रम से ही अहिंसात्मक भावना का विकास होता है। मूल रूप में मनुष्य अपने आपमें ही घिरा रहता है, अपने शरीर के मोह को लेकर उसी में बँधा रहता है। फिर मनुष्य में थोड़ी क्रान्ति आई और उसने अपने परिवार को महत्त्व देना शुरू किया। तब वह अपने क्षुद्र सुख-दुःख में से बाहर निकल कर माता, पिता, पत्नी और सन्तान के पालन-पोषण के लिए चला। उस समय वह स्वयं भूखा रह गया किन्तु परिवार को भूखा नहीं रहने दिया। खुद प्यासा रह कर भी परिवार

को पानी पिलाने के लिए तैयार हुआ। स्वयं बीमार रहा किन्तु माता, पिता और सन्तान के लिए उसने जरूर औषधियाँ जुटाईं। इस रूप में उसकी सहानुभूति, आत्मीयता और संवेदना व्यक्ति के क्षुद्र घेरे को पार करके अपने कुटुम्ब तक फैली। इस रूप में उसकी अहिंसा की वृत्ति आगे चली और सुन्दर रूप में विकसित हुई।

इस तरह अहिंसा का विकास होने पर यदि मनुष्य को स्वार्थों ने घेर रक्खा है तो मानना चाहिए कि अमृत में ज़हर मिला है और उस जहर को अलग कर देना ही चाहिए। किन्तु यदि मनुष्य अपने परिवार के लिए भी कर्त्तव्यबुद्धि से काम कर रहा है और उसमें आसक्ति और स्वार्थ का भाव नहीं रख रहा है और उनसे सेवा लेने की वृत्ति न रख कर अपनी सेवा देने की ही भावना रखता है, बच्चों को उच्च शिक्षण दे रहा है और समाज को सुन्दर और होनहार युवक देने की तैयारी कर रहा है, और उसकी यह भावना नहीं है कि बालक होशियार होकर मेरी सेवा करेगा और मेरे लिए धन जुटाएगा, बल्कि वह सोचता है कि बालक तैयार होकर अपने समाज, देश और जगत् की सेवा करेगा और मेरे परिवार को चार चाँद लगाएगा। इस रूप में यदि उच्च भावना काम कर रही है तो आप इस उच्च भावना को कैसे अधर्म कहेंगे? मैं नहीं समझता कि वह अधर्म है।

जैनधर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में से मोह को दूर करने की बात कहता है, किन्तु उत्तरदायित्व को झटक कर फेंक देने की बात नहीं कहता। श्रावकों के लिए भी यही बात है और साधुओं के लिए भी यही बात है। साधु अपने शिष्य को किस भावना से पढ़ाता है? इसी भावना को लेकर न कि शिष्य अपने जीवन को उच्च बना सके, अपना कल्याण कर सके और संघ का भी कल्याण कर सके। इसी महान् आदर्श को सामने रख कर साधु अपने शिष्य को पढ़ाता

है; इस स्वार्थमयी भावना को लेकर नहीं कि मेरे पढ़ाने के बदले वह मेरे लिए आहार-पानी ला दिया करेगा और मेरी सेवा किया करेगा ! ऐसी क्षुद्र वृत्ति से अस्पृष्ट रह कर वह अपने शिष्य को गुरु बनने की कला सिखा रहा है तो भगवान् कहते है कि वह गुरु अपने लिए महत्त्वपूर्ण निर्जरा का मार्ग तलाश कर रहा है और कर्मों को खपा रहा है !

यों तो गुरु भी शिष्य के मोह में फँस जाता है, किन्तु जैन-धर्म उस मोह से बचने की बात कहता है, अपने उत्तरदायित्व को दूर फैंकने की बात नहीं कहता। बस, यही बात गृहस्थ के विषय में भी समझनी चहिए।

इस प्रकार आप जिस समाज में हैं, आपको जो समाज, राष्ट्र और देश मिला है, उसके प्रति सेवा की उच्च भावना अपने मन में रक्खो, अपने व्यक्तित्व को समाजमय और देशमय और अन्ततः प्राणिमय बना डालो। आज दे रहे हैं तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अन्दर में जो सौदेबाजी की वृत्ति है--स्वार्थ की वासना है--उसे निकाल फैंको और फिर विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना से निस्स्वार्थ-भावना से जो कुछ करोगे, वह सब धर्म बन जायगा। मैं समझता हूँ, समाजसुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नहीं हो सकता।

आप समाज-सुधार की बात करते हैं, किन्तु मैं कह चुका हूँ कि समाज नाम की कोई अलग चीज़ नहीं है। व्यक्ति और परिवार मिल कर ही समाज कहलाते हैं। अतएव समाजसुधार का अर्थ है-व्यक्तियों का और परिवारों का सुधार करना। पहले व्यक्ति को सुधारना पड़ेगा और फिर परिवार को सुधारना होगा। और जब अलग अलग व्यक्ति और परिवार सुधर जाते हैं तो फिर समाज स्वयमेव सुधर जाता है।

आप समाज को सुधारना चाहते हैं ? बड़ी अच्छी बात है। आपका उद्देश्य प्रशस्त है और आपकी इच्छा सराहनीय है। मगर यह तो बतला दीजिए कि आप समाज को नीचे से सुधारना चाहते हैं या ऊपर से ? पेड़ को हरा-भरा और सजीव बनाने के लिए पत्तों पर पानी छिड़क रहे हैं या जड़ में पानी दे रहे हैं ? अगर आप पत्तों पर पानी छिड़क कर पेड़ को हरा-भरा बनाना चाहते हैं तो आपका उद्देश्य पूरा नहीं होने का !

आज तक समाज-सुधार के लिए जो तैयारियाँ हुई हैं, वे ऊपर से सुधार करने की तैयारियाँ हुई हैं, अन्दर से सुधारने की नहीं। अन्दर से सुधार करने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति, जो चाहता है कि समाज की बुराइयाँ दूर हों सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन में से उन बुराइयों को दूर कर देना चाहिए। उसे गलत विचारों, मान्यताओं और गलत व्यवहारों से अपने आपको बचाना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में उन बुराइयों से मुक्त हो जाता है और उन गलतियों को ठुकरा देता है, तो एक दिन वे परिवार में से ठुकरा दी जाएँगी और फिर समाज में से भी ठुकरा दी जाएँगी।

इसके विपरीत कोई व्यक्ति सामाजिक बुराइयों को ठुकराने योग्य मानता है, समाज की रूढ़ियों को समाज के लिए राहु के समान समझता है, और उनसे मुक्ति पाने में ही समाज का कल्याण मानता है, किन्तु स्वयं उन बुराइयों और रूढ़ियों को ठुकराता नहीं, ठुकराने की हिम्मत करता नहीं है और चाहता है कि पहले दूसरे ठुकराएँ तो मैं भी ठुकराऊँ और अकेला मैं कैसे ठुकराऊँ; तो इस प्रकार की दुर्बलता से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। यह दुर्बल भावना समाज-सुधार के मार्ग का सब से बड़ा रोड़ा है।

आपके यहाँ विवाह संबंधी जो रीतियाँ आज प्रचलित हैं, वे किसी जमाने में सोच विचार कर चलाई गई थीं। और जब चलाई गई थीं, उससे पहले प्रचलित नहीं थीं। संभव है, आज जिन रीति-रिवाजों से आप चिपटे हुए है, वे जब प्रचलित किये गये होंगे तो उस समय के लोगों ने नयी चीज़ समझ कर इनका विरोध किया होगा, और इन्हें अमान्य किया होगा। किन्तु तत्कालीन दीर्घदृष्टि समाज के नायकों ने साहस करके इन्हें अपना लिया और फिर धीरे-धीरे यह रीति-रिवाज सर्वमान्य हो गये। उस समय इनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी। मगर प्रथम तो समाज के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे उन रीति-रिवाजों में बहुत विकार आ गये, दूसरे परिस्थितियों में भारी उलटफेर हो गया। मुख्यतया इन दो कारणों से उस समय के उपयोगी रीति-रिवाज आज के समाज के लिए अनुपयोगी हो गये हैं। इस प्रकार रीति-रिवाजों का जो हार किसी समय समाज के लिए अलंकार था, वह आज बेड़ी बन गया है। इन बेड़ियों से जकड़ा हुआ समाज आज तड़फ रहा है। और जब उनमें परिवर्तन करने की बात आती है तो लोग कहते है कि पहले समाज मान्य कर ले तो हम भी मान्य कर लें, समाज निर्णय कर दे तो हम भी अपना लें!

समाज-सुधार की बात चलती है तो कितने ही लोग कहते देखे जाते हैं–हमारे बड़ेरे क्या मूर्ख थे, जिन्होंने यह रिवाज चलाये?

निस्सन्देह अपने पूर्वजों के प्रति इस प्रकार आस्था का जो भाव है, वह स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा कहने वालों को अपने पूर्वजों के कृत्यों को भलीभाँति समझना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि उनके पूर्वज उनकी तरह परिस्थितिपूजक नहीं थे। उन्होंने परम्परागत रीतिरिवाजो में, अपने समय और अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुधार किये थे। उन्होंने सुधार न किया

होता और उन्होंने उन्हें ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रक्खा होता तो हमारे सामने यह रिवाज होते ही नहीं, जो आज प्रचलित हैं। फिर तो भगवान् ऋषभदेव के जमाने में जैसी विवाहप्रथा प्रचलित हुई थी, वैसी की वैसी आज भी प्रचलित होती। मगर यह बात नहीं है। काल के अप्रतिहत प्रवाह में बहते हुए समाज ने, समय-समय पर सैकड़ों परिवर्तन किये हैं। यह सब परिवर्तन करने वाले आपके पूर्वज ही थे। आपके पूर्वज स्थितिपालक नहीं थे। वे देश और काल को समझ कर अपने रीति-रिवाजों में परिवर्तन करना जानते थे और समय-समय पर परिवर्तन करते रहते थे। इसी कारण तो आपका समाज आज तक टिका हुआ है। सामयिक परिवर्तन के बिना समाज टिक नहीं सकता।

एक बात और बतला दीजिए। आपके बडेरे जो पोशाक पहनते थे वही पोशाक आप पहनते हैं? आपके पूर्वज जो व्यापार-धंधा करते थे, वही आप करते हैं? आपके पुरखा जहाँ रहते थे वहीं आप रहते हैं? आपका आहार-विहार अपने पूर्वजों के आहार-विहार के ही समान हैं? अगर इन सब बातों मे परिवर्तन कर लेने पर भी आप अपने पूर्वजों की अवगणना नहीं कर रहे हैं और उनके प्रति आपकी आस्था बरकरार है तो क्या कारण है कि सामाजिक रीति-रिवाजों में परिवर्तन कर लेने पर भी वह आस्था बरकरार नहीं रह सकती?

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि अगर आपकी आस्था अपने पूर्वजों के प्रति सच्ची है, तो आपको उनके चरण-चिह्नों पर चलना चाहिए, आपको उनका अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए। जैसे उन्होंने अपने समय में परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके समाज को जीवित रक्खा और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उसी प्रकार आपको भी परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके, आये

हुए विकारों को दूर करके, समाज को नवजीवन देना चाहिए और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए।

वह पुत्र किस काम का है जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, किन्तु जीवन मे उनके अच्छे कार्यों का अनुकरण नहीं करता! सपूत तो वह है जो पूर्वजों की भाँति, आगे आकर, समाज की कुरीतियों में सुधार करता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि दूसरे सुधार नहीं करते तो मैं कैसे करूँ! पूर्वजों ने इस प्रकार की कायरता नही दिखलाई थी तो मैं आज कायरता क्यों दिखलाऊँ!

आज सब जगह यही प्रश्न अटका हुआ है। प्रायः सभी यह सोचते रहते हैं और सारे भारत को इसी मनोवृत्ति ने घेर रक्खा है कि दूसरे कर दे और हम उपयोग कर लें। दूसरे तैयार कर दें और हम खा लिया करें। दूसरे कपड़े तैयार कर दें तो हम पहन लें! दूसरे सड़क बना दें तो हम चल लिया करें। स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते, प्रयत्न नहीं कर सकते और जीवन के संघर्ष में टक्कर नहीं ले सकते। अपना सहयोग दूसरों के साथ न जोड़ कर सब यही सोचते है कि दूसरे पहले कर लें तो मैं उसका उपयोग कर लूँ और उससे लाभ उठा लूँ।

आज समाज-सुधार की बातें चल रही हैं। जिन बातों का सुधार करना है, वे किसी जमाने में ठीक रही होंगी, किन्तु अब परिस्थिति पलट गई हे और वह बातें भी सड़-गल गई हैं और उनके कारण समाज बर्बाद हो रहा है, दर्द अनुभव कर रहा है, किन्तु जब उनमें सुधार करने का प्रश्न आता है तो कहा जाता है कि पहले समाज ठीक कर दे तो मैं ठीक कर लूँ, समाज रास्ता बना दे तो मैं चलने को तैयार हूँ। इस प्रकार किसी को आगे बढ़ कर पुरुषार्थ नहीं करना है।

जब तक मनुष्य सन्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नहीं त्याग देता, तब तक वह समाज-उत्थान के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य कभी समाज-सुधार के लिए नेतृत्व नहीं ग्रहण कर सकता।

काल के प्रवाह में बहते-बहते जो रिवाज सड़-गल गये हैं, उनके प्रति भी समाज को मोह हो जाता है। समाज सड़े-गले शरीर को भी छाती से चिपटा कर चलना चाहता है। अगर कोई चिकित्सक उस सड़े-गले हिस्से को अलग करना चाहता है, और समाज के दर्द को दूर करना चाहता है और ऐसा करके समाज के जीवन की रक्षा करना चाहता है तो समाज तिलमिला उठता है, चिकित्सक को गालियाँ देता है और उसका अपमान करता है। किन्तु उस समय समाज-सेवक का क्या कर्त्तव्य है? उसे यह नहीं सोचना है कि मैं जिस समाज की भलाई के लिए काम करता हूँ, वही समाज मेरा अपमान करता है तो मुझे क्यों इस झंझट में पड़ना चाहिए? मैं क्यों आगे आऊँ?

एक आचार्य कहते हैं कि जो तू चाहता है कि समाज में जागृति और क्रांति ला दूँ और तू चाहता है कि समाज के पुराने ढाँचे को तोड़ कर नया ढाँचा रच दूँ, तो आगे आने के लिए तुझे नक्कू बनना पड़ेगा और पहले पहल अपमान की चोट सहनी पड़ेगी। नहीं सहेगा तो आगे कैसे बढ़ेगा?

अपमानं पुरस्कृत्य, मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।

यदि तू समाज में क्रान्ति लाना चाहता है और समाज में नवीन जीवन पैदा करना चाहता है तो तू अपमान को देवता बना कर चल और यह समझ ले कि जहाँ भी जाऊँगा, मुझे अपमान का स्वागत करना पड़ेगा। तू सन्मान की ओर से पीठ फेर ले और

समझ ले कि 'सारी ज़िन्दगी सन्मान से तेरी भेंट नहीं होने वाली है। और यह भी कि मुझे ईसा की तरह शूली पर चढना होगा और फूलों की सेज पर बैठना मेरे भाग्य में नहीं बदा है। जब ऐसी लहर लेकर चलेगा तभी समाज का निर्माण कर सकेगा।

मनुष्य टूटी-फूटी चीज को जल्दी सुधार देता है उस पर रंग-रोगन करना होता है तो भी जल्दी कर देता है और सुन्दर सजा कर खड़ी कर देता है। दीवारों पर चित्र बनाने है तो सहज ही बनाये जा सकते है। एक कलाकार लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा लेता है और उसे काट-छाँट कर जल्दी रूप दे देता है। कलाकार के अन्तस्तल में जो भी भावना है, उसी को वह मूर्त्त रूप दे देता है। क्योंकि यह सब चीजे निर्जीव हैं और कर्त्ता का प्रतिरोध नहीं करती हैं, कर्त्ता की भावना के अनुरूप बनने में कोई हिचकिचाहट नहीं करती हैं।

किन्तु समाज ऐसा नहीं है। वह निर्जीव नहीं है, जागृत है, उसे पुरानी चीजों को पकड़ रखने का मोह है और हठ है। जब कोई भी समाज-सुधारक उसे सुन्दर रूप में बदलने के लिए चलता है तो समाज वह काठ की तरह चुपचाप नहीं बैठेगा कि कोई भी आरी चलाता रहे। समाज की ओर से विरोध होगा और सुधारक को उसका डटकर सामना करना पड़ेगा।'

सभा में बैठ कर प्रस्ताव पास कर लेने मात्र से भी समाज-सुधार होने वाला नहीं है। ऐसा होता तो कभी का हो गया होता। समाज सुधार के लिए तो समाज से लड़ना होगा, किन्तु वह लड़ाई क्रोध की नहीं, प्रेम की लड़ाई होगी।

डॉक्टर बच्चे के फोड़े को चीराफाड़ी करता है, तब बच्चा गालियाँ देता है और चीराफाड़ी न कराने के लिए अपनी सारी

शक्ति खर्च कर देता है, डॉक्टर उस पर क्रोध नहीं करता, दया करता है और मुस्करा कर अपना काम करता चला जाता है। जब बच्चे को आराम हो जाता है तो वह अपनी गालियों के लिए पश्चात्ताप करता है। सोचता है-उन्होंने तो मेरे आराम के लिए काम किया और मैं ने उन्हें गालियाँ दीं। यह मेरी कैसी नादानी थी!

इसी प्रकार समाज की किसी भी बुराई के मवाद को निकालने के लिए दवा करोगे तो समाज चिल्लाएगा और छटपटाएगा, किन्तु आपको समाज को बुरा-भला नहीं कहना है। आपको मुस्कराते हुए, सहज भाव से, चुपचाप; आगे बढ़ना है और उस हलाहल विष को भी अमृत के रूप में ग्रहण करके बढ़ना है। यदि समाज-सुधारक ऐसी भूमिका पर आ गया है तो वह आगे बढ़ सकेगा और कोई भी शक्ति उसे नहीं रोक सकेगी।

भगवान् महावीर बड़े क्रान्तिकारी थे। जब वे भारत में आये तब धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में और दूसरे-दूसरे क्षेत्रों में भी अनेक बुराइयाँ घुसी हुई थीं। उन्होंने अपनी साधना परिपूर्ण करने के पश्चात् धर्म और समाज में जबर्दस्त क्रान्ति की थी।

भगवान् ने जाति-पाँति के बन्धनों के विरुद्ध सिंहनाद किया और कहा कि मनुष्य मात्र एक ही जाति है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं है। लोगों ने कहा-यह नई बात कैसे कह रहे हो? हमारे वड़ेरे कोई मूर्ख नहीं थे। किन्तु भगवान् ने इस चिल्लाहट की परवाह नहीं की और वे कहते ही रहे—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

जाति नामक कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है। उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। उसमें जन्मतः ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं हो सकता।

फिर भगवान् ने कहा—तुम महिला-समाज को गुलामों की तरह देख रहे हो, किन्तु वे भी समाज का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उन्हें समाज में उचित स्थान नहीं दोगे तो समाज में समरसता नहीं आ सकेगी।

तब भी हजारों लोग चिल्लाए। कहने लगे--यह कहाँ से ले आए? स्त्रियाँ तो समाज-सेवा के लिए बनी हैं, उन्हें कोई ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता है।

मगर भगवान् ने शान्त-भाव से जनता को अपनी बात समझाई और अपने संघ में साध्वियों को वही स्थान दिया जो साधुओं को प्राप्त था और श्राविकाओं को भी उसी ऊँचाई पर पहुँचाया, जिस पर श्रावक आसीन थे। भगवान् ने किसी भी अधिकार से महिला-जाति को वंचित नहीं किया—सब क्षेत्रों में पुरुषों के ही समान सब अधिकार दिये।

यज्ञ के नाम पर हजारों पशुओं का बलिदान किया जा रहा था। पशुओं पर घोर अत्याचार था, घोर पाप था और समाज के पशुधन का कत्लेआम था। यज्ञों में हिंसा तो थी ही, किन्तु यज्ञों की बदौलत आर्थिक स्थिति भी डाँवाडोल हो रही थी। भगवान् ने इन हिंसात्मक यज्ञों का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया।

उस समय समाज की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में थी। राजा थे और वे क्षत्रिय थे और वही प्रजा पर शासन करते थे, किन्तु राजा पर शासन ब्राह्मण लोगों का था। इस रूप में उन्हें राजशक्ति भी प्राप्त थी और प्रजा के मानस पर भी उनका आधिपत्य था। वास्तव में ब्राह्मणों का उस समय बड़ा वर्चस्व था, और यज्ञों की बदौलत हजारों-लाखों ब्राह्मणों का पालन-पोषण होता था। ऐसी स्थिति में कल्पना की जा सकती है कि भगवान् महावीर के यज्ञविरोधी स्वर का कितना प्रचण्ड विरोध हुआ होगा! खेद है कि उस समय का कोई

सिलसिलेवार इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है, जिससे हम समझ सकें कि यज्ञों का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर को कितना संघर्ष करना पड़ा और क्या-क्या सहन करना पड़ा। फिर भी आज जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका डट कर विरोध किया गया और खूब बुरा-भला कहा गया। पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उन्हें नास्तिक और आसुरी प्रकृति वाला कहा गया और अनेक तिरस्कारपूर्ण शब्दों की भेंट चढ़ाई गई। उन पर समाज को भंग करने का दोषारोपण किया गया।

अभिप्राय यह है कि अपमान का उपहार तो तीर्थङ्करों को भी मिला है। ऐसी स्थिति में हम और आप चाहें कि हमें सब जगह सन्मान ही सन्मान मिले, तो यह कदापि होने वाला नहीं है। समाज-सुधारक का मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का मार्ग है। उसे सन्मान पाने की अभिलाषा त्याग कर अपमान का आलिंगन करने को तैयार होना होगा, उसे प्रशंसा की इच्छा छोड़कर निंदा का ज़हर पीना होगा, फिर भी शान्त और स्थिर भाव से सुधार के पथ पर चले चलना होगा।

समाज-सुधारक क़दम-क़दम चलेगा। वह आज एक सुधार करेगा तो कल दूसरा सुधार करेगा। पहले छोटे-छोटे टीले तोड़ेगा तो एक दिन हिमालय भी तोड़ देगा।

इस प्रकार नयी जागृति और साहसमयी भावना लेकर समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा और अपने जीवन को प्रशस्त बनाना पड़ेगा। ऐसा न हुआ तो समाज-सुधार की बातें भले हो जाएँ, समाज-सुधार नहीं होगा।

स्मरण रखिए, आज का समाज गालियाँ देगा किन्तु भविष्य का समाज 'समाजनिर्माता' के रूप में आपको स्मरण करेगा। आज

का समाज आपके सामने काँटे बिखेरेगा, परन्तु भविष्य का समाज श्रद्धा की अंजलियाँ भेंट करेगा। अतएव आप भविष्य की ओर निगाह रखकर और समाज के वास्तविक कल्याण का खयाल करके, अपने मूल केन्द्र को सुरक्षित रखते हुए, समाज-सुधार के प्रशस्त कार्य में जुट जाएँ। भविष्य आपका है।*

२२-१०-५०

* जैन नवयुवक मण्डल, ब्यावर द्वारा आयोजित 'समाज-सुधार' विषय पर किया गया प्रवचन।

: २ :

विद्यार्थी-जीवन

●

आज छात्रों के संबंध में कुछ कहना है। मगर देखता हूँ कि जो छात्र हैं और जिनके संबंध में आज मुझे कहना है, वे मेरे सामने नहीं हैं और वही पुराने साथी-प्रतिदिन के श्रोता-मेरे सामने अधिक संख्या में बैठे दिखाई देते हैं। किन्तु सिद्धान्त की बात यह है कि छात्र-जीवन का सबंध किसी उम्र-विशेष के साथ नहीं है। यह भी नहीं है कि जो किसी पाठशाला, विद्यालय या महाविद्यालय में नियमित रूप से पढ़ते हैं, वही छात्र कहलाएँ। मैं समझता हूँ कि जिसमें जिज्ञासावृत्ति वर्त्तमान है, जिसे कुछ भी नूतन जानने की इच्छा है, वह मनुष्य मात्र विद्यार्थी है, चाहे वह किसी भी उम्र का हो और किसी भी परिस्थिति में रहता हो। और यह जिज्ञासा की वृत्ति किसमें नहीं होती? जिसमें चेतना है, जीवन है, उसमें जिज्ञासा भी होती है, कम से कम होनी तो चाहिए ही। इस लिहाज़ से प्रत्येक मनुष्य, जन्म से लेकर मृत्यु की आखिरी घड़ी तक विद्यार्थी ही रहता है।

इस दृष्टिकोण से आपमें जो बड़े-बूढ़े हैं, वे यह न समझ लें कि हम विद्यार्थी की अवस्था को पार कर चुके हैं और आज जो कुछ कहा जा रहा है, उससे हमें कोई सरोकार नहीं है। अलबत्ता जिन्होंने अपने जीवन में सत्य का प्रकाश प्राप्त कर लिया है और जिनकी चेतना पूर्णता पर पहुँच चुकी है, आगम की वाणी में जिन्होंने सर्वज्ञता पा ली है, वे विद्यार्थी न रह कर विद्याधिपति हो जाते हैं। उन्हें आगम में 'स्नातक' कहते हैं। और जिन्होंने शास्त्रोक्त इस स्नातक दशा को प्राप्त नहीं कर पाया है, भले किसी विश्वविद्यालय के स्नातक हो चुके हों, वास्तव में विद्यार्थी ही हैं।

इस दृष्टि से मनुष्य मात्र विद्यार्थी है और उसे विद्यार्थी बनकर ही रहना चाहिए। इसी में जीवन का विकास है।

अपने जीवन में मनुष्य विद्यार्थी ही है और साथ ही मनुष्य ही विद्यार्थी है। आप जानते हैं कि नरक और स्वर्ग में पाठशालाएँ नहीं हैं। और पशुयोनि में हजारों जातियाँ हैं, मगर उनके लिए भी कोई स्कूल नहीं खोले गये हैं। आम तौर पर पशुओं में तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं होती और जीवन को समझने की भी कोई लगन नहीं देखी जाती।

तो एक तरफ सारा संसार है और एक तरफ मनुष्य है। जब हम इस विराट संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो जगह-जगह मनुष्य की छाप लगी हुई दिखाई देती है और जान पड़ता है कि मनुष्य ने ही संसार को इतनी विराटता प्रदान की है।

मनुष्य ने संसार को जो विराट रूप प्रदान किया, उसके मूल में उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य में ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही उँचाई पर रहते हों, उनको भी विद्यार्थी

का महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त नहीं है। नरक योनि में भी नहीं है और हमारे पड़ौसी जो पशु-पक्षी हैं, उनमें भी यह पद नहीं है। यह तो मनुष्य ही है जो विचार और प्रकाश लेने को आगे बढ़ा है और जिसने अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोले हैं और जो दूसरों से रोशनी लेने और देने के लिए आगे बढ़ा है।

तो मनुष्य का जो मस्तिष्क है, वह एक विराट मस्तिष्क है और वह केवल हड्डियों का ढाँचा ही नहीं है जो सिर के रूप में खड़ा हो गया है। वह केवल शरीर को ऊँचा बनाने के लिए नहीं है, उसमें देने को भी बहुत कुछ भरा है।

आप देखें और सोचें कि कर्मभूमि के प्रारंभ में, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारंभ हुआ, तब मनुष्य को क्या मिला था? भगवान् ऋषभदेव के समय में उसको केवल बड़े-बड़े मैदान, लम्बी-चौड़ी ज़मीन और नदी-नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोंपड़ी भी नहीं थी और वस्त्र के नाम पर एक धागा भी नहीं था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक भी दाना था, न बरतन थे, न चूल्हा था, न चक्की थी। कुछ भी तो नहीं था। मतलब यह कि एक तरफ मनुष्य खड़ा था और दूसरी तरफ सृष्टि थी, पर वह मौन और चुप थी! ज़मीन भी मौन थी।

उसके बाद इतना विराट संसार खड़ा हुआ और नगर बस गए और मनुष्य ने नियंत्रण कायम किया और उत्पादन किया। मनुष्य ने स्वयं खाया और खिलाया। स्वयं के तन ढँके और दूसरों के तन ढाँके। और उसने दुनिया में ही तैयारी नहीं की, किन्तु उससे आगे का भी मार्ग तय किया और अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य की बातें खड़ी हो गईं और विराट चिन्तन हमारे सामने आ गया।

मगर उस समय क्या था ? युगलियों के काल में मनुष्य पृथ्वी पर पशुओं की भाँति घूम रहा था। उसके मन में न इस दुनिया को और न अगली दुनिया को बनाने का प्रश्न था। वह न यहाँ के लिए कोई तैयारी कर रहा था। फिर यह सब कहाँ से आया ? उसने नई सृष्टि बनाकर खड़ी कर दी, वह युगों तक प्रकृति के साथ संघर्ष करता रहा और एक दिन उसने प्रकृति और भूमि पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

मनुष्य को बाहर की प्रकृति से ही नहीं, अन्दर की प्रकृति से भी लड़ना पड़ा, अर्थात् अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वासनाओं से भी लड़ना पड़ा। उसने हृदय को भी खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यह हमारे कल्याण का और यह अकल्याण का मार्ग है और यह हमारे जीवन में तथा राष्ट्र के जीवन में क्या उपयोगी है ?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेषण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेषण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक और स्वर्ग बन रहे हैं ? बन्धन खुल रहे हैं या बँध रहे हैं ? हम इस रूप में संसार में आये हैं, तो अपने जीवन को अच्छा बना कर लौटेंगे या खराब बना कर ?

इस प्रकार बहिर्जगत् का और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया; वह कहाँ से आया ? वह सब मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही सारी धाराएँ फूटी हैं। यह अलङ्कार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र आदि-आदि मानवीय-मस्तिष्क से ही निकले हैं। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते हैं, सभी कुछ मनुष्य के ही मस्तिष्क की देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है

और खोज करता है और सोचता है कि मुझे जीवन की धाराएँ मिली हैं, उनमें से संसार को क्या देना है और संसार से क्या लेना है?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर बढ़ता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। मगर यह सब तभी संभव हुआ जब कि वह प्रकृति की पाठशाला में एक नम्र विद्यार्थी होकर दाखिल हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जब तक विद्यार्थी रहेगा, तब तक उसका विकास बराबर होता रहेगा।

अक्षरों की शिक्षा ही सब कुछ नहीं है। कोरी अक्षर-शिक्षा से जीवन का विकास नहीं हो सकता। जब तक अपने और दूसरे के जीवन का अच्छा अध्ययन नहीं है, पैनी बुद्धि नहीं है, समाज और राष्ट्र की गुत्थियों को सुलझाने की और अमीरी तथा गरीबी के प्रश्न को हल करने की क्षमता नहीं आई है, तब तक शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है। केवल पढ़ लेने का अर्थ शिक्षा नहीं है। एक आचार्य ने कहा है:—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।

बड़े-बड़े पोथे पढ़ने वाले भी मूर्ख होते हैं। जिसने शास्त्र घोट-घोट कर कंठस्थ कर लिये हैं किन्तु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की बुद्धि नहीं पाई है, उसके शास्त्र चिन्तन और रटन का कोई अर्थ नहीं है। कहा है—

जहा खरो चंदण-भारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स।

—आवश्यक निर्युक्ति।

गधे की पीठ पर चन्दन की बोरियाँ भर-भर कर लाद दी गईं और काफी वजन लाद दिया गया, तो भी उस गधे के भाग्य में क्या है ? जो बोरियाँ लद रही हैं वे उसके लिए क्या हैं ? उसकी तक़दीर में तो बोझ ढोना ही बदा है। उसके ऊपर चाहे मिट्टी और लकड़ियाँ लाद दी जाएँ या हीरे और जवाहरात लाद दिये जाएँ, वह तो वज़न ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्त्व और मूल्य उसके भाग्य में नहीं है।

तो आचार्य ने कहा है—कुछ लोग शास्त्रों को और विद्याओं को, फिर चाहे वह इस लोक-संबंधी हों या परलोक-संबधी हों, भौतिक विद्याएँ हों या आध्यात्मिक विद्याएँ हों, अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे हैं, वे केवल उस गधे की तरह भार ढोने वाले ही हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की फक्किकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है ? उसके जीवन में तो बिन्दियाँ ही हैं ! क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है ? वह ज्ञान ही क्या और वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो ! जो संसार की बेड़ियाँ न तोड़ सकती हो ! ऐसी विद्या वन्ध्या है, ज्ञान निष्फल है और शिक्षा तोतारटत के सिवाय और कुछ भी नहीं है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए कहा है—

'सा विद्या या विमुक्तये।'

विद्या वही है जो हमें संसार से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमें स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनों को तोड़ देने वाली हो।

मुक्ति का अर्थ है-स्वतन्त्रता। समाज की कुरूढ़ियों, कुसस्कारों, अंधविश्वासों, गलतफ़हमियों और वहमों से, जिससे वह जकड़ा हो, छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

आज के अधिकांश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बन्धनों में पड़े हैं, फिर भी फैशन की फाँसी उनके गले में लगी हुई है। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूँ क्या तुम्हारी विद्या ने इन बंधनों को तोड़ा है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों की दीवार को तोड़ने को तैयार है? अगर तुम अपने बन्धनों को ही तोड़ने में समर्थ नहीं हो तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनों को तोड़ने में कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनों को तोड़ने का सामर्थ्य प्राप्त करो तो राष्ट्र की भी जंजीरें तोड़ने में समर्थ हो सकोगे और समाज के भी बन्धनों को काटने के लिए शक्तिमान् हो सकोगे। और यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों को भी तोड़ने में समर्थ नहीं है, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है और उसका फल तुम्हें नहीं मिल रहा है।

और यदि तुमने अध्ययन करके चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या सीखी है; तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नहीं पाई, कुशिक्षा पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक हानिकारक होती है। कभी-कभी पढ़े-लिखे आदमी ज्यादा मक्कारियाँ सीख लेते हैं। मगर उनकी शिक्षा, शिक्षा नहीं है, वह कला, कला नहीं है, वह तो धोकेदेही है और अपने जीवन को बर्बाद कर देने की युक्ति है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है? अज्ञान को दूर करने के लिए शिक्षा प्राप्त की जाती है। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ मौजूद हैं और जो दबी हुई पड़ी हैं, उन्हें प्रकाश में लाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। मगर इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शक्तियों के विकास में शिक्षा की सफलता नहीं है, किन्तु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण में

प्रयुक्त होती हैं, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे हैं कि दिमाग की शक्ति का विकास हो जाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। मगर यह समझ अधूरी है। मनुष्य के दिमाग के साथ, दिल का और देह का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और वह विकास अपनी और अपने समाज एवं देश की भलाई के काम आना चाहिए। तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है।

जो छात्र प्रारंभ से ही अपने इस लक्ष्य का ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है और वही आगे जाकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। बड़ी से बड़ी पदवियाँ उनके चरणों में आकर लोटती हैं। प्रतिष्ठा उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़ी रहती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं।

परन्तु यह सब होता है तभी, जब विद्याध्ययन-काल से ही विद्यार्थी अपने लक्ष्य को समझे, उस पर चलने का प्रयत्न निरन्तर करता रहे और पूरी तरह सावधान रहे। ऐसा करने पर ही भविष्य में उसकी विद्या सुफलदायिनी होती है।

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ पौधा है। उसे प्रारंभ से ही सार-सँभाल कर रक्खा जाय तो वह विकसित हो सकता है। बड़ा होने पर उस पौधे को सुन्दर बनाना माली के हाथ की बात नहीं है। आपने देखा होगा—घड़ा जब तक कच्चा होता है, तब तक कुम्भार उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा, बना सकता है। किन्तु वही घड़ा जब आपाक में पक जाता है, तब कुम्भार की ताकत नहीं कि वह उसे छोटा या बड़ा बना सके, उसकी आकृति में कोई परिवतन कर सके या दूसरे रूप में ढाल सके।

यही बात छात्रों के संबंध में है। माता-पिता चाहें तो प्रारंभ से ही बालकों को सुन्दर शिक्षा और संस्कारों के वातावरण में रखकर उन्हें होनहार नागरिक बना सकते हैं। माता-पिता अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चों का जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना है। चाहें तो उसे बिगाड़ सकते हैं और चाहें तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतों को बनाना उन्हीं के हाथ में है।

दुर्भाग्य से आज इस देश में चारों ओर घृणा, द्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता-पिता कहलाने वालों में भी यह दुर्गुण भरे पड़े हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों में सुन्दर संस्कारों का आरोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि हमारी जिम्मेवारी केवल सन्तान को उत्पन्न करने में ही पूर्ण नहीं हो जाती। सन्तान उत्पन्न करने पर तो जिम्मेवारी आरंभ होती है और जब तक सन्तान को सुशिक्षित एवं सुसंस्कारसम्पन्न नहीं बना दिया जाता, तब तक वह पूरी नहीं होती।

आज, जब कि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रों के जीवन का निर्माण करने की बड़ी आवश्यकता है। छात्रों का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, न केवल शाला में ही। बालक घर में संस्कार और शाला में शिक्षा ग्रहण करता है। दोनों उसके जीवन निर्माण के स्थल हैं। अतएव यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि घर और शाला में आपस में सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनों जगह का वायुमण्डल एक दूसरे का पूरक और समर्थक होना चाहिए।

आज घर और शाला में कोई सम्पर्क नहीं है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे उसके घर के

वातावरण की कल्पना उसे नहीं होती। और माता-पिता प्रायः शाला से अनभिज्ञ होते हैं। शाला में जाकर बालक क्या सीखता है और क्या करता है, और कितने माँ-बाप ध्यान देते है? बालक स्कूल चला गया और माता-पिता को छुट्टी मिल गई! फिर चाहे वह वहाँ जाकर कुछ भी करे और कुछ भी सीखे, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है! यह परिस्थिति बालक के जीवन-निर्माण में बहुत बाधक होती है।

घर और शाला के वायुमण्डल में भी अकसर विरूपता देखी जाती है। शाला में बालक नीति की शिक्षा लेता है और सचाई का पाठ पढ़कर आता है। वह जब घर आता है या दुकान पर जाता है तो वहाँ असत्य का साम्राज्य देखता है। बात-बात मे माता-पिता असत्य का प्रयोग करते हैं। शिक्षक सत्य बोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य बोलने का सबक सिखलाते हैं। इस तरह के परस्पर विरोधी वातावरण में पड कर बालक लड़खड़ाने लगता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे शिक्षक के बताये मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता-पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना चाहिए? कुछ समय तक उसके अन्तःकरण में संघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक नतीजा निकाल लेता है। नतीजा यह कि सत्य बोलने की बात कहना चाहिए, पर जीवन-व्यवहार में असत्य का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार का नतीजा निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन में विरूपता आ जाती है। वह नीति की बातें कहता है और अनीति की राह पर चलता है।

तो माता-पिता यदि बालक मे नैतिकता चाहते हैं तो उन्हें अपने घर को भी शाला का रूप देना चाहिए। बालक शाला से जो सबक सीख कर आवे, घर उसके प्रयोग की भूमि बन जाएगा, तो

उसका जीवन भीतर-बाहर से एकरूप बनेगा और उसमें उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। वह अपनी ज़िंदगी को शानदार बना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कहीं भी रहेगा, आगे अपने देश का, अपने समाज का और अपने माता-पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नहीं करेगा, देश के लिए भार और कलङ्क नहीं बनेगा; बल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर को ऊँचाई पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को पवित्र बनाएगा।

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क में बहुत अन्तर पड़ जाता है। विद्यार्थी पढ़-लिख कर एक नये जीवन में प्रवेश करता है, एक नया कम्पन लेकर आता है, अपने भविष्यत् जीवन को अपने ढग से बिताने के मंसूबे बाँध कर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता है। परन्तु उसके माता-पिता पुराने दिमाग के होते हैं। पिता रहते हैं दुकान पर। उन्हें लड़के की जिज्ञासा का पता नहीं चलता और न वे उस ओर ध्यान ही देते हैं। वे संसार की ओर सोचने के लिए अपने मस्तिष्क को बन्द कर लेते हैं। पर जो नया खिलाडी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देख कर पिता से सघर्ष करता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेंगे, जहां पिता-पुत्र के बीच आपसी सघर्ष चलते रहते हैं। पुत्र अपनी आकांक्षाएँ पूरी होते न देख कर जीवन से हताश हो जाता है और कभी कभी चुपके से घर छोड़ कर भाग जाता है। आये दिन अखबारों में 'गुमशुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत कुछ इसी संघर्ष का परिणाम है। कभी-कभी आवेश में आकर आत्मघात करने की नौबत आ पहुँचती है। ऐसी अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं।

दुर्भाग्य की बात समझिए कि भारत में पिता-पुत्र के संघर्ष ने गहरी जड़ जमा ली है।

इस अवसर पर, मैं माता-पिताओं से कहना चाहता हूँ कि युग पलटता जा रहा है और दुनिया बड़ी तेज रफ्तार से आगे बढ़ रही है। आप इस रफ्तार को पहचानें। आप जहाँ हैं, वहीं अपनी सन्तान को रखने की आपकी चेष्टा निष्फल होगी। ऐसा करने मे आपका और आपकी सन्तान का कोई हित भी नहीं है, अहित भले ही हो सकता है। अतएव आप उसे अपने विचारों में बांध कर रखने का प्रयत्न न कीजिए। उसे युग के साथ चलने दीजिए। इस बात की सावधानी जरूर रखिए कि वह अनीति की राह पर न चला जाय; मगर उसके पैरों में बेड़ियाँ डालने की कोशिश न कीजिए। उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दीजिए और अपना रास्ता आप बनाने का प्रयत्न करने दीजिए।

मैं बालकों से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता-पिता की मानसिक भूमिका को समझें और अपने सुन्दर और शुभ विचारों पर दृढ़ रहते हुए भी, नम्रतापूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करें। वे अपने पथ का परित्याग न करें और साथ ही माता-पिता को भी व्यथा न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त में उनकी विजय ही होगी।

बहुत ही माता-पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रों से लड़-झगड़ कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लड़कियों के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। लड़कियों का जीवन तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है!

इस प्रकार समाज में जब होनहार युवकों के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है।

उनको अपने माता-पिता से जीवन बनाने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती। माता-पिता उलटे उनके मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। उन्हें रोजमर्रा की चक्की-व्यापार में जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवकों को पैसा बनाने की मशीन बना देते हैं, जीवन बनाने की ओर कतई ध्यान नहीं दिया जाता।

देश के हजारों नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घड़ियों को खोकर केवल पैसे कमाने की कला में लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नहीं रहते।

लेकिन छात्रों को अपने संबंध किसी से तोड़ने नहीं हैं, सबके साथ जोड़ने हैं। हमें जोडना सीखना है, तोडना नहीं। तोड़ना आसान है, पर जोड़ना कठिन है। जो मनुष्य हर एक से जोड़ने की कला सीख जाता है, वह जीवन संग्राम में कभी हार नहीं खाता। वह विजयी होकर ही लौटता है।

सेनापति रहीम खानखाना ने अपनी सेना के सामने कहा था—

"मेरा काम तोड़ना नहीं, जोड़ना है। मै तो सोने का घड़ा हूँ, टूटने पर सौ बार जुड़ जाऊँगा। मैं जीवन में चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड़ गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घड़ा नहीं हूँ, जो एक बार टूटने पर फिर कभी जुड़ता ही नहीं। मैंने अपनी जिन्दगी में जुड़ना सीखा है।"

उसकी इस बात का उसकी सेना पर काफी प्रभाव पड़ा। उसकी सेना में कभी फूट नहीं होती थी।

तो छात्रों को सोने के घड़े की तरह, माता-पिता के द्वारा चोट पहुँचने पर टूट कर भी जुड़ जाना चाहिए।

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एक बार थोड़ी-सी असफलता होने पर निराश हो जाता है। वह एक बार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। मगर जीवन में सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले और कभी असफलता का मुँह न देखना पडे, यह संभव नहीं और सचाई तो यह है कि असफलता से टकराने के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह अगर असफलता का भी स्वागत नहीं कर सकते, तो कम से कम उससे हताश तो न होओ। असफल होने पर मन में धैर्य की मजबूत गांठ बाँध लो, घबराओ मत। असफलता होने पर घबराना पतन का चिह्न है और धैर्य रखना, उत्साह रखना उत्थान का चिह्न है। उत्साह सिद्धि का बीज है। छात्रों को असफलता होने पर भी गेंद की तरह उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साह होकर अपना काम छोड़ नहीं बैठना चाहिए।

अभी एक-दो दिन पहले अखबार में समाचार प्रकाशित हुए थे कि अमुक छात्र ने परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या कर ली! इस तरह आत्महत्या करने की खबरें आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। बम्बई में भी कई छात्र अनुत्तीर्ण होने पर समुद्र में डूब कर मर गए। अतएव इस वर्ष परीक्षाफल सुनाने के समय, सरकार की ओर से समुद्र तट पर कड़ा पहरा लगा दिया गया है, ताकि कोई भी छात्र डूब मर आत्महत्या न कर ले।

विद्यार्थियों के लिए यह बड़े कलंक की बात समझी जानी चाहिए। चढ़ती हुई जवानी में, जब मनुष्य उत्साह और वीर्य का पुतला होना चाहिए, उसमें असंभव को भी संभव कर दिखाने का हौसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के तारे

तोड़ लाने का साहस होना चाहिए, बड़ी से बड़ी कठिनाई को भी पार कर जाने की हिम्मत होनी चाहिए, तब वे परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने मात्र से इतने हताश हो जाएँ, यह उन्हें शोभा नहीं देता। छात्रों में इस प्रकार की दुर्बलता होना राष्ट्र के लिए भी चिन्ता की बात है।

आज छात्रों के मन में इतनी दुर्बलता आने का प्रधान कारण उनके अभिभावकों की भूल है। वे महल तो तैयार करना चाहते हैं, पर उसमें सीढ़ी नहीं लगाना चाहते। और बिना सीढ़ी के महल का क्या हो? ऐसे महल में रहना कौन पसन्द करेगा? माता-पिता प्रारंभिक संस्कार-सीढ़ियाँ नहीं बनने देते और उन्हें पैसा कमाने के गोरखधंधे में डाल देने की ही धुन में रहते हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कहानी लिखी है:—

एक सेठ ने एक बड़ा इंजीनियर रख कर बड़ा महल बनवाया। लोग सेठ के महल को देखने आये। पहली मंजिल बड़ी शानदार बनी थी। उसे देखभाल कर वे दूसरी मंजिल पर जाने लगे तो सीढ़ियाँ नहीं मिलीं। इधर देखा, उधर देखा, परन्तु सीढ़ियों का कहीं पता न चला। आखिरकार वे सेठ को कोसने लगे—सेठजी यह क्या तावूत खड़ा किया है! ऊपर की मंजिल में जाने के लिए तो सीढ़ियाँ ही नहीं बनवाई हैं। आप इसमें कैसे रहेंगे? ऊपर की मंजिल क्या काम आएगी? लोगों की आलोचना सुनकर सेठजी पश्चात्ताप करने लगे।

कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त सेठ की तरह इंजीनियर रूपी शिक्षक लगाकर माता-पिता छात्र-महल तो खड़ा कर लेते हैं और वह बड़ा शानदार दिखाई देता है, परन्तु उसमें संस्कारों की सीढ़ियाँ नहीं मिलतीं। इस कारण वह महल निरुपयोगी हो जाता

है और सूना पड़ा-पड़ा खराब हो जाता है। संस्कारों के अभाव में वह जिन्दगी बर्बाद हो जाती है। ऐसे छात्र छोटी-छोटी बात पर माता-पिता को धमकी देकर घर से निकल भागते हैं।

लड़कों की आत्महत्या का और उनके फरार होने का उत्तर-दायित्व बहिनों पर भी कम नहीं है। वे पहले तो लड़के को लाड़-प्यार करके मुँह चढ़ा लेती हैं, उसे बिगाड़ देती हैं, उसे उच्छृंखल हो जाने देती हैं, और जब वह बड़ा होता है तो उसकी इच्छाओं पर कठिन प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। जब लड़का अपने चिरपरिचित वातावरण और व्यवहार से विरुद्ध व्यवहार देखता है तो उसे सहन नहीं कर पाता और फिर न करने योग्य काम कर बैठता है।

कारण कुछ भी हो और कोई भी हो, फिर भी हमारे नवयुवकों की यह दुर्बलता उनके लिए कलंक की ही बात है। नवयुवक को तो प्रत्येक परिस्थिति का दृढ़ता और साहस के साथ मुकाबिला करना चाहिए। उसे प्रतिकूलताओं से जूझना चाहिए, असफलताओं से लड़ना चाहिए, विरोध के साथ संघर्ष करना चाहिए, कठिनाइयों को कुचल डालने के लिए तैयार रहना चाहिए और बाधाओं को उखाड़ फैंकने की हिम्मत करनी चाहिए। उसे कायरता नहीं सोहती। दुर्बलता उसके पास नहीं फटकनी चाहिए। आत्मघात का विचार मर्दों को नहीं हो सकता, वह अतिशय नामर्दों, कायरों और बुज-दिलों का मार्ग है।

किसी भी प्रकार की असफलता के कारण जीवन से ऊब जाना अपने शौर्य का, अपने वीर्य का, अपने पराक्रम का और अपनी आत्मा का अपमान करना है।

एक आचार्य कहते हैं:—

'नात्मानमवमन्येत् ।'

अर्थात्—अपनी आत्मा का अपमान मत करो ।

तुम्हें मनुष्य की जिन्दगी मिली है तो उसका सदुपयोग करो । अगर तुम्हें देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना है तो जीवन में प्रारम्भ से ही ऊँचे संस्कार डालो । अच्छे संस्कार पोथियाँ पढ़ने से नहीं, सत्संगति से ही प्राप्त होते हैं । अतएव पढ़ने-लिखने से जो समय बचे, उसे भले आदमियों और सन्तों के समागम में बिताओ ।

आजकल अधिकांश विद्यार्थियों का संध्या का समय प्रायः चलचित्र देखने में व्यतीत होता है । चारों ओर आज सिनेमाओं की धूम मची है । स्वीकार करना चाहिए कि सिनेमा से लाभ भी उठाया जा सकता है, परन्तु हमारे यहाँ जो फिल्में आजकल बन रही हैं, वे जनता को लाभ पहुँचाने के लिए नहीं हैं । उनसे समाज में बहुत बुराइयाँ फैली हैं और फैल रही हैं । अकसर प्रेम के किस्से और कुरुचिपूर्ण गायन और प्रदर्शन बालकों के दिमाग में जहर भरने का काम कर रहे हैं । छोटे-छोटे नासमझ बालक और नवयुवक इन चित्रों को देखकर जितने बिगड़ते हैं, उतने शायद किसी दूसरे तरीके से नहीं बिगड़ रहे हैं ।

यूरोप आदि देशों में, बालकों की विविध विषयों की शिक्षा के लिए चलचित्रों का उपयोग किया जाता है । वहाँ के समाज ने इस कला का सदुपयोग किया है । परन्तु हमारे यहाँ इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है । खेद है कि स्वतन्त्र भारत की सरकार भी, जिससे इस विषय में सुधार की आशा करना स्वाभाविक था, इस ओर कोई कदम नहीं उठा रही है ।

सरकार इधर ध्यान नहीं दे रही है और फिल्मनिर्माता अपना उल्लू सीधा करने में लगे हैं। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में हम नवयुवकों से ही कहेंगे कि वे पैसे देकर बुराइयाँ न खरीदें। अपने जीवन-निर्माण के इस स्वर्णकाल को सिनेमा देख-देखकर और उनसे कुसंस्कार लेकर सत्यानाश न करें।

विद्यार्थी सब प्रकार के कुव्यसनों से बचकर अध्ययन-चिन्तन-मनन में ही अपने समय का सदुपयोग करें, नियमित बनने का प्रयास करें। समय को व्यर्थ नष्ट न करें। इसी में उनका कल्याण है।

असफलताओं से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग है। तुम्हारा चेहरा विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चाहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हें हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द-से, डरपोक-से और उदास-से दिखाई देते हो? क्या पशुओं को कभी हँसते देखा है? मनुष्य को ही, प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हें चलना है, रुकना नहीं है।

तुम्हारी मंजिल अभी दूर है। उस तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस और धैर्य रक्खो और आगे बढ़ते जाओ। नम्रता रखकर, विनयभाव रख कर और संयम रख कर चलो। अपने हृदय में कलुषित भवनाओं को प्रवेश मत करने दो। क्षण भर के लिए भी हीनता का भाव मत लाओ। अपने महत्त्व को समझो। तुम देश के दीपक हो, जाति के आधार हो और समाज के निर्माता हो। विश्व का भविष्य तुम्हारे हाथों में है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का

महान् कार्य तुमको ही करना है। तुम महान् हो और मानव जाति के मंगल के लिए तुम्हें अथक श्रम करना है। विद्यार्थी-जीवन तुम्हारी तैयारी का जीवन है।

हे विद्यार्थी! तू अपने विराट जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रह। कोटि-कोटि नेत्र आशा लिये तेरी ओर ताक रहे हैं। तुझे अपने जीवन में मनुष्य जाति के लिए मंगल का अभिनव द्वार खोलना है। यही समझ कर तू अपने जीवन का निर्माण कर। तेरा कल्याण हो! तेरी आशाएँ सफल हों। २९-१०-५३

: २ :

महिला-जीवन

●

वहिनों पर समाज का बड़ा उत्तरदायित्व है। उन पर परिवार का और धर्म का भी उत्तरदायित्व है। आज तक के इतिहास पर और लाखों वर्षों के इतिहास पर निगाह डालते हैं तो मालूम होता है कि उनके कदम सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में कभी पीछे नहीं रहे हैं, बल्कि आगे ही रहे हैं। हम तीर्थङ्करों के जीवन पढ़ते हैं तो पता चलता है कि उन महापुरुषों का साथ देने के लिए और उनकी वाणी का अनुसरण करने के लिए और उस पावन वाणी को अपने जीवन में उतारने के लिए, अधिक संख्या में, शक्ति के रूप में, बहिनें ही आगे आती रही हैं।

दूसरे तीर्थङ्करों की बातें शायद आपके ध्यान में न हों, किन्तु चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का इतिहास तो आपको विदित ही होना चाहिए। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में चारों तीर्थ स्थापित हो गये और उन्हें एक संघ का रूप दिया गया। शास्त्रों में चारों तीर्थों की संख्या का उल्लेख मिलता है और उस इतिहास

को हम बराबर २५०० वर्षों से दोहराते आ रहे हैं। वह इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान् महावीर के शासन में चौदह हजार साधु थे तो छत्तीस हजार साध्वियाँ थीं! साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या में कितना अन्तर है! अढ़ाई गुनी से भी ज्यादा यह संख्या है।

यह ठीक है कि पुरुषवर्ग में से भी साधु आये, और यह भी सही है कि पहले वे बड़े ऐश्वर्यशाली और धनपति थे और सुन्दर से सुन्दर भोग-विलासों में उनका जीवन गुज़र रहा था। भगवान् महावीर की वाणी उनके कानों में पड़ी तो वे महलों से नीचे उतर आये।

और बड़े-बड़े विद्वान् भी, जो उस समय समाज का नेतृत्व कर रहे थे, भिक्षु के रूप में दीक्षित हुए और उन्होंने महान् होते हुए भी जनता के एक छोटे-सेवक के रूप में जनता की सेवा की।

यह सब होते हुए भी जरा संख्या पर तो ध्यान दीजिए। कहाँ चौदह हजार और कहाँ छत्तीस हजार!

कहना चाहिए कि भगवान् की वाणी के अमृत का रस, सब से ज्यादा उन बहिनों ने ही ग्रहण किया जो सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई थीं और हम जिन्हें अज्ञान और अंधकार में रहने की आदी कहते चले जा रहे थे। वास्तव में वह शक्तियाँ दबी हुई थीं और ज्यों ही उन्हें उभरने का अवसर मिला और भगवान् की वाणी का प्रकाश मिला, त्यों ही वे बहुत बड़ी संख्या में कांटों की राह पर आ गईं। जिनका जीवन महलों में गुजरा था, जिनके एक इशारे पर हजारों दास और दासियाँ नाचने को तैयार खड़े रहते थे, जिन्होंने अपने जीवन में कभी सर्दी या गर्मी बर्दाश्त नहीं की थी, जिनका जीवन फूलों की सेज पर गुज़रा था, उन देवियों के मन में जब

वैराग्य की लहर उठी तो वे घर और संसार की विपत्तियों से टक्करें लेती हुई, भयानक से भयानक सर्दी, गर्मी और वर्षा की अवगणना करती हुईं भिक्षुणी बनकर विचरने लगीं। उनका शरीर फूल के समान सुकुमार था, जो हवा के झोंके से भी मुरझा सकता था, किन्तु हम देखते हैं कि वे वही देवियाँ भीषण गर्मी और कड़कड़ाती हुई सर्दी के दिनों में भी भगवान् महावीर का मंगलमय सन्देश लिये घूमती हैं। जिनके हाथों ने देना ही देना जाना था, आज वही राजरानियाँ अपनी प्रजा के सामने, यहाँ तक कि झोंपड़ियों में भी भिक्षा के लिए घूमती हैं और भगवान् महावीर की वाणी का अमृत बाँटती फिरती हैं।

और मैं समझता हूँ कि जब शक्तियाँ जाग उठती हैं तो यह नहीं होता कि कौन पीछे रहा है और कौन आगे गया है। कभी आगे रहने वाले पीछे रह जाते हैं और कभी पीछे रहने वाले भी आगे बढ़ जाते हैं।

श्रावकों की संख्या पर विचार करते हैं तो यही बात याद आ जाती है। आप श्रावकों का जीवन कठोर जीवन रहा है, किन्तु आपकी संख्या १५६ हजार ही रही, किन्तु श्राविकाओं की संख्या तीन लाख से भी उपर पहुँच गई।

इसका अर्थ यह है कि हमारी श्राविका बहिनों का भी इतिहास बड़ा तेजोमय रहा है। आज वह इतिहास धुंधला पड़ गया है और हम उसे भूल गये हैं। आज बहिनें अँधेरी कोठरी में रह रही हैं और उन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिल रहा है। किन्तु अढ़ाई हजार वर्ष पहले के युग को देखते हैं तो विदित होता है कि चौदह हजार की तुलना में छत्तीस हजार और १५६ हजार की तुलना में ३१८००० बहिनें श्राविकाओं के रूप में सामने आ जाती हैं।

बहुत-सी बहिनें ऐसी भी थीं, जिनके पति दूसरे धर्मों को मानने वाले थे। उन्होंने अपने जीवन को नहीं बदला था। किन्तु उन बहिनों ने इस बात की परवाह नहीं की और उन्होंने अपना जीवन बदल डाला और वे सत्य की राह पर आ गईं। ऐसा करने में उन्हें बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़े, भयानक यातनाएँ भुगतनी पड़ीं और धर्म के मार्ग पर आने का महँगा मूल्य चुकाना पड़ा। कौन कह सकता है कि ऐसी कितनी बहिनें रही होंगी जिनकी कहानियाँ भी हम तक नहीं पहुँच पाई हैं। जब उन बहिनों के घर वालों की मान्यताएँ भिन्न प्रकार की रहीं, उनके पति का धर्म दूसरा रहा, तब अनेक प्रकार का विरोध होने पर भी और अपने सन्मान-अपनी प्रतिष्ठा को खतरे में डाल कर भी और नाना प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए भी वे प्रभु के पंथ पर चलीं।

मतलब यह है कि जब हम नारी जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो देखते हैं कि उसका जीवन ऊँचा जीवन रहा है। जब हम उनकी याद करते हैं तो हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

राजा श्रेणिक का इतिहास जैन जीवन के कण-कण में चमकता रहता है। और भगवान् महावीर के नाम के साथ-साथ श्रेणिक का नाम भी याद आ जाता है। उसे अलहदा नहीं किया जा सकता तो उस समय का महान् सम्राट् श्रेणिक भगवान् के चरणों में पहुँचा, इसका श्रेय किसे प्राप्त है? किसने उसे भगवान् के चरणों तक पहुँचाया था? सम्राट् श्रेणिक सहज ही नहीं पहुँच गया था, क्यों कि वह दूसरे धर्म का अनुयायी था। उसे भगवान् के चरणों में पहुंचाने वाली हमारी एक बहिन ही थी और उसका नाम था चेलना, उसे बड़े २ संघर्षों का सामना करना पड़ा और बड़ी २ कठिनाइयाँ

भुगतनी पड़ीं। अपने पति को भगवान् के मंगल-मार्ग पर लाने के लिये उसने न जाने कितने खतरे अपने माथे पर लिए, कितनी बड़ी जोखिम उठाई! हम रानी चेलना के महान् जीवन को नहीं भूल सकते, जिसने अपनी जिन्दगी को भी खतरे में डालकर अपने सम्राट् पति को धर्म के मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयास किया और अन्त में अपने प्रयास को सफल बनाकर चैन ली।

उस समय के इतिहास को देखते हैं तो मालूम हो जाता है कि बहिनों ने छोटे-छोटे ही काम नहीं किये हैं, उन्होंने बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण काम किये हैं। उनको संसार का बड़े से बड़ा वैभव मिला था, किन्तु वे उस वैभव की दलदल में ही नहीं फँसी रहीं। उन्होंने अकेले ही धर्म के मार्ग को अंगीकार नहीं किया, किन्तु घर में जो पति, पुत्र, माता और भ्राता आदि कुटुम्बी जन थे, सबको साथ लेकर धर्म का मार्ग तय किया है। इस रूप में हमारी बहिनों का इतिहास बड़ा ही उज्ज्वल और शानदार रहा है।

अभी मैं आपके यहाँ के शास्त्र भण्डार को देख रहा था। मुनि मिश्रीमलजी मुझे दिखला रहे थे। मुझे एक मूल सूत्र और उसकी संस्कृत टीका, जिसे आज सर्व साधारण समझ भी नहीं सकते, पाँच सौ वर्ष पहले की लिखी मिली। मैं देखकर हैरान हो गया कि वह हमारी एक बहिन के हाथ की लिखी है।

१५६६ वर्ष का इतिहास, जो गुजरात के पाटन नगर का लिखा हुआ मिला है, उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रन्थ राज बहिन ने लिखा है और उसके हस्ताक्षर बड़े ही सुन्दर, मोती सरीखे हैं।

पाँच सौ वर्षों के बाद, आज, संभव है उसके परिवार में कोई भी आदमी न रहा हो, किन्तु उसने जो सुन्दर चीज़ लिख कर तैयार की है, उसने आज भी मेरे मन को गुदगुदा दिया। उसे देख

कर मैंने विचार किया—अगर वह साध्वी उस शास्त्र को ठीक तरह न समझती होती तो इतना शुद्ध और सुन्दर कैसे लिख सकती थी? उसकी लिखावट की शुद्धता से पता चलता है कि उसमें ज्ञान की गंभीरता जरूर रही होगी।

और भी शास्त्र भंडार देखने में आये हैं और वहाँ देखा गया है कि किसी की माता ने, बहिन ने या बेटी ने शास्त्र लिखे हैं और इस प्रकार बहुत-से शास्त्र हमारी बहिनों के द्वारा लिखे गये हैं या लिखाये गये हैं।

मेरा खयाल है कि साहित्यिक दृष्टिकोण से भी बहिनों का जीवन शानदार रहा है।

भगवती सूत्र में एक से एक सुन्दर वर्णन पढ़ने को मिलते हैं। बहुत से सन्त भगवान् के चरणों में आते हैं, आध्यात्मिक चर्चाएँ करते हैं। विद्वान् आते हैं और गणधर भी आते हैं और स्वर्ग तथा नरक की चर्चा में उतर जाते हैं। किन्तु राजकुमारी जयन्ती के प्रश्न कुछ निराले ही ढंग के हैं। वे जब तक जनता के सामने मौजूद रहेंगे, इंगित करते रहेंगे कि बहिनों का दृष्टिकोण कितना सादा, साफ और सुन्दर रहा है। और प्रश्नों का ढंग कितना जीवनस्पर्शी रहा है!

जयन्ती भगवान् महावीर से जीवनस्पर्शी प्रश्न पूछने को आई। उसने स्वर्ग और नरक की चर्चा नहीं छेड़ी, किन्तु अपने वर्त्तमान जीवन को छुआ और भगवान् से पूछा—'भंते! मनुष्य का दुर्वल रहना अच्छा है? अर्थात् कोई भी व्यक्ति अशक्त और दुर्बल रहता है; तो यह अच्छा है या उसका शक्तिशाली और बलवान् होना अच्छा है?'

उत्तर में भगवान् ने कहा--एक दृष्टि से दुर्बल रहना अच्छा है और दूसरी दृष्टि से सबल रहना अच्छा है।

भगवान् का उत्तर सुनकर उसनें फिर प्रश्न किया--भगवान् ! आप किस हेतु से कहते हैं कि एक दृष्टि से निर्बल रहना अच्छा है और दूसरी दृष्टि से सबल होना अच्छा है?

तब भगवान् बोले-हे जयन्ती। जो आदमी पापी है, गुनहगार है और दुराचारी है और जिसमें किसी प्रकार का विवेक, विचार या संयम नहीं है, धर्म में रस नहीं है, उसका दुर्बल रहना अच्छा है क्यों कि इस रूप में वह दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचा सकेगा और समाज एवं धर्म की व्यवस्था में गड़बड़ नहीं करेगा। अतएव ऐसे आदमी का पड़ा रहना ही अच्छा है। किन्तु जो विचारशील है, विवेकवान् है और धर्म के क्षेत्र में रस लेकर आया है और अपने तथा दूसरों के जीवन को प्रशस्त कर रहा है, उसका सशक्त रहना अच्छा है। उसमें जितनी शक्ति होगी, उतना ही वह अपने और दूसरों के जीवन को प्रशस्त और विशुद्ध बनाएगा।

तत्पश्चात् उस राजकुमारी ने दूसरा प्रश्न किया—प्रभो ! सोते रहना अच्छा है या जागृत रहना अच्छा है ?

भगवान् ने अपने उसी अनेकान्तमयी दृष्टिकोण से उत्तर दिया—एक दृष्टि से सोते रहना और एक दृष्टि से जागृत रहना अच्छा है। तब जयन्ती ने फिर पूछा—भगवान् ! किस न्याय और तर्क से आप ऐसा कहते हैं ?

भगवान् ने स्पष्टीकरण किया—जो मनुष्य दुराचारी है और पापी है, वह जागेगा तो संहार मचाएगा, अन्याय और अत्याचार करेगा, ऐसा आदमी घर में जागता है तो वहाँ भी लड़ाई करता है और महाभारत छेड़ देता है, अतएव उसका सोते रहना ही अच्छा हैं। किन्तु विवेकशील मनुष्य जागता है तो वह अपने और दूसरों के जीवन को ऊँचा उठाता है और समाज-संघ के जो महत्त्वपूर्ण कार्य

अधूरे पड़े हैं, उन्हें पूर्ण करता है। अतएव उसका जागृत रहना ही अच्छा है। वह जितनी देर जागता रहेगा, धर्म का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा और धर्म तथा संघ की सेवा के रूप में महत्त्वपूर्ण भाग लेता रहेगा।

इस रूप में हम देखते हैं तो भी मालूम होता है कि हमारी बहिनों का जीवन ऐसा नहीं जो एक किनारे पड़ा हो! ऐसा नहीं है कि उनमें समझ न रही हो और विवेक तथा विचार न रहे हों। किसी युग में उनका चिन्तन गहरा है और उस चिन्तन की छाया हमारे आगमों में भी उपलब्ध होती है।

सम्राट् जनक की सभा में हजारों विद्वान् खड़े हैं, एक एक धुरन्धर और दर्शनशास्त्र के पारगामी! वे जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उस समय राजा ने एक हजार गायें, सोने से मढ़े हुए सींग वाली और रत्नों से जड़ी हुई, खड़ी कर दीं और कहा कि-जो प्रश्नों को ठीक तरह हल कर देगा उसे यह गायें मिलेंगी! बड़े-बड़े विद्वान् उठते हैं, शंका समाधान करते हैं और बैठ जाते हैं। उस सभा में एक बहिन भी थी, जिसका नाम गार्गी था। जब वह शंका समाधान के लिए खड़ी हुई तो सबकी आँखें तो उस के प्रश्नों पर गड़ गईं। महापण्डित याज्ञवल्क्य उस सभा में मौजूद थे, जिनकी वाणी में बड़ा तेज था। उनका दावा था कि मैं ही सब से बड़ा पण्डित हूँ। किन्तु जब गार्गी के प्रश्नों की झड़ी लगी तो याज्ञवल्क्य का चेहरा फीका पड़ने लगा!

आखिर खीझ कर याज्ञवल्क्य कहने लगे—अधिक प्रश्न मत करो, सीमा हो चुकी है! और याज्ञवल्क्य ने गुस्से में आकर उसे बंद कर दिया, किन्तु उनके पास गार्गी के प्रश्नों का कोई समाधान नहीं था।

इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में जब हम नारी जाति के चिन्तन को देखते हैं, तो यही मालुम होता है कि हमारी बहिनों ने संसार को सुन्दर विचार उपहार के रूप मे दिये हैं।

कुछ ही शताब्दियाँ गुजरी हैं जब नारी जाति पुरुषों से एक भी क़दम पीछे नहीं थी। किन्तु बाद में ऐसी परिस्थितियाँ आईं जिनके कारण उनका जीवन एकांगी बन गया और उन्हें जो प्रकाश मिलना चाहिए था, नहीं मिल सका।

आज समाज में जो गड़बड़ें फैली हुई हैं, उनका उत्तरदायित्व बहिनों पर आया है क्योंकि महत्त्वपूर्ण जीवन का भाग बहिनों की गोद में तैयार होता है। समाज का प्रत्येक पुत्र और पुत्री का जीवन बहिनों की गोद में ही तैयार होता है। उन्हें कच्ची मिट्टी का लौंदा मिला है, उसे क्या बनाना है और क्या नहीं बनाना है, और यह निर्णय करना उनके अधिकार में है। जब माताएँ योग्य होती हैं, तो वे अपनी सन्तान में करुणा का रस पैदा कर देती हैं, और धर्म एवं समाज की सेवा के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा जगा देती हैं। ऐसी सन्नारियों में मन्दालसा का नाम चमकता हुआ हमारी आँखों के आगे आ जाता है। जब भी उसको पुत्र होता, वह लोरी देती थी और उसमें कहती थी:—

शुद्धोऽसि-बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि,
संसार-माया-परिवर्जितोऽसि ।

यह लम्बी और विराट लोरी है और दार्शनिक क्षेत्र में बड़ी चित्ताकर्षक है। इसमें कहा गया है—हे लाल! तू शुद्ध है, तू विशुद्ध है, अतएव तू विकारों में मत फँस जना। तू बुद्ध है, ज्ञानी है, अतः अज्ञान में न रह जाना। तू अज्ञान और अविवेक में रहा और तेरे

मन का दरवाजा खुला न रहा तो समाज में अंधकार कर देगा। तू जगत् को प्रकाश देने आया है और तेरा ज्ञान तुझे प्रकाश की ओर ले जायगा।

इसी हेतु से यहाँ कहा गया है कि तू निरंजन है, परमचेतनामय है और संसारी जीव नहीं है। तू इस संसार के मायाजाल में फँसने के लिए नहीं आया है। तुझे अपने मन के मैल को और संसार के मन के मैल को साफ करना है। तू संसार की गलियों में कीड़ों की तरह रेंगने के लिए नहीं है। तू तो परमब्रह्म है।

तो भारत के इतिहास में यह लोरी है और मन्दालसा की प्रेरणा हमारे सामने मौजूद है!

कोई कहे कि बहिनें मूर्ख रही होंगी और उन्होंने संसार को अंधकार में ले जाने का प्रयत्न किया होगा, तो इसका उत्तर यह है कि उनका एक-एक पुत्र ऐसा आया कि वह महान् बना। कोई साधु बना तो भी महान् बना और राजगद्दी पर बैठा तो भी महान् बना! कोई सेनापति के रूप में चला तो भी जनता का मन जीतने के लिए चला और जहाँ अपने पैर जमाये कि पृथ्वी पर एक साम्राज्य खड़ा कर दिया!

तो यह सब चीजें कहाँ से आईं? माता की गोदी में से नहीं आई तो क्या आकाश से बरस पड़ी? पुत्रों और पुत्रियों का निर्माण तो माता की गोद में ही होता है। माता योग्य है तो कोई कारण नहीं कि पुत्र योग्य न बने और माता अयोग्य है तो कोई कारण नहीं कि पुत्र अयोग्य न बने। वे संसार को जैसा चाहें वैसा बना सकती हैं।

एक प्रेमी के आग्रह से बच्चों पर कविता लिखने का प्रसंग आया था। वहाँ मैंने बच्चों के मुँह से कहलवाया है:—

अन्त में माता-पिता के खेल का सामान हूँ मैं।
जो विचारें सो बना लें, देव हूँ शैतान हूँ मैं॥

—अमरमाधुरी

बच्चा कह रहा है कि मैं बहुत महान् हूँ। मैंने बड़े-बड़े काम किये हैं। राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध वगैरह सब मुझसे ही बने हैं। सब कहने के बाद कहता है—आखिर मैं माता-पिता का खिलौना हूँ। वे जो बनाना चाहते हैं, वही मैं बन जाता हूँ। मै देवता बन सकता हूँ और राक्षस भी बन सकता हूँ। मेरे अन्दर दोनों तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं। यदि माता-पिता देवता हैं, उनमें ठीक तरह सोचने की कला है और देवता बनाना चाहते हैं, तो वे मुझे देवता बना देंगे। और मुझमें राक्षस बनने की भी शक्ति मौजूद है। वह भी इतनी महान् है कि कहीं उनकी गलतियों से राक्षस बनने की शिक्षा मिलती रही और शिक्षा या वातावरण ने बुरे संस्कारों को जागृत कर दिया तो मैं बड़े से बड़ा राक्षस भी बन सकता हूँ।

आखिर समाज का जो समष्टि अग है, उसके एक ओर नारी-वर्ग है और दूसरी ओर पुरुष-वर्ग है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि शरीर के एक हिस्से को लकवा मार जाय वह बेकाम हो जाय और शेष आधा शरीर ज्यों का त्यों सबल और कार्यकारी बना रहे। एक हाथ और एक टांग के सुन्न हो जाने पर दूसरा हाथ और दूसरी टाँग हरकत में होंगे, मगर काम करने को नहीं, सड़ने को होंगे। इसके विपरीत यदि शरीर के दोनों हिस्से ठीक अवस्था में रह कर गति करते हैं, तो वह काम करेगा और ऐसा जीवन समाज को कुछ दे सकेगा और कुछ ले सकेगा।

आज समाज के आधे अंग को लकवा मार गया है और वह बेकार हो गया है। उसके पास वह ज्ञान, विचार और चिन्तन

नहीं रहा है और न अपनी सन्तान को महान् बनाने की कला रह गई है। और इस रूप में हजारों गालियाँ, जो लड़कों-लड़कियों की जबान पर आती है, बहिनों की ओर से आती हैं। हजारों कुसंस्कार आते है, मेरी-तेरी की भावना आती है, और द्वैत भाव की घुट्टियाँ पिलाई जाती हैं!

इस प्रकार बच्चों के मन में जहाँ अमृत भरा जाना चाहिए, वहाँ ज़हर भरा जाता है और आगे चलकर माता-पिता को जब उसका परिणाम भोगना पड़ता है तो वही रोते और चिल्लाते हैं! आज बच्चों का ऐसा जीवन बन रहा है और इसका प्रधान कारण यही है कि हमारी बहिनों की सभ्यता ऊँची नहीं रही।

तो पक्षी को आकाश में उड़ने के लिए दोनों पाँखों का मजबूत होना आवश्यक है। दोनों पाँख सशक्त होंगे तभी वह उड़ सकेगा, एक पाँख से नहीं। यही बात समाज के लिए है। समाज का उत्थान पुरुष और स्त्री-दोनों के समान शक्तिसम्पन्न होने पर निर्भर है। आज हमारा समाज गिरा हुआ है। उसका मूल कारण यही है कि उसकी एक पाँख इतनी दुर्बल और नष्ट-भ्रष्ट हो गई है कि उसमें कर्तृत्व शक्ति नहीं रही, जीवन नहीं रहा। एक पाँख के निर्जीव हो जाने पर दूसरा पाँख भी काम नहीं कर सकता और इस प्रकार समाज का सारा जीवन गिरने के लिए ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में उत्थान की संभावना ही क्या है?

हवाएँ आती रहती हैं और जब-तब सुनने को मिलता है कि आज घर-घर में कलह की आग सुलग रही है। यह कलह कहाँ से जागता है? मालूम करेंगे तो पता चलेगा कि ६० प्रतिशत झगड़े इन्हीं बहिनों के कारण होते हैं। उसके मूल में किसी न किसी बहिन की नासमझी ही होती है। खटपटों के इतिहास को टटोलने चलेंगे

तो पता चलेगा कि अधिकांश खटपटों का उत्तरदायित्व बहिनों पर आ रहा है। किन्तु इसका भी कारण बहिनों का अज्ञान है। उनकी अज्ञानता ने ही उन्हें ऐसी स्थिति में ला दिया है। अगर वे ज्ञान का प्रकाश पा जाएँ और अपने हृदय को विशाल एवं विराट रक्खें, अपने जीवन को महान् बनाएँ और लेने की बुद्धि न रख कर देने की बुद्धि रक्खें, यदि उनके हाथ इतने महान् बन जाएँ कि अपने परिवार और दूसरों को भी समान भाव से दे सकें और सुख-दुःख में सेवा कर सकें तो परिवारों के झगड़े, जो विराट रूप ले लेते हैं, न ले सकें, और किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर न आ सके।

यहाँ इतिहास की एक बात याद आती है। एक महान् नारी की, जिसका नाम भी किसी को याद नहीं है, जीवन-ज्योति हमारे सामने खड़ी हो जाती है।

भारत में बड़े-बड़े दार्शनिक कवियों ने जन्म लिया है। संस्कृत भाषा जानने वाले जानते हैं कि संस्कृत साहित्य में माघ कवि का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। माघ कवि भारत के गिने-चुने कवियों में से एक माने जाते हैं और उनकी कविता की भांति उनकी जीवन-गाथाएँ भी बड़ी मूल्यवान् हैं।

उनकी कविता की बदौलत लाखों का धन आता, किन्तु माघ का यह हाल कि इधर आया और उधर दे दिया! अपनी इस निस्पृह वृत्ति के कारण वह जीवन भर गरीब रहा। कभी २ तो ऐसी स्थिति आ जाती कि आज तो है, मगर कल होगा या नहीं? कभी २ उसे भूखा ही सोना पड़ता। किन्तु उस माई के लाल ने जो कुछ भी प्राप्त किया—सोने का सिंहासन पाया—तो उसे भी देने से इन्कार नहीं किया। उसने कहा कि माघ का महत्त्व पाने में नहीं, देने में है।

एक बार वह अपनी बैठक में बैठे थे। जेठ की कड़कड़ाती हुई गर्मी में, दोपहर के समय, एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। उस समय यह महान् कवि अपनी कविता को दुरुस्त करने में मस्त थे। ज्यों ही गरीब ब्राह्मण आया और नमस्कार करके सामने खड़ा हुआ, इनकी दृष्टि उस पर पड़ी। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया पड़ रही थी और थकावट तथा परेशानी झलक रही थी।

कवि ने ब्राह्मण से पूछा—कहो भैया, इस धूप में आने का कैसे कष्ट किया ?

ब्राह्मण—जी, और तो कोई बात नहीं है, एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे यहाँ एक कन्या है। वह युवती हो गई है। उसके विवाह की व्यवस्था करनी है; मगर साधन कुछ भी नहीं है। अर्थाभाव के कारण मैं बहुत उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से चला आ रहा हूँ।

माघ कवि ब्राह्मण की अभ्यर्थना सुन कर विचार में पड़ गये। उनका विचार में पड़ जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस समय उनके पास एक जून खाने को भी कुछ नहीं बचा था। मगर गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है! कवि की उदार प्रकृति से रहा नहीं गया। उसने ब्राह्मण को बिठलाया और आश्वासन देते हुए कहा—अच्छा भैया, बैठो, मैं अभी आता हूँ।

कवि घर में गये। इधर-उधर देखा तो देने योग्य कुछ भी न मिला। उनके पश्चात्ताप का पार न रहा। सोचने लगे—'माघ! क्या तू घर आये याचक को खाली हाथ लौटायेगा? नहीं, आज तक तूने ऐसा नहीं किया है। तेरी प्रकृति यह सहन नहीं कर सकती! मगर किया क्या जा सकता है? कुछ हो भी तो देने को!'

माघ विचार में डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नहीं सूझता था। आखिर एक किनारे सोती हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। पत्नी के हाथों में कंगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर वही कंगन उसकी सम्पत्ति थे।

माघ ने सोचा—कौन जाने माँगने पर यह दे या न दे! इसके पास और कोई सम्पत्ति नहीं, कोई आभूषण नहीं। यही कंगन हैं तो शायद देने से इंकार कर दे! मगर यह सोई हुई है और अच्छा अवसर है। क्यों न चुपचाप निकाल लिया जाय!

माघ दो कंगनों में से एक को निकालने लगे। कंगन सरलता से खुला नहीं और जब जोर लगाया तो थोड़ा झटका लग गया। पत्नी की निद्रा भंग हो गई। वह चौंक कर और अपने पति को देख कर बोली—आप क्या कर रहे थे?

माघ—कुछ तो नहीं, यों ही कोई चीज़ खोज रहा था।

पत्नी—नहीं, सच कहिए। मेरे हाथ से झटका किसने लगाया?

माघ—झटका तो मैंने ही लगाया था।

पत्नी—तो आखिर बात क्या है? आप कंगन खोलना चाहते थे।

माघ—हाँ, तुम्हारा खयाल सही है।

पत्नी—किसलिए?

माघ—एक गरीब ब्राह्मण दरवाजे पर बैठा है। वह बड़ी आशा लेकर यहाँ आया है। मैंने देखा, घर में कुछ भी नहीं है, जो उसे दिया जा सके। तब तुम्हारा कंगन नजर आया और यही खोल

कर उसे दे देना चाहता था। मैंने तुम्हें जगाया नहीं, क्योंकि मुझे भय था कि कहीं तुम कंगन देने से इंकार कर दोगी।

पत्नी—तब तो आप चोरी कर रहे थे!

माघ—हाँ, बात तो ऐसी ही है, पर करता क्या! दूसरा कोई चारा ही नहीं था।

पत्नी—मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गए, किन्तु, देखती हूँ, आप आज तक मुझे नहीं पहचान सके! आप तो एक ही कंगन ले जाने की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व ले जाएँ तो भी मैं कुछ नहीं कहती।

इसके पश्चात् उस बहिन ने कहा—यह कंगन मैं अपने हाथ से उस ब्राह्मण को दूंगी जो मुसीबत में पड़ा हुआ है।

और माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को बुलाया और अन्दर ले जाकर कहा—देखो, मुझे घर में इस समय और कुछ नहीं मिल रहा है जो तुम्हें दे सकूँ। यह एक कंगन है, जो तुम्हारी इस पुत्री के पहनने के लिए है। उसी की ओर से तुम्हें यह भेंट दिया जा रहा है। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है!

ब्राह्मण गद्गद हो उठा। उसने कंगन लिया और हर्षित होकर चल दिया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष में ऐसी बहिनें भी आई हैं, जिन्होंने अपनी मुसीबत और कंगाली की हालत में भी आशा लेकर घर आये हुए किसी अतिथि को खाली हाथ नहीं लौटाया। उन बहिनों ने मानो यही सिद्धान्त बना लिया था—

'दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।'

हाथ दान देने से सुशोभित होता है कंगन से नहीं।

ऐसी विराट हृदय वाली बहिनों ने ही महिलासमाज के गौरव को बढ़ाया है। ऐसी-ऐसी बहिनें हो चुकी हैं, जिन्होंने अपरिचित भाइयों की भी उनकी गरीबी की हालत में सेवा की है और उन्हें अपनी बराबरी का धनाढ्य बनाया है। जैन इतिहास में उल्लेख आता है कि पाटन की रहने वाली बहिन लच्छी (लक्ष्मी) ने एक अपरिचित जैन युवक को उदास देख कर ठीक समय उसकी सहायता की और उसे अपने बराबर धनाढ्य बना लिया। वही एक दिन का भूला-भटका हुआ रोटी की तलाश में धक्के खाने वाला मरुधर देश का युवक ऊदा, एक दिन सिद्धराज जयसिंह का महामंत्री बनता है और गुजरात के युगनिर्माता के रूप में भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर चमकता है।

ऐसी बहिनें ही आज जगत् में गौरव की अधिकारिणी हैं। वे महिला जाति में मुकुटमणि हैं।

परन्तु कई बहिनें ऐसी भी हैं, जिनका घर भरा-पूरा है, जिन्हें किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी अपने हाथ से, किसी को एक रोटी का भी दान नहीं दे सकतीं! मगर याद रक्खो, गृहिणी की शोभा दान से ही है, उदारता से ही है। जो दानशीला और उदार है, वही लक्ष्मी की मालकिन कही जा सकती है। जैनसाहित्य के एक महान् पण्डित, जिन्हें आचार्यकल्प कहा जाता है, कहते हैं:—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

—सागार धर्मामृत

ईंटों और पत्थरों का बना हुआ घर, घर नहीं कहलाता, सद्गृहिणी के होने पर ही घर, घर कहलाता है।

खेद है कि आज-कल ऐसी आदर्श गृहणियों के बहुत कम दर्शन होते हैं। धनाढ्य लोगों के घरों में प्रायः ऐसी गृहिणियाँ होती

हैं, जो किसी गरीब को, दुःखी को देख कर सान्त्वना देने के बदले गालियाँ देकर या धक्का दिलवाकर निकाल देती हैं। किन्तु सच्ची सद्गृहिणियाँ संजीदगी से पेश आती हैं। वे कभी किसी के प्रति कटु व्यवहार नहीं करतीं और न अपने चेहरे पर क्रोध की रेखा ही आने देती हैं।

इस प्रान्त में—मारवाड़ में—ऐसी भी बहिनें मिलेंगी, जिन्हें गृहलक्ष्मी कहा जा सकता है। किन्तु यहां की बहिनों में शिक्षा का प्रचार नहीं है और अशिक्षिता होने के कारण वे अपने उत्तरदायित्वों का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर पाती हैं। वे धर्म, रूढ़ि और अन्धपरम्परा की छँटनी भी नहीं कर सकतीं, और इसी कारण धर्म समझ कर अनेक रूढ़ियों की गुलामी करती रहती हैं। उनका जीवन रूढ़ियों में बुरी तरह जकड़ गया है। वे प्रगति करने में असमर्थ हो गई हैं।

मारवाड़ के सुधारकों से मैं यही कहना चाहता हूँ कि वे इन बहिनों के मिथ्याविश्वास को और रूढ़िप्रियता को दूर करने का प्रयत्न करें और इनके मन में प्रतिष्ठा और गौरव का भाव उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्ति का सुधार उसके मन में प्रतिष्ठा और गौरव का भाव उत्पन्न किये बिना नहीं हो सकता।

यहाँ की बहिनों में जो अन्धपरम्पराएँ प्रचलित हैं और जो कुरूढ़ियाँ घर किये हुए हैं, उनके संबंध में हमें भी जानने को मिला है। उन सबमें से हमारा ध्यान रोने-पीटने की प्रथा की ओर जाता है। मरने वाले के पीछे रोना-पीटना मानों धर्म समझ लिया गया है। इस बुरी प्रथा के पीछे कई बहिनों ने आर्त्तध्यान करके अपनी जान को भी जोखिम में डाल दिया है।

ठीक है कि रोना मनुष्य को आ जाता है। किसी का दर्द देख कर आँसू आ सकते हैं। भावुक हृदय में वेदना के कारण आँसू

उमड़ने लगते हैं। कभी-कभी दर्दनाक घटनाएँ पढ़कर या सुनकर हमारी आँखें भी गीली हो जाती हैं। यह तो सहज करुणा के आँसू होते हैं। इनको रोका नहीं जा सकता। मगर आँसू तो एक न आवे और झूटमूठ चीखें मार-मार कर और हल्ला मचाकर गलियों की भीड़ इकट्ठी करना कहाँ तक उचित है? इसमें कौन-सा तत्त्व समाया हुआ है? क्या वह सब बहिनें जो मरने वाले के लिए, रोती हुई, मातमपुर्सी करने जाती हैं, हृदय में उसके परिवार के प्रति इतनी गहरी वेदना और व्यथा रखती हैं? सबके दिल में समवेदना होती है? मैं तो समझता हूँ, उनमें ऐसी कोई चीज नहीं होती। केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही, कुरूढ़ि की रक्षा करने के लिए ही, दिखावे के तौर पर उनमें से अधिकांश रोती-चीखती और चिल्लाती हैं।

प्राचीन युग में यह (रोना) एक अनिवार्य तत्त्व था। किसी दुःखी या दर्दी को देखकर आंखों से आंसू निकल पड़ते थे और उसके साथ सहानुभूति और समवेदना प्रकट करते थे। यथावसर उसकी सहायता भी की जाती थी। दुखिया के दुःख के साथ अपने हृदय का दुःख प्रकट किया जाता था। किन्तु अब यह चीज कहाँ है? न पुरुषों में है न महिलाओं में ही देखी जाती है।

बहिनें रोती हुई उस बहिन के पास जाती हैं, जिसका पति पुत्र या और कोई आत्मीय अभी-अभी चल बसा है, तो वह बेचारी अपनी व्यथा को रोक नहीं सकती और रोने लगती है। सहानुभूति पाकर हृदय की वेदना उमड पड़ती है और आँसुओं का रूप ग्रहण करके बाहर निकलती है। यह रोना तो समझ में आ सकता है। यह मानव-स्वभाव की अनिवार्य दुर्बलता है। मगर यह क्या बात है कि रोना नहीं आता है, तो भी जबर्दस्ती आंसू लाने पड़ते हैं!

और कोई नहीं रोती तो चर्चा चल पड़ती है—अरे, उसका पति मरा है, पर देखो, उसकी आंखों में एक भी आंसू नहीं है ? इस प्रकार बलात् उस पर रोदनप्रथा लादी जाती है और जले पर नमक छिड़का जाता है ?

होता क्या है ? बहिनों की एक टोली जाती है और उसे रुला कर लौटती है। इतने में ही दूसरी टोली तैयार रहती है और वह जाकर रुलाती है ! रोते-रोते वह अधमरी हो जाती है।

मैं कहता हूँ, इस प्रकार रोने और रुलाने में किसी की भलाई नहीं है। विचारशील बहिनें चाहें तो मिलकर इस प्रथा को उठा-सकती हैं। इस बुरी प्रथा को उठा देने से धर्म का नाश नहीं होगा, बल्कि आर्त्तध्यान में कमी होने से धर्म की वृद्धि और रक्षा होगी। अगर बहिनों में इतना करने का भी साहस नहीं है तो वे इस बात की प्रतिज्ञा तो कर ही सकती हैं कि न रोने या कम रोने वाली अपनी बहिन की निन्दा न करेगी, बल्कि उसे आदर्श समझेंगी।

यहां की बहिनों में दूसरी चीज मैंने देखी-पर्दे की प्रथा। पर्दे का रिवाज़ यहां बड़ा दयनीय है। शील की रक्षा के लिए मारवाड़ में पर्दा प्रचलित किया गया था। किन्तु उसने प्रथा का रूप धारण कर लिया है और यह समझ लेना कि पर्दे से ही शील की रक्षा होती है, भयंकर भूल है ! गुजरात और महाराष्ट्र में कोई पर्दा नहीं है। वहां शील का पालन किस प्रकार होता है ? वहां की बहिनें शील और सौन्दर्य में यहां की बहिनों से पीछे तो नहीं हैं।

फिर पर्दा करने में कोई विवेक भी नज़र नहीं आता। फेरी वाले आते हैं, अपरिचित आदमी आते हैं और ऐरे-गैरे लोग आते हैं तो उनके सामने किसी प्रकार का पर्दा नहीं किया जाता और घर के बड़े-बूढ़े लोगों के सामने, यहां तक कि साधु-सन्तों के सामने भी पर्दा

किया जाता है और टिच् र होती है। ऐसे पर्दे में कोई तथ्य नहीं है। पर्दा करने से जीवन का विकास रुकता है और जीवन की समस्याओं को हल करने में भी बड़ी कठिनाई पड़ती है।

पर्दा होना चाहिए मन पर, मगर होता है मुँह पर। अगर मन में शील के रक्षण की भावना नहीं है तो मुँह का पर्दा क्या काम आएगा?

पुराने जमाने में कोई पर्दा नहीं था। सीता तो खुले मुँह पति के साथ वन में गई थी। उसने पर्दा नहीं किया तो क्या शील की रक्षा नहीं कर सकी? सीता तो सतियों में शिरोमणि कहलाती हैं। वास्तव में पर्दा और शील का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। पर्दा तो मुसलमानी युग से चला है। पर्दे के बिना शील की रक्षा न होती तो उससे पहले शील की रक्षा किस प्रकार होती थी?

बन्धुओ, बहिनों में पर्दे का जो रिवाज़ चल रहा है, उसके कारण आप लोग भी हैं। जब कोई बहिन पर्दा नहीं करती तो आप अपना अपमान समझते हैं और उसकी टीका करते हैं, निन्दा करते हैं। अगर आप पर-स्त्रियों को माता और बहिन समझते हैं तो क्यों उनसे पर्दे की अपेक्षा रखते हैं? और बहिनें यदि पर-पुरुष को पिता या भ्राता समझती हैं तो क्यों पर्दा करती हैं? भारतवर्ष के धर्मों ने इतनी ऊँची भावना आपको दी है, परन्तु आप उस भावना को भूल कर पर्दे के इस अत्याचार को क्यों प्रोत्साहन देते हैं?

आपने अपनी बहिनों पर लम्बे-लम्बे पर्दे डाल कर उनकी जीवन विकासिनी शक्तियों को आच्छादित कर दिया है। उनकी मातृत्व शक्ति भी पर्दे में छिपी रहती है, जिसके कारण उनकी सन्तति डरपोक और कायर होती जाती है। समाज में होनहार

नागरिक और धार्मिक व्यक्ति बहुत कम पैदा होते हैं। पर्दानशीन महिलाओं के बच्चों में पहले से ही नामर्दगी घुसी होती है!

किसी भी दृष्टि से पर्दा, समाज के लिए उपयोगी नहीं है, बल्कि हर दृष्टि से हानिकारक ही है। वह समाज की उन्नति में और नारी जाति के उत्थान में अत्यन्त बाधक है। वह समाज के एक अंग को कमजोर बना रहा है और उस अंग की कमजोरी दूसरे अग को भी कमजोर और निस्सत्व बना रही है। महिला-समाज को समय रहते चेत जाना चाहिए, अन्यथा बाद में अधिक पश्चात्ताप करना पड़ेगा। संसार की दूसरी जातियाँ उन्नति के मैदान में अपने-अपने घोड़े दौड़ा रही हैं। ऐसे समय हमारी बहिनें पीछे रह जाएँगी तो हमारा समाज भी पिछड़ा रह जाएगा। वह आगे नहीं बढ़ सकेगा।

पर्दे के कारण महिला समाज में दुर्बलता, साहसहीनता और डरपोकपन आता है। संकट के समय वे आप ही अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो पातीं। अपनी रक्षा के लिए वे सिंहनी का रूप धारण नहीं कर सकतीं। सदैव परावलम्बी रहना, अपने सतीत्व की रक्षा के लिए भी दूसरों पर निर्भर रहना, किसी भी अवस्था में अच्छा नहीं कहा जा सकता। मैं तो चाहूँगा कि हमारी बहिने दीन-दुखिया को देख कर दया की पुतली बनें और अत्याचारी का मुकाबिला करने में दुर्दान्त सिंहनी का रूप धारण करें। उनमें इतनी शक्ति आ जानी चाहिए कि गुंडे से गुंडा भी उनकी ओर आँख उठा कर न देख सके, और यदि देखने की हिम्मत करे तो वे उसे उसकी करनी का मजा चखा सके। मैं उन्हें शक्ति का अवतार और दया की देवी के रूप में देखना चाहता हूँ। बहिनों में ऐसी हिम्मत, शक्ति और साहसिकता आएगी तो उनका तेज सौगुना बढ़ जायगा और उनके धर्म की रक्षा

होगी। उनके तेज के आगे अत्याचार ठहर नहीं सकेगा और पाप काँपने लगेगा! मगर पर्दे को त्यागे बिना ऐसा तेज पैदा नहीं हो सकता।

आज महिला जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। समयाभाव के कारण मैं उन सब पर प्रकाश नहीं डाल सकता। इतना कहूँगा कि उन्हें युग के साथ चलना है और इज्जत के साथ जीना है तो वे अपनी उन्नति के विषय में सोचें, समझें और साहस के साथ आगे बढ़ें, इसी में उनका कल्याण है। *

२४-१०-५०

---

* महिला सुधार दिवस पर किया गया प्रवचन।

: ४ :

जैन-धर्म और रीतिरिवाज

●

भारतभूमि धर्मप्रधान है, यह एक ऐसा वाक्य बन गया है, जो चाहे जहाँ और चाहे जब सुन लीजिए। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म की जितनी और जैसी मीमांसा भारत में हुई, वैसी अन्य किसी भी देश में नहीं हुई। और धर्म ने भारत की जनता को जितना प्रभावित किया, उतना शायद किसी और देश की जनता को नहीं किया।

भारत के धर्मोपदेशकों ने सदैव इस बात पर बल दिया कि धर्म जीवन में ओतप्रोत हो जाना चाहिए, हमारा जीवन धर्ममय बन जाना चाहिए, अर्थात् हम अपने जीवन में जो भी व्यवहार करें उनमें धर्म का विचार अवश्य मिला रहना चाहिए और जीवन अलग और धर्म अलग नहीं बँट जाना चाहिए।

बात तो सोलह आने सत्य थी। जीवन जब तक धर्ममय नहीं बन जाता तब तक जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में धर्म चमकना ही चाहिए। मगर जनता ने, जान पड़ता है, इस शिक्षा का अर्थ उलटा लिया। उसने अपने व्यवहारों

को धर्ममय बनाने का कठिन रास्ता अख्तियार करने के बजाय धर्म को ही व्यवहारमय बना लेने का सरल रास्ता अख्तियार कर लिया। आज यही स्थिति दिखलाई पड़ रही है।

आज लोगों को इस बात की चिन्ता नहीं है कि हमारी प्रथाएँ, परम्पराएँ और रीति-रिवाज धर्ममय होने चाहिए, उन्हें चिन्ता है तो यही कि धर्म हमारी प्रथाओं, परम्पराओं और लोकरूढ़ियों का समर्थक होना चाहिए। इस तरह की भावना के कारण लोग लोकरूढ़ियों में धर्म की कल्पना करने लगे है और धर्म का रूप बड़ा ओपदा-सा हो गया है।

बहुत-से लोग पूछना चाहते हैं कि अमुक रिवाज चल रहा है या परम्परा चल रही है, वह धर्म है या नहीं? किसी के यहाँ बच्चा हुआ, विवाह हुआ या मरण हुआ और इस प्रसंग पर अमुक तरह का क्रियाकाण्ड किया गया, तो वह धर्म है या नहीं? अमुक रूढ़ि, जो लोक में प्रचलित है, धर्म है या नहीं?

इससे एक अटपटी बात और पैदा हो गई। वह यह कि एक अमुक काम को अच्छा मानता है और दूसरा उसे बुरा मानता है। क्योंकि संसार में लौकिक व्यवहारों की मान्यता एक-सी नहीं है। एक चीज एक प्रान्त में अच्छी समझी जाती है तो दूसरे प्रान्त में बुरी समझी जाती है। इसी तरह जो रिवाज एक जाति या कुल में अच्छा समझा जाता है, वही दूसरी जाति या कुल में बुरा माना जाता है। इस रूप में जनता में अलग-अलग विचार पैदा हो गये हैं और एक, एक रिवाज को धर्म मान रहा है तो दूसरा उसी को अधर्म मान रहा है। इस तरह धर्म का प्रश्न बड़ी गड़बड़ में पड़ गया है।

आज ही ऐसी स्थिति हो सो नहीं, पहले भी यही स्थिति थी। महाभारत के लेखक व्यास से पूछा गया कि धर्म किसमें है ? अमुक काम करते हैं तो वह धर्म है या अधर्म ? यह जो अलग-अलग अगणित रिवाज चल रहे हैं, उनमें से किनमें धर्म है और किनमें अधर्म ? यह प्रश्न सुन कर व्यास भी अटपटा गये और उन्होंने कह दियाः—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां;
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

तर्क से धर्म का निर्णय करें ? तर्क का ही ठिकाना नहीं है। यह आज एक तरफ तो कल दूसरी तरफ चलने लगता है। एक तर्क जिस चीज का खण्डन करता है, दूसरा उसी का मण्डन करता है। तर्क तो वह हथियार है जो आपस में लड़ जाते हैं, कट जाते हैं और एक दूसरे से मात खा जाते हैं। यह हाल है तर्क का ! अतएव तर्क के भरोसे धर्म का निर्णय होने वाला नहीं है।

अच्छा जाने दीजिए तर्क को। वह बिना पैंदी का लोटा है। कभी इधर और कभी उधर लुढ़क जाता है। शास्त्र से धर्म का निर्णय कर लें ? किन्तु शास्त्र भी एक कहाँ है ? एक शास्त्र किसी चीज का विधान करता है तो दूसरा शास्त्र उसका निषेध करता है। श्रुतियाँ कुछ कहती हैं तो स्मृतियाँ और ही कुछ कहती है और पुराण अपना अलग ही राग आलापते हैं। उनमें भी आपस में संघर्ष हैं। फिर कोई-कोई शास्त्र तो यह भी कहता है कि शास्त्र भरोसे की चीज (प्रमाण) ही नहीं है ! इस रूप में शास्त्र स्वयं अपनी अविश्वसनीयता की घोषणा कर रहा है। अब किस शास्त्र को प्रमाण मानें और किसे

अप्रमाण मानें ? शास्त्र की प्रमाणता और अप्रमाणता का निर्णय करने के लिए कौन-से शास्त्र का सहारा लें ?

ठीक है तो शास्त्र को भी रहने दीजिए। किसी आचार्य से धर्म-अधर्म का निर्णय करा लिया जाय ? मगर आचार्यों का मत कहाँ एक है ? सब की अलग-अलग राह है। एक का निर्णय पूरब में जाता है और दूसरे का पश्चिम में। किसकी माने; किसकी न मानें ?

इस प्रकार धर्म का तत्त्व-रहस्य अंधकार में छिप गया है और पता नहीं चलता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ?

आखिरकार व्यासजी कहते हैं—जिधर बहुत आदमी जा रहे हों, भीड़ जा रही हो, उधर ही चल पड़ो। वही जाने का मार्ग है।

धर्म के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया है, वह क्या वास्तविक निर्णय है ? एक आदमी जो काम कर रहा है, वह तो करना नहीं चाहिए, क्योंकि वह महाजनों का अर्थात् बहुतों का मार्ग नहीं है। मार्ग वह है जहाँ भीड़ लग रही है, मगर दुनिया की अधिक से अधिक जनता तो अज्ञान में रहती है। अज्ञान से प्रेरित जन-समुदाय जिस ओर जा रहा है, उस ओर जाने से क्या कल्याण हो सकेगा ?

अगर आप इस निर्णय को स्वीकार कर लेते हैं, तो आपको आज ही अपना धर्म छोड़ देना पड़ेगा, क्योंकि दूसरे धर्म के मार्ग पर चलने वाले बहुत हैं और आपके धर्म के पंथ पर चलने वाले थोड़े-से ही हैं।

इस बात को जाने भी दें और सत्य की दृष्टि से ही विचार करें तो सत्य बहुमतगत है, प्रकृतिगत है, स्वगत है। बहुतों की मान्यता होने पर भी असत्य, सत्य नहीं हो सकता और अल्प जनसमूह के द्वारा मान्य होनेके कारण ही सत्य, असत्य नहीं हो सकता। सत्य अपने आप में

सत्य है। वह बादलों में प्रतीत होने वाली आकृति नहीं है कि जिसे जैसी दीख पड़े, उसके लिए वैसी ही हो जाय!

अभिप्राय यह है कि ज्यादा लोग कह रहे हैं सो अच्छा है और कम कह रहे हैं सो बुरा है, यह निर्णय भी ठीक नहीं है।

तो धर्म क्या है और अधर्म क्या है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और यह प्रश्न प्राचीन युग में भी था और आज भी ज्यों का त्यों खड़ा है।

यह तो सभी जानते हैं कि हम जिस संसार में रह रहे हैं, उसमें खाने, पीने, रहने आदि के नियम, मकान बनाने के नियम, उद्योग-धधां के नियम और विवाह-शादियों के नियम, सब के सब, एक-से नहीं हैं। अलग-अलग देशों में और अलग-अलग जातियों में अलग-अलग नियम हैं। ऐसी स्थिति में जब हम इन नियमों को धर्म का रूप दे देते हैं या धर्म मान लेते हैं तो धर्म का प्रश्न बड़ा पेचीदा बन जाता है। और जनता निर्णय माँगती है कि हम क्या करें और क्या न करें?

वास्तविक बात यह है कि धर्म को जिस रूप में ग्रहण करना चाहिए था, हमने उसे उस रूप में ग्रहण नहीं किया। धर्म का वास्तविक रूप कुछ और था और हमने समझा कुछ और ही लिया है! यहीं से धर्म के सम्बन्ध में अज्ञान का आरंभ होता है।

धर्म एक चीज है और पंथ दूसरी चीज़ है। धर्म का रूप अलग और पंथ का रूप अलग होता है। जैनधर्म धर्म है या पंथ है? अंग्रेजी भाषा में 'रिलीज़न' (Religion) शब्द का प्रयोग होता है और उससे भी इस विषय में एक प्रकार का गड़बड़झाला पैदा हो गया है।

हजारों परम्पराएँ मिटीं और चलीं और आगे बढ़ीं। उनमें से कुछ मिट गईं और कुछ मौजूद हैं। हजारों नवीन परम्पराएँ जन्म ले रही हैं और वे भी मिटेंगी और फिर नवीन जन्म लेंगी। यह मत, पंथ या प्रवाह हैं। तो क्या जैनधर्म इन मान्यताओं और पंथों पर ही रहता है या इनसे ऊपर उसका स्थान है? मैं सोचता हूँ कि धर्म, पंथ से भी ऊपर है और वह पंथ में सीमित नहीं है। वह सम्प्रदाय के रूप में है, किन्तु सम्प्रदाय में ही बंद नहीं है। वह सम्प्रदाय से भी ऊपर है।

इस रूप में मान्यताएँ जब-जब चलीं, उनमें धर्म अवश्य था, किन्तु जब वह मान्यताएँ सड़-गल गईं तो जैनधर्म का चक्र ऊपर था और ऊपर ही रहा। परम्पराएँ सड़-गल कर खत्म हो गईं, धर्म अपने रूप में बना रहा।

इस प्रकार धर्म के दो रूप हमारे सामने आते हैं—एक धर्म और दूसरा सम्प्रदाय, पन्थ, मान्यता या परम्परा। धर्म का रूप सर्वोपरि है और सम्प्रदाय, पन्थ या परम्परा में जब तक धर्म का अंश रहता है और विवेक-विचार बना रहता है, तब तक वह परम्परा या मान्यता जनता का कल्याण करती रहती है और समाज में जागृति उत्पन्न करती रहती है और उसे आगे बढाती है। इसी रूप में अगर कोई मान्यता या परम्परा चल रही है तो उसमें धर्म का अंश है और उसमें धर्म का अंश होने के कारण हम उसे धर्म के रूप में स्वीकार भी करते हैं। किन्तु जब उस परम्परा में से धर्म का अंश निकल जाता है, वह परम्परा निर्जीव क्रियाकाण्ड मात्र रह जाती है [तब वह धर्म नहीं रहती। ऐसी परम्परा और मान्यता को भंग कर देना हमारा आदर्श है। हम हजारों वर्षों से यही करते

आये हैं। धर्महीन जड़ परम्पराओं को खत्म करते आये हैं और नवीन प्रणालियों को जन्म देते आए हैं।

हमारे नाखूनों के दो विभाग हैं। नाखून का जो उँभाग गलियों से सटा हुआ है, जिंदा नाखून है। उस जिंदा नाखून को काटेंगे तो दर्द खड़ा हो जायगा। आप अहंकारवश कदाचित् उसे काट डालेंगे तो वह आपको व्यथा उपजाएगा और आपका महत्त्वपूर्ण अंग कटकर शरीर से अलग हो जायगा और यदि नाखून के निर्जीव भाग को, जो उँगली से आगे बढ़ कर आगे का रास्ता ले रहा है, नहीं काटेंगे और यह समझ कर कि यह भी तो हमारे ही शरीर का अंग है, इसे काटें, तो कैसे काटें यों ही बना रहने देंगे तो वह आपको हानि ही पहुँचाएगा। जहाँ कहीं लगेगा, लोहू-लुहान कर देगा। उसमें मैल भरेगा और वह मैल भोजन के साथ पेट में जायगा और बीमारी उत्पन्न करेगा।

तो मतलब क्या निकला? नाखून काटा जाय या न काटा जाय? उत्तर होगा—काटना भी चाहिए और नहीं भी काटना चाहिए। जो नाखून जिंदा है उसे नहीं काटना चाहिए। वह उंगली की रक्षा करता है, उंगली को बलिष्ठ बनाता है और इस रूप में वह भी उपयोगी अंग है। इतने पर भी कोई उसे काटने पर ही उतारू हो जाता है तो उसे कष्ट भुगतना पड़ेगा। हाँ, मुर्दा नाखून जो बढ़ गया है, उसे न काटना भी पीड़ा का कारण है। अतएव उसे काट फैंकने में ही कल्याण है।

यही बात परम्पराओं और रीति-रिवाजों के विषय में भी है। अन्तर यही है कि नाखून को लेकर बड़े संघर्ष हो रहे हैं। एक ओर से कहा जा रहा है कि पुराने जमाने से चले आये यह रीति-रिवाज हमारे काम के नहीं हैं, इन्हें जड़ से उखाड़ कर फैंक देना चाहिए। जो लोग नई रोशनी के हैं, वे जब आप में

गड़बड़ देखते हैं तो कहते हैं कि इस धर्म को ही बर्बाद कर दो। धर्म ने प्रजा के सिर फुड़वाये हैं, हमें आपस में लड़ाया है और स्वार्थसाधन करना सिखलाया है। हम धर्म से ऊब गये हैं, बेचैन हो गये हैं। धर्म से कल्याण नहीं होने वाला है।'

मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों ने पंथों, सम्प्रदायों और रूढ़ियों को ही धर्म समझ लिया है। उन्होंने धर्मात्मा कहलाने वाले कुछ व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन भले ही किया हो, इसीलिए वे जिंदा नाखून को भी काट फैंकने के लिए तैयार हो गये हैं। इससे समाज का भला नहीं होगा। फिर भी अगर काट कर फैंक दिया गया तो असह्य दर्द होगा और भलाई नहीं होगी।

दूसरी ओर पुराने विचारों के लोग हैं। उनका आग्रह हो रहा है कि जो नाखून मुर्दा हो गया है, बढ़ा हुआ है, उसमें जीवन नहीं रह गया है और जब-तब खून बहाता करता है, उसमें मैल भरता है फिर भी उसको मत काटो, यह तो हमारा धर्म है, सम्प्रदाय है और परम्परा है।

इस तरह दोनों ओर अति हो रही है और इस कारण सारा भारत और समाज, पंथ, मत और मान्यताएँ भी बेचैन हैं।

किन्तु जिस रूप में हम सोच रहे हैं, उस रूप में जैनधर्म ने नहीं सोचा है। उसने तो यही कहा है कि धर्म दो रूप में है—जिंदा सम्प्रदाय और मुर्दा सम्प्रदाय। जो सम्प्रदाय, मान्यता या रूढ़ि अच्छी है, जिससे समाज का कल्याण हो रहा है, उसे नहीं काटना है, उसे नष्ट और बर्बाद नहीं करना है।

आखिर उसे नष्ट करके भी क्या करोगे? उसकी जगह कोई नई परम्परा घड़नी पड़ेगी। फिर उसी को क्यों नहीं जारी रहने देते?

जब उससे समाज का कल्याण हो रहा है तो फिर उसे काट कर फैंकने की क्या आवश्यकता है ?

हाँ, जो मान्यताएँ या परम्पराएँ सड़ गई हैं और हमारे जीवन को कोई उल्लास नहीं दे रही हैं और जो निर्जीव नाखून की तरह बढ गई हैं, उनको काट कर फैंक देना हमारा हक है। ऐसा करने का भगवान् महावीर आदि महापुरुषों ने हमें अधिकार दिया है। उन्होंने हमें आदेश दिया है कि गलत और हानिकारक परम्पराओं को काट कर नई परम्पराएँ बनाते रहो, जिससे जागृति रहे।

तो अभिप्राय यह है जो सम्प्रदाय जिन्दा नाखून है, जिसमें जीवन है, उसे मत काटो, किन्तु जिसमें से धर्म निकल गया है और जो परम्परा धर्म से आगे निकल गई है और समाज को दुख दे रही है और बर्बाद कर रही है, उसको काट फैंकना आवश्यक है। तो मैं विचार कर रहा हूँ कि जैनधर्म की ओर से यह ऐसा फैसला है, जो हमारे जीवन को रोकता भी नहीं है और गलत ढंग से काट फैंकने की आज्ञा भी नहीं देता है। वह हर जगह विवेक और विचार को उत्तेजन देता है और कभी किसी एकान्तवाद को प्रश्रय नहीं देता।

सम्प्रदाय, पथ और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ठ है और हमें अपनी विवेक-बुद्धि से उनका विश्लेषण करना चाहिए। विश्लेषण किया जायगा तो पता चलेगा कि धर्म का रूप और है और पंथ का मतलब कुछ और है। किन्तु लोगों ने पथ को ही धर्म समझ लिया है और इसी कारण आज बड़ी गड़बड़ फैली हुई है।

पंथ में धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म में पंथ नहीं है। किसी परम्परा में धर्म हो सकता है किन्तु वह परम्परा, धर्म पर सवार नहीं हो सकती। यही कारण है कि आज के युग तक जैन परम्परा में भी

समय-समय पर अनेक परिवर्त्तन होते आये हैं। धर्म ध्रुव सत्य है, वह त्रिकाल अबाधित है और उसमें कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता, किन्तु परम्पराओं में, मान्यताओं में परिवर्त्तन होते आये हैं और होते रहेंगे। परम्पराएँ तीर्थङ्करों के युग में भी बदली हैं और बाद में भी बदली हैं।

इस रूप में एक कर्त्तव्य, एक समय और एक जगह धर्म होता है तो दूसरे समय और दूसरी जगह अधर्म हो जाता है। अतएव परम्परा को हमें धर्म नहीं मान लेना चाहिए, और जब ऐसा मान बैठते हैं तो गड़बड़ होती है और गलतफहमी होती है।

जैनधर्म से कोई पूछे कि हम जन्म का दशोटन कैसे करें? हम विवाह-शादी कैसे करें? गधे पर चढ़ कर क्यों न करें और घोड़े पर चढ़ कर क्यों जाएँ? कितना लें और कितना न ले? तो जैनधर्म इन प्रश्नों का क्या उत्तर देगा? जैनधर्म में विवाह आदि की कोई रूपरेखा नहीं है, कोई प्रणाली नहीं है और वह वहाँ मौन हो गया है, वह क्या बताए कि यह धर्म है और यह अधर्म है! कपड़े की दुकान करना धर्म है या चाँदी-सोना की दुकान करना धर्म है, यह जैनधर्म नहीं कहता। मृत्यु के सम्बन्ध में उससे पूछा जाय कि मृतक को जला देना धर्म है या गाड़ देना धर्म है? तो वह क्या बतलाए?

मतलब यह कि इन सब बातों का धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो प्रवृत्तियाँ हैं, मान्यताएँ हैं और रूढ़ियाँ हैं। कहीं किसी रूप में और कहीं किसी रूप में प्रचलित हैं। यहाँ धर्म का कोई प्रश्न नहीं है। अलबत्ता जैनधर्म यह कहता है कि जिस रूढ़ि और परम्परा में विवेक और विचार को स्थान हो, उसे कायम रखो और जो विवेक और विचार के विरुद्ध हो, उसे छोड़ दो। उदाहरणार्थ—जैनधर्म यह कहेगा कि—मृतक शरीर को यदि

फैंक दिया या गाड़ दिया तो वह सड़ेगा और असंख्य सम्मूर्छिम जीव पैदा होंगे, परन्तु अग्नि में जला देने पर जीव पैदा नहीं होंगे। वह एक ही बार में भस्म हो जायगा।

तो जिस-जिस परम्परा के जरिये अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृद्धि हो रही हो, वासना कम हो रही हो, अन्याय और अत्याचार कम हो रहे हों, वह परम्परा धर्मयुक्त है। और जिस परम्परा से अहिंसा, सत्य आदि की हानि होती हो और अन्याय तथा अत्याचार की वृद्धि होती हो, वह अधर्म है। और जिस परम्परा में जितने अंश में यह बातें होंगी, वह उतने ही अंश में धर्मरूप या अधर्मरूप होंगी।

इस प्रकार जैनधर्म के पास एक ही सिद्धान्त है कि जिस क्रिया के द्वारा तुम्हारा जीवन ऊँचा उठ रहा है, वह धर्म है और जिसके द्वारा जीवन नीचे गिर रहा है, वह अधर्म है।

जैनधर्म और वैदिकधर्म की मूल संस्कृति में यही बड़ा अन्तर है। वैदिक संस्कृति में बच्चा जन्मता है तो अपने साथ नियमों की गठरी लेकर आता है। बच्चे के जन्म के साथ ही अमुक २ प्रकार के विधि-विधान करो, इतने दिन बाद उसे चाँद-सूरज के दर्शन कराओ, इतने दिनों में मुंडन कराओ, अमुक तरह से यज्ञोपवीत (जनेऊ) पहनाओ, इस प्रकार से विवाह-संस्कार करो। जन्म से लेकर मरण तक ही नहीं, जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् भी वैदिक धर्म के रीति-रिवाज खड़े हैं। मरने के बाद भी कोई न कोई मंत्र और पुरोहित सामने खड़ा दिखाई देता है! आशय यह है कि वैदिक संस्कृति ने जीवन के प्रत्येक कार्य को धर्म के साथ बाँध देने की कोशिश की है, परन्तु जैनधर्म अपने मूल रूप में, ऐसी बातों से दूर रहा है।

वह अगर रीति-रिवाजों के दल-दल में फँस जाता तो स्वच्छ नहीं रह सकता था !

जैनधर्म तो बहने वाला धर्म है। वह किसी के पैरों की बेड़ियाँ नहीं बनना चाहता। किसी लौकिक रिवाज के विषय में जैनधर्म से पूछा जाय कि अमुक रिवाज धर्म-सम्मत है या नहीं है, तो जैनधर्म यही कहेगा कि अगर अमुक रिवाज विवेक से परिपूर्ण है तो वह धर्म हो सकता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के एक सद्गृहस्थ और जैनधर्म के विद्वान् आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजी ने इस सम्बन्ध में बड़ा ही महत्वपूर्ण निर्णय दिया है—

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र नो व्रतदूषणम् ॥

जैनों को सभी लौकिक रीति-रिवाज प्रमाण और मान्य हो सकते हैं मगर शर्त यही है कि उनसे सम्यक्त्व की किसी प्रकार की हानि न हो और व्रतों में कोई दोष न आता हो।

यह तो है नहीं कि जैनी का जीवन और ढंग से चलता हो और वैदिक धर्मी का जीवन और ढंग से, जैन और तरह से मरता हो और वैदिकधर्मी और तरह से मरता हो। दोनों को मरना पड़ता है, दोनों को जन्म लेना पड़ता है और दोनों को जीवन-निर्वाह के वही ढंग अपनाने पड़ते हैं। जैन भी विवाह करता है और वैदिक भी, जैनी भी भोजन करता है और वैदिक भी। यह तो नहीं है कि जैन भोजन करे और वैदिक न करे। मगर इन बातों में रीति-रिवाज बताने की जैन शास्त्रों को आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैनधर्म कहता है कि इन बातों को बतलाने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो मनुष्य अपने वातावरण से और संस्कारों से आप ही सीख

जाता है। और यह भी कहा कैसे जा सकता है कि यह रिवाज धर्म है और वह रिवाज अधर्म है ? चोटी रखवाने का रिवाज धर्म है और न रखवाने का रिवाज अधर्म है ? इन बातों में धर्म या अधर्म का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। धर्म और अधर्म तो विवेक और अविवेक में है। हिंसा आदि से बचने और न बचने में है। तुम किसी भी रिवाज का अनुसरण करो, अपने सम्यक्त्व और चारित्र की रक्षा करते रहो !

पुराने युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह के समय बैल को ताजा मार कर उसका गीला, खून से भरा लाल चमड़ा वर-वधू को ओढाया जाता था। परन्तु जैनों को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था ? इसका अनुसरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतों के सामने रीति-रिवाजों का क्या मूल्य है ? तो जैन इस रिवाज के लिए क्या करे ? वैदिक परंपरा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और उन्होंने शायद इस चीज को धर्म का भी रूप दिया हो, परन्तु जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्हें यह प्रथा अटपटी लगी। उन्होंने इसमें सम्यक्त्व और व्रत-दोनों की हानि देखी। अतएव जैनगृहस्थों ने और कई जैनाचार्यों ने उस हिंसापूर्ण परम्परा में संशोधन कर लिया। उन्होंने कहा—गीला चमड़ा न ओढ़ाया जाय, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ़ लिया जाय, जिससे उस परम्परा का मूल उद्देश्य कायम रह जाय और सम्यक्त्व में तथा व्रतों में दूषण भी न लगने पाए।

लाल कपड़ा प्रसन्नता का—अनुराग का द्योतक माना जाता है। जैनों ने जब से यह परम्परा चलाई, तभी से लाल कपड़े को वह महत्व मिला। इस प्रकार जैनोंने रक्त से लथपथ चमड़े के बदले लाल कपड़ा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही

है। आज भी विवाह आदि अवसरों पर स्त्रियाँ लाल कपड़े पहनती हैं। तो जैनों ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बड़ी क्रान्ति की है इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक देखना चाहें तो 'गोभिल्ल गृह्यसूत्र' में देख सकते हैं।

उसी युग में एक परम्परा और थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु जब जैनधर्म का प्रचार बढ़ा तो खोपड़ी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त हो गई। जैन-धर्म के अनुसार उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित हुई। इस प्रकार जैनधर्म की बदौलत खोपड़ी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई, तब नारियल का दूसरा नाम श्रीफल हो गया।

आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपडी की शक्ल का होता है वह मानव की सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नरमुण्ड का प्रतीक और प्रतिनिधि है।

उस समय के जैनियों ने कहा—खोपड़ी रखने से क्या लाभ है? खोपड़ी अपावन और अशोभन वस्तु है और जंगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से परम्परा का पालन भी हो जायगा और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जायगी।

इस प्रकार उस समय के जंगली रिवाज को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी देवताओं के आगे मनुष्य की खोपड़ी चढ़ाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनियों ने उस परम्परा को खत्म करके और इस नवीन परम्परा को कायम करके मानवीय वृत्ति को कायम किया है। जैनों ने नारियल के रूप में जो प्रतीक रक्खा, उसे अन्य धर्मा-

वलम्बियों ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। तो जैनों के द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओं और परम्पराओं में, सर्वत्र, ही आप अहिंसा की स्फुरणा देखेंगे।

व्यापार धंधे के विषय में भी जैनधर्म यही कहता है कि विवेक और विचार को आगे रक्खो। वह प्रत्येक कार्य में विवेक को आगे रखने का परामर्श देता है। कहता है:—

पन्ना समिक्खए धम्मं।

प्रज्ञा द्वारा—विवेक-बुद्धि द्वारा धर्म की समीक्षा करना चाहिए। अन्वेषण करना चाहिए।

जिस काम में जितना ही विवेक रखोगे, और जितनी वासना कम करोगे, उसमें उतनी ही कम हिंसा होगी। अहिंसा की ओर जितना बढ़ा जायगा, उतनी ही धर्म की कमाई होगी।

जैनधर्म ने व्यवसायों में भी अनार्य और आर्य का भेद किया है और अनार्य व्यवसायों का परित्याग करके आर्य व्यवसायों में भी विवेकबुद्धि रखने की प्रेरणा की है।

सब से श्रेष्ठ बात तो यह है कि उसने व्यर्थ की परम्पराओं और चीजों को पनपने नहीं दिया है और उन्हें जड़मूल से नष्ट कर देने का ही प्रयास किया है।

पुराने जमाने में कई प्रकार के क्रियाकाण्ड प्रचलित थे, यज्ञ और होम आदि के रूप में अनेक हिंसामय परम्पराएँ चल रही थीं और वैदिक सम्प्रदाय ने उन्हें धर्म का रूप दे रक्खा था, परन्तु जैनों ने उन्हें मानने से साफ इंकार कर दिया। उन्होंने व्यर्थ की हिंसा को कभी आश्रय नहीं दिया और न सम्यक्त्व की जड़ काटने वाली परम्परा

को कभी पाला-पोसा। यही कारण है कि वैदिक सम्प्रदाय में आज भी श्राद्ध करने की परम्परा चल रही है, पर जैनों ने इसका विरोध किया है। उन्होंने कहा है—अगर तुम्हें दान करना हो तो और तरह से कर सकते हो, किन्तु यह समझना कि यहाँ ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने से पितरों का पेट भर जायगा और देने से पितरों को मिल जायगा, एकदम मिथ्या समझ है। इसमें कोई तथ्य नहीं है। पिण्ड पितरों को पहुँच जाता है, इससे बढ़कर तर्कहीन कल्पना और क्या हो सकती है?

तो जैनों ने इस परम्परा में सम्यक्त्व की अर्थात् सत्यनिष्ठा की जड़ कटती देखी और उसे कतई अस्वीकार कर दिया। उन्होंने दान देने की दूसरी प्रणाली को ही अपनाया, जिससे अहिंसा आदि के तत्त्वों का ठीक-ठीक रूप में पालन किया जा सके।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि परम्पराएँ बदलती रहती हैं और उनके लिए जैनधर्म कोई विधि-विधान नहीं करता। वर्त्तमान आगमों में आपको कहीं भी ऐसी किसी परम्परा या रूढि का विधान नहीं मिलेगा। मरने, जीने और विवाह-शादी आदि की रीतियों के सम्बन्ध में न उसने कोई विधान किया और न कोई निषेध ही किया। विवाह के विषय में न उसने 'ना' कहा, न 'हाँ' कहा।

अगर जैनधर्म किसी एक जाति के रिवाजों को ठीक और दूसरी जाति के रिवाजों को गलत कहता, तो वह एक ही जाति में बद हो जाता, वह हमारे पैरों की बेड़ी बन जाता। इसके अतिरिक्त रिवाज तो रिवाज है, धर्म एक का खंडन और दूसरे का मंडन क्यों करेगा? वह तो जब भी कहेगा, अहिंसा और सत्य आदि की ही बात कहेगा!

वास्तव में ऐसा करके जैनधर्म ने बड़ा इन्किलाव किया है। उसे तो संसार की सभी जातियों के पास पहुँचना था, राजमहल से लेकर गरीबों की झोंपड़ियों तक पहुँचना था। अतएव जैनधर्म ने संसार के कायदों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, उसे इस पचड़े में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

बाद के आचार्यों ने कई लौकिक बातों को प्रमाण माना, किन्तु उन पर भी एक शर्त लगा दी। उन्होंने साधकों से कहा—किसी भी लौकिक परम्परा का पालन करने से पहले यह देख लो कि उसका पालन करने से तुम्हारे सम्यक्त्व का ह्रास तो नहीं हो रहा है? तुम्हारे किसी व्रत, नियम और प्रतिज्ञा में तो कोई दोष नहीं लग रहा है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों ने लौकिक रीतियों और रिवाजों का पालन करना प्रारंभ किया परन्तु उन्होंने शास्त्रों में उसका विधान नहीं किया। इसी कारण जैनधर्म सुरक्षित रह सका। उसे हरा-भरा रहना था, वह क्यों इन झाड़-झंखाड़ों को पैदा करता? क्यों अपने मार्ग में काँटे बिखेरने का प्रयत्न करता?

जैनधर्म तो मिथ्या विश्वासों, अन्धपरम्पराओं और अन्याय-अत्याचार की पृष्ठभूमि पर जमी हुई रूढ़ियों को काट कर फैंक देने में विश्वास करता है। ऐसी कुरूढियों को बढ़े हुए नाखून की तरह काट कर फैंक देने में ही धर्म का कल्याण है। तभी वह सत्य के द्वार तक पहुँच सकता है। धर्म के नाम पर, जनता के हित का विघात करने वाली बातों को, कितने दिन तक सहन किया जा सकता है?

जिसे धर्म का शुद्ध मार्ग अंगीकार करना है, उसे इन रीति-रिवाजों और रूढ़ियों की पुकार नहीं सुननी चाहिए। उसे तो अपने व्रतों, नियमों और प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रह कर त्याग का मार्ग पकड़ना

चाहिए। उसे किसी न किसी रीति-रिवाज का पालन तो करना होगा, क्योंकि गृहस्थावस्था में उसके बिना काम नहीं चल सकता, किन्तु उसे अपनाने से पहले वह अपने हानि-लाभ का विचार अवश्य कर लेगा, अपने सम्यक्त्व और चारित्र की सुरक्षा का खयाल अवश्य करेगा।

जो व्यक्ति जीवन में इस दृष्टि को लेकर चलता है, वह अपना भी कल्याण करता है और अपने व्यवहार के द्वारा स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करके मानवजाति का भी महान् कल्याण करता है।

२७—१०—५०

: ५ :

भारत की खाद्य समस्या

●

जब हम आज के भारतवर्ष के सम्बन्ध में विचार करते हैं और उस पुराने भारतवर्ष के सम्बन्ध में सोचते हैं, जो इतिहास में हमें उपलब्ध है, तो हमारे सामने एक गंभीर विचार उपस्थित हो जाता है। मन मन से पूछने लगता है—हम क्या से क्या हो गये हैं? हम किसी समय किस स्थिति में थे और खिसकते २ आज किस स्थिति पर पहुँच चुके हैं? जैनधर्म, वैदिकधर्म और बौद्धधर्म के उपलब्ध साहित्य पर विचार करते हैं और उसके उल्लेखों पर दृष्टिपात करते हैं, तो भारतवर्ष एक स्वर्गभूमि के रूप में नजर आता है। वह भारत! सोने का भारत जिसकी गाथाएँ और महिमाएँ हमारे प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने गाई वह भारत, जिसमें महत्त्व के गीत भूमण्डल में ही नहीं, इस संसार में ही नहीं, स्वर्ग में भी गाये जाते रहे हैं! एक आचार्य कहते हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि-भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते,
भवन्तिः भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

स्वर्ग के देवता, ससार के सर्वोत्तम सुखों में आकंठ निमग्न रहने वाले और भोगविलासों में झूमे रहने वाले प्राणी, जब भारतवर्ष के विषय में विचार करते हैं, और यहाँ के वैभव, यहाँ की विभूति, यहाँ के ऐश्वर्य, यहाँ के ऊँचे जीवन और यहाँ की पवित्रता के सम्बन्ध में सोचते हैं, तो बरबस उनके मुँह से निकल पड़ता है—धन्य हैं वे, जिन्होंने भारतवर्ष में जन्म ले लिया है ! और भाग्यशाली हैं वह प्राणी जो भारतवर्ष में जन्म लेने वाले हैं । हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य होगा यदि इस देवलोक की भूमि को छोड़ने के पश्चात् हमें भारतवर्ष में जन्म मिल जाय ! भारत में जन्म लेकर हम इस ससार को भी स्वर्ग बनाएँगे और अपने जीवन को भी ऊँचा उठाएँगे और अपने जीवन के चरम और परम लक्ष्य की—मुक्ति की—साधना भी करेंगे और इस जीवन के सम्बन्ध में चिन्ताएँ नहीं करनी पड़ेंगी, जीवन की सुख-सुविधा के सम्बन्ध में हमारे भीतर कोई संकल्प-विकल्प नहीं होगा । हम आनन्द की लहरों में बहेंगे और अपने जीवन का और आत्मा का कल्याण करेंगे ।

इस प्रकार के भारत की महिमा के गीत देवलोक में भी गाये जाते थे । किन्तु आज हमारे सामने बड़ा प्रश्न यह उपस्थित है कि वह भारतवर्ष आज कहाँ है ? क्या आज भी देवता स्वर्ग में भारत के गीत गाते होंगे ? भारतवासियों के विषय में वही पुरानी गाथाएँ दोहराते होंगे ?

पुराने भारतवर्ष के साथ आज के भारत की तुलना करते हैं तो अनुमान होता है, देवता वहाँ बैठे-बैठे आठ-आठ आँसू बहाते

होंगे और सोचते होंगे—'आज का भारतवर्ष कैसा है ? उसमें जन्म लेकर ऊँची स्वर्ग और मोक्ष की समस्या हल हो सकेगी या नहीं, यह तो दूर की बात है, किन्तु दो रोटियों की समस्या भी हल हो सकेगी या नहीं ? और जो परिवार और समाज हमें मिलेगा, उसके लिए ठीक समय पर रूखी रोटियाँ भी जुट सकेंगी या नहीं ? या सारी जिन्दगी आँसू बहाते हुए ही गुजार देनी होगी ?'

आज यही सत्य हमारे सामने आया है। आज का भारत अत्यन्त गरीब है। वह सोने का देश इस गरीबी में पहुँच चुका है कि जिस ओर नजर डालते हैं, सर्वत्र हाय-हाय, तड़फ और भूख की व्याकुलता देखते हैं। झोंपड़ियाँ तो गरीबी से मजबूर हैं ही और उनमें रहने वाले अभागे लोग चिथड़ों मे लिपटे हा-हाकार कर ही रहे हैं, किन्तु जो बने बैठे हैं, उन ऊँची हवेलियों में रहने वालों में भी बर्बादी की आग जल रही है। सारा का सारा देश अपनी जीवन-समस्याओं को सुलझाने के लिए व्याकुल है और इस दृष्टि से यह देश बड़ी नाजुक स्थिति में है।

जो देश किसी समय संसार को अन्न बाँटता रहा है और संसार को रोटी-कपड़े मुहय्या करता रहा है, धर्म और संस्कृति की आवाज लगाता रहा है, और जिसकी आवाज समुद्रों को पार करके दूर-दूर देशों में पहुँची है और आज भी दूरवर्त्ती देशों में जिसकी संस्कृति की छाप मिलती है और आज भी जावा और सुमात्रा में चम्पा और पाली की स्मृतियाँ मिलती हैं और भारत की संस्कृति के चिह्न मिलते हैं, यही वह हमारा देश है। आज उसमें यह सब चीजें देने की क्षमता है या नहीं ? मैं समझता हूँ, जो देश अपने लिए भी अन्न मुहय्या नहीं कर सकता और दूसरे देशों से रोटी पाता है, वह दूसरे देशों को संस्कृति देने कहाँ से जाएगा ?

सब से पहली संस्कृति यही है कि मनुष्य अपना पेट भरे।

मैं उस सम्प्रदाय को महत्त्व देता हूँ, जिसमें मैंने यह साधुवृत्ति ली है। मैंने उस धर्म की विचारधारा को पढ़ा है और उसमें रस आया है, आनन्द आया है। किन्तु हम आदर्श के पीछे यथार्थ को नहीं भूल सकते हैं। किन्तु भारतवर्ष का सब से बड़ा दुर्भाग्य यही रहा है कि वह अपने जीवन के आदर्शों को और जीवन की ऊँचाइयों को, जिनको कभी पूर्वजों ने प्राप्त किया था, लेकर वह बहुत ऊँची उड़ान भरता है, और उस उड़ान में इतनी दूर चला गया है कि यथार्थ से विमुख हो गया है। जीवन की समस्याओं को भूला हुआ है और उनके संबध में कोई चिन्तन नहीं करता और मरने के बाद स्वर्ग और मोक्ष पाने की साधनाओं के पीछे ही दौड़ता रहा है। वह ऊँची-ऊँची कल्पनाओं की दुनिया में सोता रहा है, उसने इस जीवन के यथार्थ की समस्याओं को सुलझाने में सहयोग नहीं दिया। सहयोग दिया होता तो भारतवर्ष का पतन शुरू न होता।

मैं समझता हूँ, कोई भी देश स्वप्नों की दुनिया में जीवित नहीं रह सकता और कल्पना के लोक में नही चल सकता। कहीं भी कोई भी संस्कृति और धर्म मन की दुनिया में बद नहीं रह सकता। उसे मन की दुनियाँ से बाहर निकलना पड़ेगा और सामने उपस्थित समस्याओं को यथार्थवाद के ठोस धरातल पर खड़े होकर सुलझाना पड़ेगा। ऐसा किये बिना हम अपना और देश का भला नहीं कर सकते। मैं कोरे आदर्शों के सपने देखने वालों से मिला हूँ और मैंने उनसे गंभीरता से बातें की हैं। कहना चाहिए, हमारे विचारों को और वाणी को आदर कहीं मिला है तो कहीं तिरस्कार भी मिला है और जीवन में कई बार कड़वे घूँट भी पीने पड़े हैं। किन्तु हमें उस सिद्धांत के पीछे और विचारों के पीछे, जो यथार्थवाद से समस्याओं को हल करने का मार्ग सुझाते हैं, कड़वे घूँट पीने के लिए तैयार

रहना चाहिए और समझ रखना चाहिए कि सत्य के लिए लड़ने वालों को सर्व प्रथम पीने के लिए जगह-जगह जहर के प्याले ही मिलेंगे, अमृत नहीं मिलेगा !

हाँ, तो इस रूप में भारतवर्ष की स्थिति बड़ी पेचीदा है। जीवन जब पेचीदा हो जाता है तो वाणी भी पेचीदा हो जाती है और जीवन उलझा हुआ होता है तो वाणी भी उलझ जाती है। जीवन का सिद्धांत साफ नहीं होगा तो वाणी भी साफ नहीं होगी। अतएव हमें उन समस्याओं को सुलझाना है और वाणी को साफ बनाना है और जब तक धर्मगुरु तथा राष्ट्र और समाज के नेता अपनी वाणी को उस उलझन में से नहीं निकाल लेंगे और अपने मन को साफ नहीं बना लेंगे, तब तक संसार को देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है।

लोग मरने के बाद स्वर्ग की बातें करते हैं, किन्तु इस जीवन में भी स्वर्ग की बात सोचनी चाहिए। जो जीवन में बना है, वही भविष्य में आने वाला है। जो जीवन यहाँ नहीं बना है, वह मरने के बाद भी देश को मृत्यु की ओर ही ले जाएगा। वह देश को जीवन की ओर नहीं ले जाएगा।

तो आज का भारत गरीब है। हमको मालूम है क्योंकि हम भिक्षापात्र साधुचर्या के नाते यत्रतत्र घूमते हैं। सम्भव है, ब्यावर या दिल्ली में रहने वालों को न मालूम हो, जिन्होंने सोने के महल खड़े कर लिये हैं और जिनके यहाँ भोजन के भण्डार भरे हैं। सम्भव है, दूसरों की रोटी का प्रश्न ही उनके दिमाग में न आए। कहा जाता है कि जिनके यहाँ दूध के प्याले कुत्तों द्वारा ठुकराये जाने को हैं, उन्हें क्या पता है कि दूसरों को रोटियाँ मिलती हैं या नहीं ?

हम देहात में से गुज़रते हैं तो देखते हैं कि बेचारे गरीब ऐसी रोटियाँ और ऐसा अन्न खाते हैं कि शायद आप उसे देखना भी

पसंद न करें और हाथ में भी न लें। और संभव है, दो-चार दिन रहना पड़ा तो हमारे ये भिक्षु भी तिलमिलाने लगते हैं और इनके भी पैर उखड़ जाते हैं ! तो यही आज भारत की प्रधान समस्या है और इसी को आज सलझाना है। आप जब तक अपने आपमें बंद रहेंगे, कैसे मालूम पड़ेगा कि संसार कहाँ रह रहा है ? किस स्थिति में जीवन गुजार रहा है ? संसार को रोटियाँ मिल रही हैं कि नहीं ? तन ढँकने को कपड़ा मिल रहा है या नहीं ?

आज का भारतवर्ष इतना गरीब है कि बीमार अपने लिए दवा भी नहीं जुटा सकता और यदि आराम लेना चाहता है तो वह भी नहीं ले सकता ! जिसके पास एक दिन के लिए दवा खरीदने को भी पैसा नहीं है, वह आराम किस बिरते पर कर सकेगा ? इन सब बातों पर आपको गंभीरता से विचार करना है।

अन्न मनुष्य की सब से पहली आवश्यकता है। मनुष्य इस शरीर को, इस पिण्ड को, लेकर खड़ा है और सर्वप्रथम अन्न की और फिर कपड़े की ही इसको आवश्यकता है। इस शरीर को टिकाये रखने के लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो धर्म की बड़ी बड़ी ग्रंथियाँ भी हल हो जाती हैं। हम पुराने इतिहास को पढेंगे और विश्वामित्र की कहानी पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि बारह वर्ष के दुष्काल में वह कहाँ से कहाँ पहुँचे और क्या-क्या करने को तैयार हो गए ! वे किस महान् सिद्धान्त से गिर कर कहाँ-कहाँ भटके ? मैंने उस कहानी को पढ़ा है और उसे आपके सामने दोहराने लगूँ तो सुन कर आपकी आत्मा भी तिलमिलाने लगेगी। उस द्वादशवर्षीय अकाल में बड़े-बड़े महात्मा केवल दो रोटियों के लिए इधर से उधर भटकने लगते हैं और धर्म-कर्म को भूलने लगते हैं। स्वर्ग और मोक्ष किनारे पड़ जाते हैं और पेट की

समस्या के कारण, लोगों पर जैसी गुजरती है, उससे देश की संस्कृति नष्ट हो जाती है और केवल रोटी की फिलॉसफी ही सामने रह जाती है।

तो अन्न की समस्या ऐसी समस्या है कि सारे धर्म-कर्म की विचारधाराएँ और फिलॉसफियाँ ठिकाने लग जाती हैं और सब कुछ है, तो अन्न के बिना एक दो दिन बिताये जा सकते हैं, जोर लगा कर कुछ ज्यादा दिन निकाल देंगे, किन्तु आखिरकार भिक्षा के लिए पात्र उठाना ही पड़ेगा। एक आचार्य ने कहा है:—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते॥

मैंने हिन्दी में इसका अनुवाद यों किया है—

भूमण्डल में तीन रत्न हैं पानी अन्न सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों मे करते, रत्न कल्पना पामर प्राणी।

इस पृथ्वी पर तीन ही मुख्य रत्न हैं—अन्न, जल और मीठी बोली। जो मनुष्य पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना कर रहा है, आचार्य कहते हैं कि उससे बढ़ कर पामर प्राणी और नहीं है। जो अन्न को रत्न के रूप में स्वीकार नहीं करता और जल को तथा मधुर बोली को रत्न के रूप में स्वीकार नहीं करता है, समझ लीजिए कि वह जीवन को स्वीकार नहीं करता है। उससे ज्यादा दया का पात्र और कौन होगा?

पुराने युग की बात है। एक आचार्य हो गए हैं और उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की बात कही है। वह इस तरह है—

राम लंका से लौटे और चौदह वर्ष का वनवास भोगने के बाद अयोध्या में आए। जनता उनके स्वागत के लिए गई। हजारों

-लाखों प्रतिष्ठित लोग स्वागत-समारोह में सम्मिलित हुए। नमस्कार करते समय मर्यादापुरुषोत्तम ने बडे और साधारण आदमियों से, सब से पहले, यही प्रश्न किया—अन्न का प्रबन्ध तो ठीक है? खाने को रोटी तो भली-भाँति मिल रही है?

राम ने यह प्रश्न किया तो लोग हँसने लगे। उन्होंने सोचा—महाराज वनवास से भूखे आये है, वनफल खाते खाते लौटे हैं और महाराज को रोटी नहीं मिली तो समझ रहे हैं कि यहाँ भी नहीं मिलती होगी! लोगों ने राम से कहा—महाराज, यहाँ अन्न का कोई घाटा नहीं है। आप देखेंगे तो मालूम हो जायगा कि यहाँ रोटियों की कोई कमी नहीं है।

और वहाँ की घबराहट को समझने में रामचन्द्र को देरी नहीं लगी तब उन्होंने सोचा-मैंने जीवन का आधार सत्य कहा था, किन्तु यह लोग हँसी में उड़ा रहे हैं! मगर उस समय वे मौन ही रहे।

जब राम अयोध्या में पहुँच गये और राजतिलक हो चुका तो उन्होंने जनता से कहा—मैं बहुत वर्षों बाद आया हूँ, अतः प्रजा को प्रीतिभोज देना चाहता हूँ। प्रीतिभोज का समय निश्चित हो गया और समय पर जनता की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई। सब को यथास्थान दिया गया और पात्र वगैरह रख दिये गये। जब परोसने का समय आया तो राम ने कहा—मैं अपनी प्रजा को स्वयं परोसूँगा और अपने हाथ से भेंट अर्पण करूँगा।

सोने के थालों में हीरे-जवाहरात भर-भर कर आने लगे! लोगों ने देखा कि सब से पहले हीरे और जवाहरात मिले है तो वे आनन्द मे विभोर हो गए। परोस चुकने के पश्चात् राम ने कहा—कीजिए भोजन!

भोजन करने की बात आई तो लोग असमंजस में पड़ गए। सोचने लगे—कैसे करें भोजन? क्या खाएँ?

राम ने फिर कहा—प्रारंभ कीजिए न भोजन? तो सब बोले महाराज, प्रारंभ तो करें, किन्तु करें काहे से? जो सामने है वह तो जेब का भोजन है, पेट का नहीं। इसके लिए तो जेब छटपटा रही है। आज्ञा हो तो इसे जेब में रख लें। यह खाने की चीजें नहीं हैं। इन्हें खाएँ तो कैसे खाएँ?

राम ने मुस्कराकर कहा—यह जेब के लिए नहीं है। यहाँ तो भोजन की बात है।

लोग चकित होकर कहने लगे—महाराज, पर इन्हें खाएँ कैसे?

राम बोले—मैं वन गया तो आप लोगों को रोटी खाते छोड़ गया था और यही समझता था कि आप अन्न खाते होंगे। और जब चौदह वर्ष के बाद लौटा तो आपकी मनोदशा देख कर सोचा—अयोध्या के लोग अन्न नहीं खाते होंगे, अब तो हीरे और जवाहरात खाने लगे होंगे। जब मैंने रोटी की बात पूछी थी तो आप लोग हँसने लगे थे। इससे मुझे अनुमान हुआ कि आपको रोटियों की आवश्यकता नहीं रही।

राम का उत्तर सुनकर लोग अवाक् हो गये। तब राम ने कहा—यह हीरे और जवाहरात जीवन के अलंकार हैं, वास्तविक सत्य तो रोटी ही है!

कोई कितने ही ऊँचे महल में रहता हो, वह भी हीरे और जवाहरात नहीं खाता है। महलों में और झोंपड़ियों में खाने के लिए अन्न की ही पुकार है। जो संसार की बहुत बड़ी ऊँचाइयों पर पहुँच गये हैं, उन्हें भी अन्न चाहिए और जो साधारण स्थिति में पड़े हैं

उन्हें भी रोटी चाहिए। जो धर्मात्मा हैं उन्हें भी रोटी अनिवार्य है। अन्न की समस्या जीवन के लिए उपेक्षणीय समस्या नहीं है। और साधनों का अभाव सहन किया जा सकता है, किन्तु अन्न का अभाव असह्य है। जब तक जीवन है, अन्न से छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

तो इस रूप में अन्न हमारे जीवन की सबसे पहली समस्या है। यदि इस समस्या को हल नहीं किया गया तो इस देश में एक बड़ी जबर्दस्त क्रान्ति आने वाली है। याद रखना चाहिए कि संसार में आज तक जितने भी इन्क़िलाब आये हैं, रोटी के पीछे ही आये हैं।

आज भारतवर्ष के एक किनारे तिब्बत में आग लगी है। नेपाल में क्रान्ति हुई और कराई जा रही है। भारत वर्ष आज यदि रोटी की समस्या को हल नहीं कर रहा है, तो समझ लीजिए कि क्रान्ति का प्रवाह चला ही आ रहा है। वह रुक नहीं सकता। फिर कौन-सा धर्म है जो उस प्रवाह के सामने खड़ा हो जाय? और कौन-सी संस्कृति है जो सीना तान कर भूखे देश को क्रान्ति के प्रवाह से बचाने के लिए खडी हो जाय? इन्क़िलाब बाहर से आवें या नहीं, यहीं पैदा होंगे और अन्न के एक-एक दाने के लिए क्रान्ति मच जायगी। अगर समय रहते न समझे और पुरानी सस्कृति और राष्ट्रीय नारों की आड़ में ज़िन्दा रहना चाहा, तो समझ रखिए कि यह स्वप्नों की दुनिया नहीं है।

दूसरी भी कहानियाँ पढ़ी हैं। फ्रांस के सम्राट् की भी कथा पढ़ी है। सम्राट् ऊपर महल में बैठा था और उसके नीचे से जनता हजारों की संख्या में रोटी के लिए पुकार करती जा रही थी। जनता की आवाज़ सुन कर सम्राट् ने अपने मंत्री से पूछा—क्या बगावत हो

रही है ? तब मंत्री ने कहा—यह बगावत नहीं, इन्क़िलाब है। रोटी की आवश्यकता ने इस इन्क़िलाब को पैदा किया है। देश बदल गया है। हम रोटी का प्रश्न हल नहीं कर सकते हैं और जनता के लिए दो समय का खाना मुहय्या नहीं कर सकते हैं।

जिस देश में हजारों और लाखों लोग भूखे उठते और भूखे ही सोते हैं और फिर भूखे उठते और सोते हैं, जिस देश में सर्दी और लज्जा से बचने के लिए कपड़ा नहीं हैं, और इस प्रकार जो अपनी अन्न और वस्त्र की समस्या को हल करने में असमर्थ है, वह शान्ति से रहना चाहे तो कैसे रह सकता है ?

नीचे आग जल रही है और दूध उबल रहा है। आप पानी के छींटे दे-दे कर उसे शान्त करते रहते हैं। लेकिन वह फिर उबलने लगता है। आप दूध से कहें कि तू क्यों उबलता है ? तो दूध यही कहेगा—नीचे आग जल रही है और तुम चाहते हो कि मैं शान्त पड़ा रहूँ ? कैसे शान्त रह सकता हूँ ?

तो स्थिति यह है कि जनता के पेट में भूख की ज्वालाएँ धधक रही हैं और आप उन्हें ठंडा करने के लिए राष्ट्रीयता के नाम पर, धर्म के नाम पर, या महावीर, बुद्ध, कृष्ण या राम के छींटें देते रहें तो, मैं समझता हूँ, आप जनता के मन को ठंडा नहीं कर सकते। हाँ, कुछ देर के लिए आप उसे भुला सकते हैं, पर जब तक वह ज्वालाएँ शान्त न होंगी—आग नहीं बुझेगी—तब तक जनता शान्त नहीं हो सकती।

जब से हम अपनी मर्यादा को भूल गये और जीवन के सही दृष्टिकोण को भूल गये, तब से बड़ी विकट परिस्थिति हमारे सामने आ गई है। आकाश से रोटियाँ बरसती होतीं और कोई खुदा, भगवान् या देवता उन्हें बरसा देता, तब तो जीवन की समस्या ही

कुछ और होती, किन्तु ऐसा तो है नहीं। रोटियाँ आप को ही पैदा करनी हैं और इसी भूमि से पैदा करनी हैं।

इन्सान जब तक दुनिया में है, उसके सामने आकाश है और जमीन है। आकाश से कुछ होने वाला नहीं है। वह शून्य है। जो कुछ है वह जमीन ही है और उसी से समस्या का समाधान होने वाला है।

किन्तु दुर्भाग्य से सब धर्मों में ज़हर के कीटाणु लग गये और उन्होंने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया कि जो लोग दूसरों को भी रोटी मुहय्या करते है, जो सर्दी और गर्मी सहन करके अपने जीवन को घुला देते हैं, जो सब से ज्यादा श्रम करके उत्पादन करते हैं, उनकी प्रतिष्ठा को खत्म कर दिया! जब उनकी प्रतिष्ठा खत्म हो गई तो उन्होंने भी समझ लिया कि हम हीन हैं, नीच हैं, बुरे हैं और पापी हैं और हमने पाप का काम ले लिया है! दूसरा वर्ग, जो विचारकों का था, धर्म और संस्कृति के नाम पर आगे बढ़ गया कोई पैसे के बल पर आगे बढ़ गया। उसने अच्छे २ दृष्टिकोण बना लिए और वह समाज में प्रभुत्व भोगने लगा। उसने समझ लिया कि उत्पादक वर्ग नीचा है और वह पाप कर रहा है। इस रूप मे मजदूर और किसान गुनहगार हैं और महापापी हैं।

नतीजा यह है कि किसान और श्रमिक लोग आज अपनी ही निगाहों में गिर गये हैं। उन्हें न अपने प्रति श्रद्धा है और न अपने धंधे के प्रति। उन्होंने प्रतिष्ठा के भाव खो दिये हैं। और वह महत्त्व-पूर्ण पद, जो जनता की आँखों में ऊँचा होना चाहिए था, नीचा हो गया है और पद के विषय में किसी को रस नहीं रह गया है।

इस प्रकार की धारणाएँ जब तक बनी हैं, उत्पादन की समस्या हल होने वाली नहीं है। जिन वर्गों को आज आप नीचा समझ रहे

हैं, उन्हें नीचा समझना छोड़ दीजिए और उनके मन में उत्साह पैदा कीजिए कि वे बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं जो जनता के लिए रोटियाँ पैदा कर रहे हैं। महलों में विलास करने वाले 'अन्नदाता' अब नहीं रहे। उनका आसन खाली हो गया है। उनकी जगह 'अन्नदाता' के रूप में कृषकों की प्रतिष्ठा कीजिए, जो सही अर्थ में अन्नदाता हैं। जो अन्न के रूप में आपको जीवन दे रहे हैं, उन्हें महापापी और नीच समझना छोड़ कर जीवनदाता समझिए। अगर आपके मन में, उनके लिए प्रतिष्ठा और इज्जत की भावना उत्पन्न नहीं होती तो कोई काम बनने वाला नहीं है और 'अन्न उपजाओ' के नारे व्यर्थ ही साबित होंगे।

तो इस रूप में भारत को अपनी पुरानी भूलों को दूर करना है कि आपने खाने वालों को धर्मात्मा और पैदा करने वालों को पापी समझ लिया है। जब तक इस प्रकार की मनगढ़न्त परिभाषाओं में परिवर्तन नहीं कर लिया जाता और ठीक २ रूप में पापी और धर्मात्मा की समस्या को हल नहीं कर लिया जाता, तब तक मौजूदा हालत का तब्दील होना कठिन है। तब तक देश की यही हालत रहेगी। उसे रोटियों की भीख माँगनी पड़ेगी। वह अपनी जीवन की गुत्थियाँ सुलझा नहीं सकेगा।

आज आपके लिए दूसरे देशों से और बड़ी-बड़ी दूर से रोटियाँ आ रही हैं। यदि दुर्भाग्य से समस्या बदल जाय, युद्ध के मँडराते हुए बादल कदाचित् बरस पड़ें और रोटियाँ बाहर से न आ सकें, तो आपकी क्या दशा होगी?

जो देश अपनी रोटी स्वयं नहीं पैदा कर सकता और दूसरे देशों से, हजारों मीलों दूर से माँगने की फिक्र करता है, वह देश कब तक जिंदा रहेगा? जो कोई भी देश या समाज भीख पर जीवित रहना

चाहता है वह इतनी भयानक भूल कर रहा है कि उसका दंड उसको और उसकी हजारों पीढ़ियों को भोगना पड़ता है।

आप देखोगे तो पता चलेगा कि संसार का व्यापार तीन भागों में बँटा हुआ है—(१) उत्पादन (२) रूपान्तर और (३) स्थानान्तर। तो उत्पादन जमीन से होता है। कृषि के रूप में अन्न और कपड़ा भी जमीन से आ रहे है। महल भी जमीन से आ रहे है। और जो कुछ जमीन से आया उसीसे यह सृष्टि इस रूप में बनी दिखाई देती है।

और हजारों—लाखों जो कारखाने हैं, वे क्या कर रहे हैं? वे रूपान्तर कर रहे हैं। कारखाने में कपास आया और रुई आई और उसने खाली रूपान्तर कर दिया। इस प्रकार कल-कारखाने उत्पादन कुछ भी नहीं करते, सिर्फ रूपान्तर भर किया करते हैं। रूपान्तर का अर्थ है—किसी वस्तु को एक हालत से दूसरी हालत में ला देना। तो जब वस्तु होती तभी रूपान्तर होगा। वस्तु के अभाव में रूपान्तर किसका होगा?

और व्यापारी अकड़ कर खड़ा है और कहता है—मैं देश को दे रहा हूँ और ले रहा हूँ! मगर वह न उत्पादन कर रहा है और न रूपान्तर ही कर रहा है। वह केवल स्थानान्तर करता है। एक जगह की चीज को दूसरी जगह पहुँचा रहा है। यह स्थानान्तर-करण भी उत्पादन पर ही निर्भर है। उत्पादन न होगा तो किसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जायगा?

तो इस प्रकार सारे के सारे कल-कारखाने और समस्त व्यापार उत्पादन के ही सहारे चल रहे हैं, किन्तु आप देखते हैं कि जो वर्ग उत्पादन कर रहा है, वही सब से ज्यादा गरीब है और रूपान्तर करने वाले चैन की गुड्डी उड़ा रहे हैं। जिसने देश की गरीबी को दूर

करने के लिए अथक परिश्रम किया है, उसकी गरीबी का ठिकाना नहीं है! यही नहीं, धर्म और संस्कृति के नाम पर उस वर्ग को धक्का पहुँचाया जा रहा है और उन्हें नफरत की निगाहों से देखा जा रहा है। ऐसी स्थिति में देश की स्थिति कैसे सुधर सकती है? उत्पादन के प्रति किस प्रकार उत्साह बढ़ाया जा सकता है? अगर आप चाहते हैं कि देश अन्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर बने और उसे किसी के आगे हाथ न पसारना पड़े तो आपको उत्पादन-कर्त्ताओं की प्रतिष्ठा बढ़ानी होगी और जनता के मन में यह भावना भरनी होगी कि वे बहुत ऊँचा कर्म कर रहे है। जब किसान अपनी प्रतिष्ठा को अनुभव करेगा और अपने कर्म के लिए गौरव का अनुभव करेगा तभी देश की समस्या हल होगी।

आज इस देश की दशा कितनी दयनीय हो चुकी है! बिहार भूखों मर रहा है। लोग पटसन की रोटियाँ खा-खाकर मर रहे हैं। अखबारों में आये दिन देखते है कि अमुक युवक ने आत्महत्या कर ली है और अमुक रेलगाड़ी के नीचे कट कर मर गया है! किसी ने तालाब में डूब कर अपने प्राण त्याग दिये हैं और पुर्जा लिख कर छोड़ गया है कि मैं रोटी पैदा नहीं कर सका, भूखों मरता रहा और अपने कुटुम्ब को भूखे मरते नहीं देख सका, इस कारण आत्म-हत्या कर रहा हूँ और मर कर ही मै शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ।

जिस देश के नौजवान और जिस देश की इठलाती हुई जवानियाँ रोटी के अभाव में ठंडी हो जाती हैं, जहाँ के लोग मर कर ही अपने जीवन की समस्या को हल करने की कोशिश कर रहे हैं, उस देश को क्या कहें? उसे धर्मभूमि कहें? स्वर्गभूमि कहें? मैं समझता हूँ, किसी भी देश के लिए इससे बढ़कर कलंक की बात दूसरी नहीं हो सकती, जिस देश का एक भी आदमी भूख के कारण

मरता हो और गरीबी से तंग आकर मरने की बात सोचता हो, उस देश में रहने वाले लाखों-करोड़ों के ऊपर भी बहुत बड़ा पाप है।

एक मनुष्य क्यों भूखा मरा ? इस प्रश्न पर गंभीरता के साथ विचार नहीं किया जायगा और एक व्यक्ति की भूख के कारण की हुई आत्महत्या को राष्ट्र की आत्महत्या न समझा जायगा तो समस्या हल नहीं होगी। जो लोग यहाँ बैठे हैं और मजे में जीवन गुजार रहे हैं और जिनकी निगाह अपनी हवेलियों की चहारदिवारी से बाहर नहीं जा रही है और जिन्हें देश की हालत पर सोच-विचार करने की फुर्सत नहीं है, वे इस जटिल समस्या को नहीं सुलझा सकते।

आज बंगाल और बिहार की समस्याएँ देश के लिए सिर-दर्द हो रही हैं। इन समस्याओं की भीषणता जिन्हें देखनी है, उन्हें वहाँ पहुँचना होगा। उस गरीबी में रह कर दो चार मास व्यतीत करने होंगे। देखना होगा कि किस प्रकार वहाँ की माताएँ और बहिनें रोटियों के लिए अपनी इज्जत बेच रही हैं और अपने दुधमुँहे लालों को, जिन्हें वह रत्नों की तोल पर भी देने को तैयार नहीं हो सकती थीं, दो-चार रूपयों में बेच रही हैं!

और बंगाल-बिहार ही में क्यों, अपने प्रान्त राजस्थान को ही देख सकते हो। जैसलमेर में लोग भरूंट तोड़ कर और उन्हें साफ करके खा रहे हैं! इस प्रकार राजस्थान की समस्याएँ भी हल्की नहीं, बड़ी पेचीदी हैं और यहाँ भी अन्न की कमी है और बाहर से माँगना पड़ता है।

इस पेचीदा स्थिति में आपका क्या कर्त्तव्य है ? इस समस्या को सुलझाने में आप क्या योग दे सकते हैं ? याद रखिए कि राष्ट्र नामक कोई अलग पिण्ड नहीं है। एक-एक व्यक्ति मिल कर ही समूह और राष्ट्र बनता है। अतएव जब राष्ट्र के कर्त्तव्य का प्रश्न

आता है तो अर्थ असल में व्यक्तियों का कर्त्तव्य ही होता है। राष्ट्र को कोई समस्या हल करनी है अर्थात् राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को वह समस्या हल करनी है तो आप अन्नसमस्या को हल करने में अपनी ओर से क्या योग दान कर सकते हैं?

अभी-अभी जो बातें आपको बतलाई गई हैं, वे अन्नसमस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए हैं। मगर इस समय देश की हालत इतनी खतरनाक है कि स्थायी उपायों के साथ-साथ हमें कुछ तात्कालिक उपाय भी काम में लाने पड़ेंगे। मकान में आग लगने पर कुआ खुदने की प्रतीक्षा नहीं की जाती। उस समय तात्कालिक उपाय बरतने पड़ते हैं। तो अन्नसमस्या को सुलझाने या हल्की बनाने के लिए आपको तत्काल क्या करना है?

जो लोग शहर में रह रहे हैं, वे सब से पहले तो दावतें देना छोड़ दें। विवाह-शादी आदि के अवसरों पर जो दावतें दी जाती हैं, उनमें अन्न बर्बाद होता है। दावत, अपने साथियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने का एक तरीका है। जहाँ तक प्रेम-प्रदर्शन की भावना का प्रश्न है, मैं उस भावना का सन्मान करता हूँ, किन्तु उस भावना को व्यक्त करने के तरीके देश और काल की स्थिति के अनुरूप होने चाहिए। भारत में दावतें किस परिस्थिति में आईं? यहाँ अन्न के भण्डार भरे थे। खुद खाएँ और ससार को खिलाएँ, तो भी अन्न समाप्त होने वाला नहीं था। पाँच-पचास की दावत कर देना तो कोई बात ही नहीं थी। किन्तु आज वह हालत नहीं रही है। देश दाने-दाने के लिए मुँहताज है। ऐसे अवसर दावत देना देश के प्रति द्रोह है और राष्ट्रीय पाप है। एक ओर लोग भूख से तड़फ-तड़फ कर मर रहे हों और दूसरी ओर पूड़ियाँ, कचौरियाँ और मिठाईयाँ जबर्दस्ती गले में ठूंसी जा रही हों! इसे आप क्या कहते हैं? इसमें

करुणा है ? दया है ? सहानुभूति है ? अजी, मनुष्यता भी है या नहीं ?

मैंने सुना है, मारवाड़ में मनुहार बहुत होती है। थाली में पर्याप्त भोजन रख दिया हो और बाद में यदि पूछा नहीं गया तो जीमने वाले की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं। मनुहार का मतलब ही यह है कि दबादब-दबादब थाली में डाले जाना और इतना डाले जाना कि वह खाया न जा सके और उसका अधिकांश बर्बाद हो जाय !

युक्त प्रान्त के मेरठ और सहारनपुर जिले से सूचना मिली है कि वहाँ के वैश्यों ने, जिनका ध्यान इस समस्या की ओर गया, बहुत बड़ी पंचायत जोड़ी और यह निश्चय किया कि विवाह में इक्कीस आदमियों से ज्यादा की व्यवस्था नहीं की जायगी। उन्होंने स्वयं प्रण किया है और गाँव-गाँव और कस्बों-कस्बों में यही आवाज पहुँचाई है और इसके पालन कराने का प्रयत्न कर रहे है। क्या ऐसा करने से उनकी इज्जत बर्बाद हो जायगी ? नहीं, उनकी इज्जत में और देश की इज्जत में भी चार चाँद लग जाएँगे। आपकी तरह वे भी खिला सकते हैं और चोर-बाजार से खरीद कर हजारों आदमियों को खिलाने की क्षमता रखते हैं ! किन्तु उन्होंने सोचा हम जीवन की रोटियों के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं और भूखों के पेट के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, यह खिलवाड़ अमानुषिक है और हमें इसे बंद कर देना चाहिए।

तो सब से पहली बात यही है कि बड़ी-बड़ी दावतों का सिलसिला बद हो जाना चाहिए। विवाह शादी के नाम पर या धर्म-कर्म के नाम पर जो दावतें आज चल रही हैं, कोई भी भला आदमी उन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देख सकता। अगर आप

आदर पाना चाहते हैं तो आपको संकल्प कर लेना है कि आज से हम अपने देश के हित में दावतें बंद कर देते हैं। जब देश में अन्न की बहुतायत होगी तो खाएँगे और खिलाएँगे, किन्तु मौजूदा हालत में अन्न के एक कण को भी बर्बाद नहीं करगे।

दूसरी बात है जूठन छोड़ने की। भारतवासी खाने बैठते हैं तो खाने की मर्यादा का खयाल नहीं करते, अधिक से अधिक भर लेते हैं और फिर जूठन छोड़ देते हैं, किन्तु भारत ने कहा है कि जूठन छोड़ना पाप है जो कुछ लेना है, आवश्यकता से अधिक मत लो, और जो कुछ लिया है उसे जूठा न छोड़ो। जो लोग जूठन छोड़ते हैं, अन्न का अपमान करते हैं। उपनिषद् का आदेश है—

अन्नं न निन्द्यात्।

जो अन्न को ठुकराता है और अन्न का अपमान करता है, उसका भी अपमान अवश्यंभावी है।

एक वैदिक ऋषि तो यहाँ तक कहते हैं—

अन्नं वै प्राणाः।

अन्न तो मेरे प्राण हैं। अन्न का तिरस्कार करना प्राणों का तिरस्कार करना है।

इस प्रकार जूठन छोड़ना भारतवर्ष में हमेशा से गुनाह समझा जाता रहा है। महर्षियों ने उसे पाप समझा है।

जूठन छोड़ना एक मामूली-सी बात समझी जाती है। लोग सोचते हैं कि आधी छटाँक जूठन छोड़ दी तो क्या हो गया? इतने अन्न से क्या बनने-बिगड़ने वाला है? मगर इस आधी छटाँक का हिसाब लगाने बैठें तो आपकी आँखें खुल जाएँगी। इस रूप में एक

परिवार का हिसाब लगाएँ तो साल भर में इक्यानवे पौंड अनाज देश की मोरियों में बह जाता है। अगर ऐसे पाँच हजार परिवारों में जूठन के रूप में छोड़े जाने वाले अन्न को बचा लिया जाय तो बारह सौ आदमियों को राशन मिल सकता है।

यह विषय इतना सीधा-सादा है कि उसे समझने के लिए वेद और पुरान के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं है ? आज के युग का तकाजा है कि थाली में कुछ न छोड़ा जाय और जरूरत से ज्यादा न लिया जाय और न जबर्दस्ती परोसा जाय। यही नहीं, जो जरूरत से ज्यादा देने लेने वाले हैं, उनका विरोध किया जाय और उन्हें सभ्यसमाज में न गिना जाय।

ऐसा करने में किसी को कुछ त्याग नहीं करना पड़ता और न किसी को कोई कठिनाई ही उठानी पड़ती है। यही नहीं बल्कि सब दृष्टियों से—स्वास्थ्य की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से और संस्कृति की दृष्टि से लाभ ही लाभ है। ऐसी स्थिति में आप क्यों न संकल्प कर लें कि हमें जूठन नहीं छोड़नी है और जितना खाना है उससे ज्यादा नहीं लेना है। अगर आपने ऐसा किया तो अनायास ही करोड़ों मन अनाज बच सकता है। उस हालत में आपका ध्यान अन्न के महत्त्व की ओर आकर्षित होगा और अन्न-समस्या को सुलझाने की सूझ भी उत्पन्न होगी।

आज राशन पर तो नियंत्रण है किन्तु खाने पर नियन्त्रण नहीं है। जब आप खाने बैठते हैं तो सरकार आपका हाथ नहीं पकड़ती। यह नहीं कहती कि इतना खाओ और इससे ज्यादा न खाओ। मैं भी नहीं चाहता कि ऐसा नियन्त्रण आपके ऊपर किया जाय। मगर मालूम होना चाहिए कि आप थाली में डाल कर ही अन्न को बर्बाद नहीं करते, बल्कि पेट में डालकर भी बर्बाद करते हैं।

अपने शरीर को ठीक रूप में बनाये रखने के लिए जितने परिमाण में भोजन की आवश्यकता है, सर्व साधारण उससे बहुत अधिक खा जाते हैं उस सब का एक रस नहीं बन पाता और वह फालतू जाता है। ठीक तरह चबा कर और इतना चबा कर कि भोजन लार में मिलकर एक रस हो जाय, खाने पर मौजूदा भोजन से आधा भोजन भी पर्याप्त हो सकता है, ऐसा कई प्रयोग करने वालों का कहना है। अगर इस विधि से भोजन करना आरंभ कर दें तो आपका स्वास्थ्य भी अच्छा बन सकता है और अन्न की भी बहुत बड़ी बचत हो सकती है।

अन्न समस्या के सिलसिले में उपवास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी हमारे सामने आ गया है। भारत में सदैव उपवास का महत्त्व स्वीकार किया गया है। खास तौर से जैन परम्परा में तो उसकी बड़ी महिमा है और आज भी बहुत-से भाई-बहिन उपवास किया करते हैं। जैनों के महर्षि लम्बे-लम्बे उपवास किया करते थे। आज भी महीने में कुछ दिन ऐसे आते हैं जो उपवास में व्यतीत किये जाते हैं।

वैदिक परम्परा में भी उपवास का महत्त्व कम नहीं है। मैंने पढ़ा है कि खाने के तीन सौ साठ-पैंसठ दिनों में ज्यादा दिन उपवास के ही पड़ते हैं।

इस प्रकार जब देश में अन्न की प्रचुरता थी और उपभोक्ताओं की आवश्यकता से भी अधिक परिमाण में मौजूद था, तब भी भारतवर्ष में उपवास किये जाते थे, तो आज की स्थिति में उपवास आवश्यक हो, इसमें तो बात ही क्या है? किन्तु आप हैं जो रोज २ पेट को अन्न से लादे जा रहे हैं। जड़ मशीन को भी एक दिन आराम दिया जाता है, परन्तु आप अपनी होजिरी को एक दिन भी आराम नहीं देते और निरन्तर काम के बोझ से दबी रहने के कारण वह निर्बल

और रुग्ण हो जाती है। आपकी पाचन शक्ति कम पड़ जाती है तब आप डाक्टरों की शरण लेते हैं और पाचन शक्ति बढाने की दवाइयाँ तलाश करते फिरते हैं! मतलब यह है कि आवश्यकता से अधिक खा रहे हैं और उससे भी अधिक खाने की इच्छा रख रहे हैं!

तो एक तरफ तो करोड़ों को जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य खाना भी नहीं मिल रहा है और देश के हजारों-लाखों आदमी गल-गल कर मर रहे हैं और दूसरी तरफ लोग अनाप-सनाप खाये जा रहे हैं और भूख को उत्तेजना देने के लिए दवाइयाँ तलाश कर रहे हैं!

तो इस अवस्था में उपवास करना धर्म लाभ है और लोक लाभ भी है। देश की भी सेवा है और स्वर्ग का भी रास्ता है। जीवन की राह के और देश की गाड़ी की राह में जो खंदक पड़ गई है, उसे पाटने के लिए उपवास एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उपवास करने से हानि तो कुछ भी नहीं लाभ ही लाभ है। शरीर को लाभ, आत्मा को लाभ और देश को लाभ है। इस लोक और परलोक का भी लाभ है।

हाँ, एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। जो लोग उपवास करते हैं वे अपने राशन का परित्याग कर दें। यह नहीं कि उपवास किया और राशन जारी रक्खा। एक सज्जन ने अठाई की और आठ दिन तक कुछ भी नहीं खाया। वह मुझसे मिले तो मैंने कहा—तुमने यह बहुत बड़ा काम किया है, किन्तु यह बताओ कि आठ दिन का राशन कहाँ है? उसका भी कुछ हिसाब किताब है? उसका हिसाब-किताब यही है कि वह ज्यों का त्यों आ रहा है और घर में जमा हो रहा है। यह पद्धति ठीक नहीं है। उपवास करने वालों को अपने आपमें प्रामाणिक और ईमानदार बनना चाहिए और जब वे उपवास

करें तो उन्हें कहना चाहिए कि आज हमको अन्न नहीं लाना है! मैंने उपवास किया है तो मैं आज का अन्न कैसे ला सकता हूँ?

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जो अन्न नहीं खा रहा है, उसका अन्न लेना चोरी है। इस कथन में कटुकता हो सकती है, परन्तु सचाई है। अतएव उपवास करने वालों को इस चोरी से भी बचना ही चाहिए।

अभिप्राय यह है कि प्रामाणिकता के साथ अगर उपवास किया जाय तो देश का काफी अन्न बच सकता है और भारत की खाद्य-समस्या के हल को बड़ा भारी बल मिल सकता है। सप्ताह में या पक्ष में एक दिन भोजन न करने से कोई मर नहीं सकता, उलटा मरने वाले का जीवन बच सकता है! इससे आत्मा को भी बल मिलता है, मन को भी बल मिलता है और आध्यात्मिक चेतनाएँ भी जाग्रत होती हैं और देश की समस्या भी हल होती है। आपके एक दिन का भोजन छोड़ देने से लाखों को खाना मिल जायगा।

इस संबंध में एक बात पर और विचार करने की आवश्यकता है। जब हमारे देश में अन्न का भंडार भरा था और दुनिया भर की भोजन-सामग्री बिखरी पड़ी थी, लोग स्वयं खाते और दूसरों को भी खिलाते और फिर भी अन्न बचा रहता था, तब मनुष्य उस अन्न को लेकर पशु-पक्षियों के पास पहुँचा और उन्हें देने के लिए उसके हाथ उठे। उस समय हमारे देश में जो परम्पराएँ आईं हम उनका आदर करते हैं। मनुष्य ने भरपेट खाया और दूसरों को दिया। जब दूसरों ने कह दिया कि हमारे पास तो पहले ही आवश्यकता से अधिक मौजूद है, और हम लेकर क्या करेंगे? तो मनुष्य ने उसे सड़ने के लिए पड़ा नहीं रहने दिया। उसने पशुओं और पक्षियों को भी बाँटना शुरु किया! भारतवर्ष का यह महान् गौरव है कि वह एक दिन पशुओं, पक्षियों और बन्दरों को भी

बाँटने को जुट गया और बोला—'मेरे पास है, खाओ तुम भी!' इस प्रकार जो प्रकृतिजीवी थे और जिन्हें अन्न की आवश्यकता नहीं थी, उन्हें भी उसने अन्न अर्पण किया। यह क्या साधारण बात थी? नहीं, यह बहुत बड़ी बात थी।

एक जापानी सज्जन मुझसे मिले और जब मिले तो अहिंसा के संबंध में वार्त्तालाप हुआ। उनसे कहा गया—देख लीजिये कि भारत में अब भी सांपों को दूध पिलाया जाता है! यह भारत की संस्कृति का एक सुन्दर नमूना है। जो सांप काटने को है और वश चले तो खत्म ही कर दे, किन्तु भारत का हृदय इतना उदार रहा है कि वह, उस सांप को भी दूध पिलाने चला और पिलाता रहा है!

किसी समय भारत में इतना दूध था कि लोगों ने स्वयं पिया, दूसरों को पिलाया, अपने पड़ौसियों को बाँटा! कोई आदमी दूध के लिए आया और दूध न मिला तो यह एक गुनाह माना जाता था। भारत के वे दिन ऐसे दिन थे कि किसी ने पानी माँगा तो दूध पिलाया जाता था। विदेशियों की कलमों से भारत की यह प्रशस्ति लिखी गई है कि भारत के दरवाजे पर जाकर पानी माँगा तो दूध मिला है! तो उस समय यहाँ दूध की नदियाँ बहती रही हैं!

लेकिन आज? आज यह परिस्थिति है कि कोई बीमार पड़ता है तो उसके लिए भी दूध मिलना मुश्किल हो जाता है! और आज दूध के लिए पैसे देने पर भी दूध के बदले पानी पिलाया जाता है। और वह पानी भी दूषित होता है जो दूध के नाम से देश के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, वह दूध कहाँ है?

गायों के संबंध में बात चलती है तो हिन्दू कहता है—'वाह गाय हमारी माता है! गाय में तेतीस कोटि देवताओं का वास है! गाय के सिवाय हिन्दूधर्म में और है ही क्या?'

और जैन अभिमान के साथ कहता है—देखो, हमारे पूर्वजों में से एक-एक ने हजारों-हजारों और लाखों-लाखो गायें पाली थीं!

इस प्रकार क्या वैदिक और क्या जैन, अपने वेदों, पुराणों और शास्त्रों की दुहाइयाँ देने लगते हैं। किन्तु जब उनसे पूछते हैं—तुम स्वयं कितनी गायें पालते हो, तो पौंत निपोर कर रह जाते हैं! कोई उनसे कहे कि तुम्हारे पूर्वज गायें पालते थे तो उन्हीं गायों का दूध पी लो! क्यों दूध का रोना रोते हो?

तो जिस देश में गाय का असीम और असाधारण महत्व माना गया, जिस देश ने गाय की सेवा को धार्मिक रूप तक प्रदान कर दिया, जिस देश के एक-एक गृहस्थ ने हजारों—लाखों गायों का संरक्षण और पालन-पोषण किया और जिस देश के अन्यतम महापुरुष कृष्ण ने अपने जीवन-व्यवहार के द्वारा गोपालन का महत्त्व स्थापित किया, जिस देश की संस्कृति ने गायों के संबंध में उच्च से उच्च और पावन से पावन भावनाएँ जोड़ीं, वह देश आज अपनी संस्कृति को, अपने धर्म को और अपनी भावनाओं को भूलकर इतनी दयनीय दशा को, प्राप्त हो गया है कि बीमार को भी दूध नहीं पिला सकता!

दूसरी ओर अमेरिका है, जिसे आप म्लेच्छदेश कहा करते थे और घृणा बरसाया करते थे! आज उसी अमेरिका में होने वाले दूध का हिसाब लगाया गया है? अमेरिका में एक दिन में इतना दूध होता है कि तीन हजार मील लम्बी, चालीस फुट चौड़ी और तीन फुट गहरी नदी उससे पाटी जा सकती है!

तो हमारे सामने बड़ा ही करुण प्रश्न उपस्थित है कि हमारा देश कहाँ से कहाँ चला गया है? यह देवों का देश किस दशा में पहुँच गया है? देश की इस दशा को दूर करके समस्या को हल करना है तो उसे संस्कृति और धर्म का रूप देना होगा। इंसान जब भूखा

मरता है तो मत समझिए कि वह भूखा रह कर यों ही मर जाता है किन्तु उसके मन में घृणा और हा-हाकार होता है और जब ऐसी हालत में मरता है तो देश के निवासियों के प्रति घृणा और हा-हाकार लेकर ही जाता है ! वह समाज और राष्ट्र के प्रति एक दुर्भावना लेकर परलोक के लिए प्रयाण करता है। और खेद है कि हमारा देश आज हजारों मनुष्यों को इसी रूप में विदाई देता है ! किन्तु हमेशा ऐसी बात नहीं थी। भारत ने मरने वालों को प्रेम और स्नेह दिया है और उनसे प्रेम और स्नेह ही लिया है। उससे घृणा नहीं ली थी, द्वेष और अभिशाप भी नहीं लिया था !

आप चाहते है कि संसार से और भारत से चोरी और झूठ कम हो जाय। किन्तु भूख की समस्या को सन्तोष-जनक रूप में हल किये बिना यह पाप किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं ? आज व्यसन से प्रेरित होकर और केवल चोरी करने के इरादे से, चोरी करने वाले उतने नहीं मिलेंगे, जितने भूख से और अपनी स्त्री तथा बच्चों की भूख से जनित तड़फड़ाहट से प्रेरित होकर, निरुपाय होकर, चोरी करने वाले मिलेंगे। उन्हें और उनके परिवार को भूखा रख कर आप उन्हें चोरी करने से कैसे रोक सकते हैं ? धर्मशास्त्र का उपदेश वहाँ कारगर नहीं हो सकता। नीति की लम्बी-चौड़ी बातें उन्हें पाप से रोकने में समर्थ नहीं हैं। नीतिकार तो साफ कहते हैं—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् ?
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥

भूखा क्या नहीं कर गुजरता ? वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, हत्या कर बैठता है, दुनिया भर के जाल, फरेब और मक्कारियाँ भी कर सकता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भूख की समस्या का धर्म के साथ भी गहरा सम्बन्ध है और इस समस्या के समाधान पर धर्म का उत्थान निर्भर है।

आप जानते हैं कि आज क्या चल रहा है? जैन तो अहिंसा के उपासक रहे ही हैं, वैष्णव भी बहुत बड़े पुजारी रहे हैं, किन्तु उन्हीं के देश में, हजारों-लाखों रुपयों की लागत लगा कर बड़े-बड़े तालावों में मछलियों के उत्पादन का और उन्हें पकड़ने का काम शुरु हो रहा है। यही नहीं, धार्मिक स्थानों के तालावों में भी मछलियाँ उत्पन्न करने की कोशिश की जा रही है। यह सब देखकर मैं सोचता हूँ कि आज भारत कहाँ जा रहा है? आज यहाँ हिंसा की जड़ जम रही है और हिंसा का मार्ग खोला जा रहा है।

अगर देश की अन्न समस्या हल नहीं की गई और अन्न के ढेर ब्लेक मार्केट में बेचे जाते रहे तो उसका एक मात्र परिणाम यही होगा कि मांसाहार बढ़ जायगा। हिंसा का ताण्डव होने लगेगा और भगवान् महावीर और बुद्ध की यह भूमि रक्त से रंजित हो जायगी। इस महापाप को प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष भागीदार, वह लोग बनेंगे, जिन्होंने अन्न का अनुचित संग्रह किया, व्यय किया और ब्लेक मार्केटिंग किया है! दुर्भाग्य से देश में एक बार मांसाहार की जड़ जम गई तो उसका उखड़ना कठिन हो जायगा। अन्न आ जायगा और सुकाल आ जायगा, फिर भी मांसाहार कम नहीं होगा। मांस का चस्का बुरा होता है और लग जाने पर उसका छूटना सहज नहीं। अतएव दीर्घदर्शिता का तकाजा यही है कि पानी आने से पहले पाल बाँध ली जाय, बुराई पैदा होने से पहले ही उसे रोक दिया जाय।

आज देखते हैं कि करोड़ों इन्सान भूखों मर रहे हैं और हमारे भावुक भाई कीड़ियों को, बन्दरों को और मछलियों को अन्न

खिलाते हैं ! मैं भूतदया की इस भावना का विरोध और निषेध नहीं करता, किन्तु यह कहता हूँ कि सब से पहले उस इन्सान का पेट भरो जिसकी जिंदगी अन्न पर ही निर्भर है और जिसके भूखे रहने पर मांसाहार की महापातकमयी प्रवृत्ति के प्रचलित होने का अंदेशा है और जो मनुष्य दया का प्रथम पात्र है। अगर आपने मानवदया को प्राथमिकता नहीं दी तो मैं नहीं समझता कि आपने दयाधर्म के मर्म को समझा है या नहीं ? उस हालत में बन्दरों को बचाना भी कठिन हो जायगा और लोग उन मछलियों को भी पकड़-पकड़ कर खा जाएँगे, जिन्हें आप आटा खिला-खिला कर मोटा बना रहे हैं ! अगर आपकी दया पत्तों से शुरु होगी और जड़ से शुरु नहीं होगी तो जड़ तो सूखेगी ही, परन्तु जड़ के सूखने पर पत्ते भी हरे-भरे नहीं रहेंगे ! मनुष्य जीवित रहेगा और भरपेट खाने को पाएगा तो पशु-पक्षी भी बच सकेंगे और मनुष्य भूखा तड़फता रहा तो पशुओं और पक्षियों की भी खैर नहीं ! अतएव प्राणी मात्र की दया मानव-दया पर अवलम्बित है, इस तथ्य को हमें ध्यान में रखना चाहिए। ध्यान न रक्खा गया तो देश में इतनी बड़ी क्रान्ति होगी और इन्किलाब होगा कि उसका प्रतिरोध करने के लिए कोई भी शक्ति काम न आ सकेगी। जब अन्नमात्रजीवी मानव भूखा मर रहा हो, उस समय कीड़ियों, बंदरों और मछलियों को अन्न खिलाना दया का उपहास करना है !

मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। आपके सामने दो व्यक्ति हैं। एक बालक है जो भूख से छटपटा रहा है। वह दुधमुँहा बालक है, और दूध के बिना जीवित नहीं रह सकता। दूसरा पुरुष वयस्क है जो दूध भी पी सकता है और दूसरी चीज भी खा-पी कर अपना जीवन बचा सकता है और जो आपके दूध के लिए लालायित नहीं है। आपके पास थोड़ा-सा दूध है। अब आप वह दूध किसे पिलाना

उचित समझेंगे ? उस पुरुष को जो भूखा नहीं है, जिसे आपके दूध की परवाह नहीं है और जो दूसरे तरीके से अपना निर्वाह कर सकता है ? अथवा उस बालक को, जो दूध न मिलने के कारण चल बसने को तैयार है ? दयाधर्म आपको क्या आदेश देता है ?

मैं नहीं समझता कि कोई भी दयालु या सहृदय पुरुष बालक की उपेक्षा करके उस समय दूसरे को अनावश्यक रूप में दूध पिलाने को तैयार होगा। यही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए।

उचित यही है कि इन्सान का हक इन्सान को और पशु पक्षियों का हक पशु-पक्षियों को दिया जाय। जो जिस हक़ का हकदार है और जो जीवन की आवश्यकता को लेकर बैठा है, उसे उसका हक उसकी आवश्यकता के अनुरूप मिलना चाहिए।

प्रवचन काफी लम्बा हो गया है। प्रस्तुत विषय में जो विचार प्रदर्शित किये गये हैं, मेरा विश्वास है, उन पर आपने विचार किया और अमल में लाने का प्रयत्न किया तो भारतवर्ष फिर अपनी पुरातन गरिमा को प्राप्त कर सकता है, फिर सुरगण-स्पृहणीय बन सकता है और फिर उसे स्वर्गभूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। तथास्तु

१६—११—५०

आध्यात्मिक-जीवन

: ६ :

अन्तर्जीवन

●

आज एक प्रेमी ने आग्रह किया है कि कुछ अन्तर्जीवन संबंधी बातें बतला दूँ। यों तो मैं जो कुछ कहता आ रहा हूँ, आन्तरिक जीवन के संबंध में ही कहता आ रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रिया-काण्ड और गंभीर विद्वत्ता व्यर्थ है। जैसे संख्या के अभाव में हजारों बिन्दियों का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार अन्तःशुद्धि के बिना बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं है। जो क्रियाकाण्ड केवल काया से किया जाता है और अन्तरतर से नहीं किया जाता, उससे आत्मा पवित्र नहीं बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्य आवश्यकता है।

जो बाह्य आचार अन्तःशुद्धि के फलस्वरूप स्वतः समुद्भूत होता है, उसी का मूल्य है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले बाह्य आडम्बर से उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। हम सैकड़ों को

देखते हैं, जो बाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते हैं और करते-करते बूढ़े हो गये हैं, किन्तु उनके जीवन में कोई शुभ परिवर्त्तन नहीं आया। वह ज्यों का त्यों कलुषित बना हुआ है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यांत्रिक है और उसमें आन्तरिकता नहीं है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दंभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारकों का ऐसा खयाल बन गया है कि जो दंभी और पाखण्डी है, वह अपने दंभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बड़ा धर्मात्मा है! उनका यह खयाल एकदम निराधार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दुर्भाग्य से अनेक लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से मलीन करते हैं और उन्हें देख-देख कर लोग उस अनुष्ठान से भी घृणा करने लगते हैं। फिर भी हमारे खयाल से कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते हैं। भले ही उनके क्रियाकाण्ड में आन्तरिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव उनका कल्याण कर देता है। और कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक बाह्य क्रियाएँ करते हैं। ऐसे व्यक्ति अभिनन्दनीय हैं। वे निस्सन्देह परम कल्याण के भागी होते हैं।

अन्तःशुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस संबंध में तरह-तरह के विचार जनता के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। उनकी भाषा में भेद हो सकता है, भाव में नहीं। मैं समझता हूँ कि अन्तःशुद्धि के लिए साधक को सब से पहले अपने अन्तरंग को टटोलना चाहिए।

आप आन्तरिक जगत् की ओर दृष्टिपात करेंगे तो देखेंगे कि वहाँ राक्षस भी अपना अड्डा जमाये हुए हैं और देवता भी रहते हैं। राक्षस दुनिया की ओर घसीटते हैं, बुराइयों की ओर ले जाते हैं और मनुष्य की जिंदगी को नरक में डालते हैं। और आत्मा में जो दैवी संस्कार हैं, वही भीतर के देवता हैं। वे हमारी जिंदगी को अच्छाइयों की ओर ले जाते हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

तो अन्दर के राक्षस और देवता परस्पर संघर्ष किया करते हैं। उनमें निरन्तर महाभारत छिड़ा रहता है, महाभारत तो एक बार हुआ था और कुछ काल तक जारी रह कर खत्म हो गया, किन्तु हमारे अन्दर का महाभारत अनादि काल से चल रहा है। उसकी कहीं आदि नहीं है और अन्त कब और कैसे होगा, नहीं कहा जा सकता। इस महाभारत में भी कौरव और पाण्डव लड रहे हैं। हमारे अन्दर की बुराइयाँ कौरव हैं और अच्छाइयाँ पाण्डव हैं। इन दोनों के युद्ध का स्थल-कुरुक्षेत्र हमारा हृदय है।

अब तक मानव-जीवन का इतिहास ऐसा रहा है कि हजार बार कौरव जीते तो एक बार पाण्डवों की विजय हुई। पाण्डव जुआ खेलने में भी हारे और सभा में भी हारे, किन्तु आखिरी लडाई में वही जीते। और इधर अनन्त-अनन्त काल से जो लड़ाई लड़ी जा रही है, उसमें क्रोध ने शान्ति पर विजय प्राप्त की और शान्ति का गला घोंट दिया। अहंकार ने नम्रता को निष्प्राण कर दिया।

कौरव-पाण्डवों की अन्तिम लड़ाई कृष्ण के उत्तरदायित्व में लड़ी गई। कृष्ण पथप्रदर्शक बने और अर्जुन योद्धा बने। इस लड़ाई के विषय में व्यास को कहना पड़ा:—

यत्र योगेश्वरः कृष्णः, यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—भगवद्गीता, १८,८७

जहाँ योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेंगे, अर्जुन अपना गांडीव उठाकर लड़ेंगे, वहाँ विजय के सिवाय और क्या हो सकता है ? वहाँ विजय है, अभ्युदय है और जीवन की उँचाई है । यह मेरा निश्चित मत है ।

वास्तव में यह मत गलत नहीं है । महाभारत में कृष्ण और अर्जुन थे और हमारे हृदय में भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं । कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्मयोग के प्रतीक । कर्मयोग अकेला सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता । वह तो अंधे की तरह टकराएगा । उसको नेतृत्व मिलना चाहिए और पथप्रदर्शक मिलना चाहिए । वह पथप्रदर्शक ज्ञान के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? ज्ञान जब कर्म का पथप्रदर्शन करता है तो दोनों का समन्वय हो जाता है । यही कृष्ण और अर्जुन का समन्वय है । इस समन्वय के साथ जब जीवन का महाभारत लड़ा जाता है तो उसमें विजय ध्रुव है और वासना रूपी कौरवों का पतन भी निश्चित है ।

हमारे भीतर बहुत-सी बुराइयाँ घुसी हैं और वह सभी बड़ी हैं । किन्तु उनमें क्रोध और मान की गिनती पहले होती है । भगवान् महावीर ने भी कषायों में क्रोध और मान का नाम पहले लिया है चार कषाय, जो जन्म-मरण का नाटक रचते रहते हैं और जन्म-जन्मान्तर में दुख देते रहते हैं, में क्रोध पहला और मान दूसरा है ।

यह तो आप जानते हैं कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेमपूर्वक चलना है, और मनुष्य संसार में जहाँ कहीं

भी रहना चाहता है, अकेला नहीं रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुड़ता है। परिवार में दस-बीस आदमी रह रहे हैं तो प्रेम से ही जुड़े हुए हैं। घृणा का काम तो जोड़ना नहीं है! इसी तरह बिरादरी में हजारों आदमी जुड़े रहते हैं। उन्हें जोड़ने वाला भी प्रेम ही है। तो परिवार में पारिवारिक प्रेम, समाज में सामाजिक प्रेम और राष्ट्र में राष्ट्रीय प्रेम ही आपस में मनुष्य जाति को जोड़े हुए है। जिसके हृदय में प्रेम का वास है, वह अपने हजारों और लाखों प्रेमी बनाता चलता है।

हाँ, मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नहीं हो सकता। यह दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ क्रोध होगा, प्रेम नहीं हो सकता और जहाँ प्रेम है वहाँ क्रोध का गुजर नहीं। ईश्वर की भी शक्ति नहीं कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते। राम और रावण दोनों एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। एक बैठेगा तो दूसरे को हटना पड़ेगा। राम की पूजा करनी है तो रावण को सिंहासन से उतारना पड़ेगा और रावण को पूजना है तो राम को उतारना पड़ेगा।

जब इन्सान के मन में मलीनता आती है तो चमकती हुई ज्ञान की लौ धुंधली पड़ जाती है। और जब मन में काम और क्रोध की लहर उठती है तो मन का दर्पण मैला पड़ जाता है। आपको अनुभव ही होगा कि दर्पण में फूँक मार देते हैं तो वह धुँधला हो जाता है। और उसमें चेहरा देखते हैं तो साफ नजर नहीं आता। तो दर्पण अपने स्वरूप में तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह की भाप ने असर किया तो वह मैला बन गया। इसी प्रकार मन का दर्पण साफ है और ठीक हालत में है और वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता

है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर वह ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। जिनके मन का दर्पण ठीक नहीं है, वे मित्रको मित्र के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, पति को पति के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में और पिता-पुत्र, पिता-पुत्र के रूप में नहीं देख पाते। उनके मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब जब इतने धुँधले होते हैं तो वे अपने कर्त्तव्य को भी साफ़-साफ़ नहीं देख पाते और न अपनी भूलों को ही साफ़ देख पाते हैं।

क्रोध में पागलपन ही नहीं, पागलपन का आवेश भी होता है। जिसे दुनिया पागल समझती है, वह पागल उतना भयानक नहीं होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्तर में क्रोध की आग भभकते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा में मनुष्य जो न कर बैठे, वही गनीमत है! वह आत्मघात कर लेता है, पर का घात कर देता है और ऐसे-ऐसे काम कर गुज़रता है कि जिनके लिए उसे जिंदगी भर पछताना पड़ता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

तो हमें यह निर्णय कर लेना है कि हमें क्रोध को अपने मन में स्थान नहीं देना है। जब क्रोध आने को हो तो उसको बाहर के दरवाजे से धक्का देकर निकाल देना है। हमें क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि यदि क्रोध करना है तो उसको निकालने के लिए क्रोध करो और क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।

इस रूप में जब क्रोध मन से निकल जायगा तो जीवन में स्नेह की धाराएँ प्रवाहित होने लगेंगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जायगा और बुद्धि निर्मल हो जायगी।

जब हम शान्त भाव में रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हममें सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। उसी समय हम ठीक विचार कर सकते हैं और दूसरों को भी ठीक बात समझा सकते हैं।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ गया तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नहीं होगा और कदाचित् वह जीवन में बड़ा ही भयंकर साबित होगा। वह निर्णय कभी शान्ति-दायक नहीं हो सकता। अगर हम अपने जीवन को शान्तिपूर्ण बनाना चाहते हैं तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर में आग लगती है तो पानी का प्रबन्ध किया जाता है उसे बुझाने के लिए। इसी प्रकार जब क्रोध आये तो क्षमा के जल से उसे बुझा दो और अभिमान से लड़ने के लिए नम्रता को अड़ा दो। जब तक विरोधी चीजें नहीं आएँगी तब तक कुछ नहीं होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से नहीं जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना चाहोगे तो नहीं कट सकेगा। उसे काटने के लिए ठंडे लोहे का इस्तेमाल करना पड़ेगा। गरम लोहा गरम हो गया है किन्तु उसने अपने आपको बचाने की कडक कम कर दी है। वह ठंडा होता तो अधिक देर तक टिक सकता था, मगर गरम होकर तो उसने अपनी शक्ति गँवा दी है। वह ठंडे लोहे से कटना शुरु हो जाता है। तो इस रूप में मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं काट सकते। उसको ठंडे लोहे से काटना होगा।

भगवान् महावीर ने कहा है:—

'कोहो पीइं पणासेइ ।'—दशवैकालिक

क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है। इसका मतलब यह हुआ कि जो चीजें प्रेम के सहारे टिकने वाली हैं, क्रोध उन सब का नाश कर डालता है। इस रूप में विचार कीजिए तो मालूम होगा कि परिवार, समाज और गुरुशिष्य का सम्बन्ध आदि स्नेह के आधार ही टिका हुआ है। वहाँ अगर क्रोध उत्पन्न हो गया है तो वह कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नहीं है। यह सचाई तो अनुभवगम्य ही है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती हैं, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का सम्बन्ध भी टूट जाता है और परिवार में रहता हुआ भी इन्सान अकेला रहता है। देश में करोड़ों के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही रहता है।

तो हमें विचार करना है कि जीवन का आदर्श प्रेम में है। भारतीय साहित्य में जिक्र आता है कि एक बार इन्द्र कहीं जा रहे थे। उन्हें लक्ष्मी रास्ते में बैठी दिखलाई दी। तब इन्द्र ने पूछा—लक्ष्मी! आजकल कहाँ रहती हो? लक्ष्मी ने कहा—आजकल का प्रश्न ही क्यों? मैं जहाँ रहती हूँ वहीं रहती हूँ, मैं ऐसी भगोड़ी नहीं कि कभी कहीं और कभी कहीं रहूँ! तो हमेशा रहने की जगह पूछो तो बतला दूँ! इन्द्र ने मुस्करा कर कहा—यह तो और भी अच्छी बात है। बतला दीजिए। तब लक्ष्मी ने कहा—

गुरवो यत्र पूज्यन्ते वाणी यत्र सुसंस्कृता।
अदन्त कलहो यत्र तत्र शक्र! वसाम्यहम्॥

बड़ी सुन्दर बात कही है! बात क्या है, संसार के लिए एक महान् आदर्श है। वास्तव में लक्ष्मी ने अपनी ठीक जगह बतला दी

है। लक्ष्मी कहती है—इन्द्र! मैं वहाँ रहती हूँ जहाँ और जिस परिवार एवं समाज में आपस में कलह नहीं है। मैं उन लोगों के पास रहती हूँ, जिनके दांत नहीं बजते—जो दांत नहीं मिसमिसाते। जो लोग प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर काम करते हैं। एक दूसरे के सहकारी बन कर लोग अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। जहाँ संगठन है और जो एक दूसरे के लिए अपने स्वार्थ को निछावर कर देने को तैयार रहते हैं और अपनी इच्छाओं को भी कुचलने के लिए तैयार रहते हैं। जहाँ प्रेम की जीवनदायिनी धाराएँ बहती रहती हैं। जहाँ कलह, घृणा और द्वेष नहीं है। मै उसी जगह रहती हूँ।

लक्ष्मी के इस कथन ने अनन्त-अनन्त काल के प्रश्न हल कर दिये हैं। बड़े-बड़े परिवारों को देखा है, जहाँ लक्ष्मी के ठाठ लगे रहते थे। किन्तु जब उन परिवारों में मनमुटाव आया, क्रोध की आग जलने लगी और वैरभाव पैदा हो गया, तो वह वैभव और आनन्द बना नहीं रहा। धीरे-धीरे वह क्षीण होने लगा और लक्ष्मी रूठ कर चल दीं।

जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति होने पर भी जहाँ प्रेम नहीं है, बल्कि पारस्परिक द्वेष और घृणा है, वहाँ जीवन का आनन्द नहीं। वह जीवन भारभूत बन जाता है। कहने को तो नरक और स्वर्ग बाहर हैं, किन्तु हमारे महान् विचारकों से जब पूछा गया कि नरक और स्वर्ग कहाँ है, तो उन्होंने यही कहा कि वे वास्तव में साधक के मन के अन्दर हैं! जब तू घृणा और द्वेष से घिर जाता है, दूसरे की निन्दा करने को तैयार हो जाता है और बात-बात में क्रोध की आग में झुलसता है, तो तेरे मन में नरक आ जाता है। और जब तू दूसरे की सेवा-सहायता के लिए तैयार होता है और दूसरों पर हृदय के स्नेहामृत को छिड़कने के लिए उद्यत

होता है, तब तू अपने भीतर स्वर्ग की रचना करता है। यहाँ भी तुझे उसका सुफल मिलेगा और आगे भी मिलेगा। इसीलिए कहा गया है—

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

अर्थात्—जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जो मन में नहीं है, वह बाहर कहीं भी नहीं मिलेगा। मनुष्य के मन में जो बन गया है, वह संसार में बन गया है और जो मन में नहीं बना है वह संसार में भी नहीं बना है।

कबीर की आध्यात्मिक वाणी साधारण जनता को भी मिली है। वह बनारस में रह रहे थे। बनारस तो विद्वानों का धाम है। वहाँ एक सज्जन थे, जिन्होंने अपना जीवन विविध शास्त्रों के अध्ययन में व्यतीत किया था। वेदान्त की चर्चा में अपना समय लगाया था। वह अपना ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर चुके थे और सोच रहे थे कि आगे क्या किया जाय? गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँ या संन्यासी बनूँ? उन्होंने अनेक विद्वानों से सम्मति ली, किन्तु मन को पूरा-पूरा समाधान नहीं मिला। तब उन्होंने कबीरजी से समाधान पाने की इच्छा की। वह बड़े बड़े प्रश्नों को सुनकर सुन्दर रूप से सुलझा देते थे।

ब्रह्मचारी कबीर के पास पहुँचा। दिन का समय था और सूरज चमक रहा था। कबीर उस समय धूप में बैठे सूत सुलझा रहे थे। ब्रह्मचारी ने वहाँ पहुँच कर नमस्कार किया और कहा—मैं एक प्रश्न करने आया हूँ। मैं विद्याध्ययन कर चुका हूँ। वेद-वेदान्त पढ़ चुका हूँ। अब मेरे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित है कि मुझे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए अथवा सन्यास में प्रवेश करना चाहिए?

कबीर ने कहा—अच्छा, जवाब दूँगा।

ब्रह्मचारी को बैठे-बैठे बहुत देर हो गई और उसने कहा—उत्तर दीजिए। कबीर ने कहा—जरा सूत तो सुलझा लूँ!

थोड़ी देर में सूत सुलझाते-सुलझाते बड़बड़ाने लगे। पत्नी आई तो उससे कहने लगे—यह भी कोई घर है? यहाँ इतना अंधेरा है कि सूत सुलझाऊँ तो कैसे सुलझाऊँ?

पत्नी ने यह बात सुनी। वह खड़े पैरों लौट गई और दीपक जला लाई।

ब्रह्मचारी पण्डित यह देख कर चकित रह गए। सोचने लगे—लोग कहते हैं कि कबीरजी बडे तत्त्वज्ञ हैं किन्तु यह तो पागल मालूम होते हैं! चमकती हुई धूप में भी इन्हें अंधकार दिखाई देता है और दीपक जलवा रहे हैं और इनकी पत्नी भी ऐसी ही दीखती है! उसने भी तो दीपक ला कर रख दिया! नहीं कहा कि प्रकाश फैला हुआ है, सूरज चमक रहा है। यहाँ अंधकार कहाँ है?

वह ऐसे ही विचारों में डूबता-उतराता रहा और थोडी देर और बैठा रहा। आखिर ऊब कर उसने कहा—मेरे प्रश्न का उत्तर मिल जाना चाहिए!

कबीर बोले—उत्तर दे तो दिया! और क्या चाहते हो? विस्तार में सुनना चाहते हो? देखो, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते हो तो तुम्हें ऐसा परिवार बनाना होगा। अपने परिवार को अनुकूल बना सकते होओ और स्वयं परिवार के अनुकूल बन सकते होओ तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने में कोई हानि नहीं है। दिन में दीपक जलाना चाहो तो जला सको, तुम्हारी पत्नी बिना किसी तर्क-वितर्क के तुम्हारी आज्ञा का पालन कर सके और तुम्हारा प्रेम और

स्नेह इतना महान् हो कि उसके बल पर जो चाहो वही परिवार से करवा सको, पत्नी और सन्तति को आज्ञाकारी बना सको और जीवन में हर जगह स्नेह और ममता का आदान-प्रदान कर सको तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकते हो और यदि संन्यासी बनना है तो उसका भी आदर्श बतलाए देता हूँ।

इतना कह कर कबीरजी उस ब्रह्मचारी को लेकर एक टीले पर पहुँचे। वहाँ एक जरा जीर्ण संन्यासी रहते थे। हिलना-डुलना भी उनके लिए बहुत कठिन काम था, कबीरजी ने वहाँ पहुँच कर आवाज लगाई—महाराज, दर्शन देना!

महाराज नीचे आये लड़खड़ाते हुए और बड़ी ही कठिनाई से! कबीरजी से बोले—कहिए, क्या बात है?

कबीर—कुछ नहीं, आपके दर्शन करने थे।

दर्शन देकर संन्यासी ऊपर चले, काँपते हुए, गिरते-पड़ते हुए। तब कबीर ने फिर आवाज लगाई। कहा—महाराज, दर्शन देना, बात कहना तो बाकी रह गया!

संन्यासी फिर नीचे आए। दम फूलने लगा, पसीने से तर हो गए और हाथ-पैर लड़खड़ाने लगे। फिर भी अतिशय शान्त मुद्रा में बोले—कहिए, क्या बात है?

कबीर—बात कुछ नहीं है। दर्शन हो गए!

संन्यासी जैसे के तैसे, प्रसन्न मुद्रा में वापिस लौट गए। उनके चेहरे पर तनिक भी क्रोध और आवेश की झलक दिखाई नहीं दी।

तब कबीरजी ने उस ब्रह्मचारी से कहा—उत्तर मिल गया? संन्यासी बनना है तो ऐसे बनना! मैंने बुलाया तो अशक्त होते हुए

भी नीचे आ गए। फिर बुलाया तो फिर चले आए और केवल दर्शन देने के लिए चले आए और शान्त भाव से लौट गए! तुमने उनके चेहरे पर क्रोध या अभिमान की एक भी रेखा देखी? कुछ भी चिह्न नजर आया? वे जिस शान्त भाव से नीचे उतरे, उसी शान्त भाव से ऊपर चढ़ गए। तुम्हें सन्त बनना है तो ऐसे सन्त बनना!

ब्रह्मचारी पण्डित ने कबीरजी को नमस्कार किया और कहा—मैं कृतार्थ हुआ। आपने बहुत सुन्दर मार्गप्रदर्शन किया है। मैं सोचूँगा और जो कुछ बनना है, आपके आदर्श के अनुकूल बनने का प्रयत्न करूँगा।

तो हमें अपने जीवन का विश्लेषण करना चाहिए। साधु बनना है तो असीम क्षमा की आवश्यकता है। हमें अपने विकारों से लड़ना है। क्रोध और अहंकार की एक छोटी-सी लहर भी अन्तस्तल में नहीं उठने देनी है। अगर उठ खड़ी हुई तो जीवन न इधर का रहेगा, न उधर का रहेगा।

गृहस्थ बनना है तो भी आदर्श गृहस्थ बनना है। वहाँ भी क्रोध और अहंकार की लपटों से बचना है। यह लपटें उठती रहीं तो गृहस्थी की सरसता पनप नहीं सकती और जीवन नारकीय बन जायगा।

आशय यह है कि मनुष्य किसी भी आश्रम में और किसी भी स्थिति में रहे, क्रोध और अहंकार से बचता रहे। पहले 'मैं' को हटा दे तो 'मेरे' का हट जाना भी सरल हो जायगा। 'मैं' मूल है और 'मेरा' उस का पत्ता है। मैं नहीं टूटेगा और मूल बना रहेगा तो पत्तों को नोंचने से क्या होगा? जहर के वृक्ष को आंगन में लगा लिया है और उसके मूल को हरा-भरा बना रक्खा है तो पत्तों को

नोंचने से काम नहीं चल सकता। तो सिद्धान्त की दृष्टि से 'मैं' और 'मेरा' यह दोनों त्याज्य हैं, किन्तु जब तक 'मैं' का विषवृक्ष नहीं उखाड़ फैंका जाएगा, 'मेरा' का उखड़ना संभव नहीं है। इस 'मैं' या अभिमान को तोड़ने के लिए हमारे यहाँ विनय जीवन का सब से बड़ा अंग है। भगवान् महावीर से पूछा गया कि जैनधर्म का मूल क्या है? तो भगवान् ने कहाः—

धम्मस्स विणओ मूलं।

धर्म का मूल विनय है। जो साधक अभिमान से फूला हुआ है, भूला हुआ है और अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझता है, वह साधु के पास और भगवान् के पास जा करके भी खाली लौटेगा। वह फूटा हुआ घड़ा है और सदा खाली ही रहने को है! अभिमानी ज्ञान के प्रकाश से वंचित रहने को है! जहाँ विनय है वहीं ज्ञान का प्रकाश होगा।

आप विचार कीजिए कि सोना भी धातु है और लोहा भी धातु है। मगर रत्नों से जड़ना है तो सोने को ही क्यों जड़ा जाता है और लोहे को क्यों नहीं जड़ा जाता? कारण यही है कि सोने में नम्रता है, लचक है और इस कारण वही हीरों से जड़ा जाता है। वह हीरो से जडा जाता है तो उसकी कीमत कितनी बढ जाती है? एक तोला सोना भी अगर हीरों से जड़ दिया जाता है तो उसकी कीमत लाखों की हो जाती है! यदि सोना लोहे की तरह कठोर होता और अपने आपमें किसी हीरे को जगह न दे सकता होता तो उसकी कीमत लाखों की नहीं हो सकती थी। तो जीवन को विनम्र बनाना, सोना बनाना है और जब वह सोना बन जाता है तो उसमें अहिंसा, दया, प्रेम और करुणा के असंख्य हीरे ज़ड़ जाते हैं! वह

जीवन बहुमूल्य अलंकार बन जाता है। इस दृष्टि से आपको सोना बनना है—कड़क नहीं, नम्र सोना बनना है।

इधर-उधर घूमते हुए एक बड़े बाबाजी किसी गाँव में पहुँचे। उन्हें भोजन का निमंत्रण मिला और समय पर बुलावा आया। तब गुरुजी ने अपने शिष्य से कहा—मैं अभी पूजापाठ करूँगा, तुम जाओ और भोजन कर लो। शिष्य भोजन के लिए चला गया। वह भोजन के लिए आसन पर बैठा। भोजन की थाली परोस दी गई और खाने को पहला कौर तोड़ा ही था कि एक व्यक्ति आकर सामने खड़ा हो गया। उसने कहा—महाराज, मेरा एक प्रश्न है। वह यह कि नरक में कौन जाता है? शिष्य ने कहा—जो क्रोध करता है, दंभ करता है, निन्दा करता है, वह नरक में जाता है!

प्रश्नकर्त्ता ने कहा—महाराज, ठीक समाधान नहीं हुआ।

सन्त ने नियम बना रक्खा था कि जब तक सही समाधान न करदें, भोजन नहीं करेंगे तो तोड़ा हुआ कौर थाली में रख दिया गया और गुरुजी की प्रतीक्षा की जाने लगी। वे आएँ और समाधान कर दें तो भोजन शुरु किया जाय! थोड़ी देर में गुरुजी आगए और देखा कि शिष्य चिन्तित है। उन्होंने शिष्य से चिन्ता का कारण पूछा। शिष्य ने कहा—मुझसे प्रश्न किया गया है और मैंने उसका यह उत्तर दे दिया है, मगर वह सही नहीं माना गया! आपकी प्रतीक्षा की जा रही थी।

गुरुजी सब कुछ ताड़ गए। उन्होंने सोचा—क्या शंका—समाधान के लिए और कोई समय नहीं मिल सकता था? जब सैकड़ों आदमी बैठे हैं और सारा गाँव इकट्ठा हुआ है और भोजन करने की तैयारी है, ऐसे वक्त पर प्रश्न पूछा गया है!

समझदार पुरुष को वास्तविक स्थिति समझने में देर नहीं लगती है। गुरुजी ने परिस्थिति समझ कर कहा—कौन है प्रश्न करने वाला ?

भगतजी अभिमान में तन कर खड़े थे। बोले—महाराज, 'मैं' हूँ।

गुरुजी बोले—बस, यह 'मैं' ही नरक में जाता है। गाँव में क्या तुम अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी समझते हो ? तुम प्रभु की भक्ति करते हो, भक्ति करने चले हो और इधर छोटे-छोटे साधु भोजन करने बैठे तो प्रश्न लेकर खड़े हो गये हो ? क्या आगे-पीछे प्रश्न नहीं किया जा सकता था ? ये मुँह में कौर डालने को तैयार हुए तब तुम्हें प्रश्न करने की सूझी है ! तुमने मुँह के पास पहुँचे हुए कौर को वापिस लौटा लिया है। यह तुम्हारा अहंकार है, और जो अहंकारी है, वही नरक में जाता है ! अस्तु यह 'मैं' ही नरक में ले जाने वाला है !

बात बड़े अलङ्कारपूर्ण ढंग से कही गई है। यह जीवन की वह सचाई है, जिसे कोई झुठला नहीं सकता।

आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि हृदय में क्रोध और अभिमान ने किस प्रकार अड्डा जमा रक्खा है और किस-किस रूप में वे व्यक्त हुआ करते हैं ! हृदय का विश्लेषण करने पर आपको उस ज़हर के नाना रूप दिखाई देने लगेंगे। आज के जितने संघर्ष हैं, उनमें से अधिकांश क्रोध और अहंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। अन्दर ही अन्दर छुरियाँ चल रही हैं और एक दूसरे को बर्बाद करने की चेष्टाएँ हो रही हैं। परिवार बर्बाद हो रहे हैं, समाज जल रहा है और राष्ट्र भी तहसनहस हो रहे हैं। यह सब अहंकार का फल है।

जब तक हम बड़ों का आदर करते रहे और अपने जीवन का सारा उत्तरदायित्व पूरा करते रहे, तब तक मर्यादाएँ चलती रहीं और एक परिवार बना तो हजारों वर्षों तक चला ! और आज परिवार बनते भी देर नहीं लगती और बिगड़ते भी देर नहीं लगती !

एक सन्त से कलियुग की पहचान पूछी गई तो उन्होंने कहा—जब पुत्र पिता से अलग होने की कोशिश करेगा तो समझ लेना कि कलियुग आ गया है। जहाँ क्रोध और अभिमान का बोलबाला हो जाय और मनुष्य अपने ही स्वार्थों को मुख्यता देने लगे, वहाँ कलियुग की रोशनी है ! आखिर आकाश में कलियुग नहीं आता, चांद-सूरज में और प्रायः प्रकृति की दूसरी चीजों में भी कलियुग नहीं आता। वे तो छोटे-मोटे हेरफेर के साथ सदैव अपने मूलस्वरूप में ज्यों की त्यों रहती हैं। सूर्य अनादि काल से पूर्व में उदित हो रहा है, वह पश्चिम में उगने वाला नहीं। हवा अपना कार्य ज्यों का त्यों कर रही है। चांद और तारे भी उसी रूप में हैं। फिर कलियुग आता है तो कहाँ आता है ?

सच पूछो तो कलियुग सर्वप्रथम हमारे मन में निवास करता है और वह क्रोध, अहंकार और तथाविध नाना प्रकार की दुर्वासनाओं का रूप धारण करके आता है। उसे निकालना है तो जीवन में क्षमा शान्ति, नम्रता और विनीतता धारण करनी होगी। जीवन को करुणामय बनाना होगा ! ऐसा करने पर आपके जीवन में इसी समय सतयुग चमकने लगेगा और आपका कल्याण होगा।

२७—११—५०

: ७ :

तीन परिणतियाँ

साधक के लिए शास्त्रों का बहुत महत्त्व है। मनुष्य जब तक अपूर्ण है, और उसे ज्ञान की पूरी सामग्री नहीं मिली है, जब तक वह केवल ज्ञान का महाप्रकाश नहीं मिल सका है, तब तक उसके पास कौन-सी आँखें हैं, जिनसे वह अपना मार्ग तलाश कर सके? हाँ केवल ज्ञान हो जाने के पश्चात् तो उसकी वाणी ही शास्त्र बन जाती है, उसके मुख से निकले हुए शब्द ही शास्त्र का रूप ले लेते हैं। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा है—

उद्देसो पासगस्स नत्थि।

जो द्रष्टा हैं, जिन्होंने अच्छी तरह सत्य और असत्य का निर्णय जान लिया है और जिन्होंने ज्ञान की पूर्ण भूमिका को प्राप्त करके पूर्ण रूप से परमार्थ को समझ लिया है, उन्हें उपदेश की आवश्यकता नहीं है। वे उपदेश लेने के लिए नहीं किन्तु देने के लिए हैं।

जीवन में जो कुछ प्राप्त करने योग्य था, उन्होंने प्राप्त कर लिया है। उनके लिए मोक्ष दूर नहीं रह गया है और वहाँ तक पहुँचने के लिए शास्त्रों को टटोलने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। अतएव उनका प्रवचन और ज्ञान ही शास्त्रों का रूप लेकर हम तक पहुँचता है।

किन्तु जो साधक नीचे की भूमिका पर है, उसके लिए शास्त्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए गति कर रहे हैं और साधु या गृहस्थ के रूप में चल रहे हैं, वे शास्त्र के सिवाय और किसके सहारे चल सकते हैं? ऐसे साधकों के लिए एक महान् आचार्य ने कहा है—

आगमचक्खू साहू।

जो साधक साधना कर रहा है, वह तो शास्त्रों की ही आँखें लगाकर चलता है। शास्त्र से ही उसे पता लगता है कि कौन-सा मार्ग नरक का, महारंभ का, हिंसा या निर्दयता का है और कौन-सा मार्ग स्वर्ग और मोक्ष का है? कौन-सी वह चीज है जहाँ नरक की राह तैयार होती है?

मनुष्य की आँखें बाहर की चीजों को देख सकती हैं, किन्तु अन्तरंग के पुण्य-पाप को नहीं देख सकतीं। जो जीवन अज्ञान में पड़ा हुआ है और मालूम करना चाहता है कि तिर्यञ्च या पशु बनने के लिए किस मार्ग पर चला जाता है, तो शास्त्रों की आँखों से ही पता लगेगा कि छल, कपट, धोखा और पापाचार करने से, अर्थात् मन में कुछ, वचन में कुछ और आचरण में और ही कुछ है, तो वहाँ, तिर्यञ्च बनने का मार्ग तैयार हो रहा है। जीवन को इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके बाँट देने से पशुयोनि मिलती है।

शास्त्र की आँखों से ही मालूम होता है कि जिसके हृदय में दया और करुणा की लहर हो, बड़ों के प्रति आदर का भाव हो, जो जीवन को सरल भाव में रखता हो, वह मनुष्य बनने की राह तय कर रहा है।

और देवलोक के सुख और वभव का अधिकारी कौन होता है ? देवलोक की ओर ले जाने वाली सड़क कौन-सी है ? यह बात भी शास्त्र से ही जानी जाती है। कहा है—

सरागसंयम-संयमासंयमा-ऽकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र

वह साधु, जो चल रहा था मोक्ष की ओर और जिसे जाना था आत्मा के बन्धनों को तोड़ने के लिए, किन्तु परिपूर्ण तैयारी नहीं कर सका और बन्धनों को नहीं तोड़ सका और रागभाव को पूरी तरह नहीं छोड़ सका, तो उसे देवगति प्राप्त हो जाती है।

बात यों है कि श्रावक के रूप में या साधु के रूप में, जो भी संयमी हैं, और जितना-जितना संयम का अंश है, वह उसे न नरक की ओर ले जाता है, न पशुगति की ओर ले जाता है, न मनुष्यगति की ओर ले जाता है और न देवगति की ओर ही ले जाता है।

यहाँ प्रश्न किया गया है कि देवगति में ले जाने वाले कारण कौन-कौन हैं ? उत्तर दिया गया कि सरागसंयम और संयमासंयम आदि देवगति के कारण हैं। अगर संयम ही देवलोक का कारण होता या संयमासंयम ही कारण होता, तो यहाँ संयम के साथ 'सराग' विशेषण लगाया गया है, उसका क्या उद्देश्य है ? जैन शास्त्रों की यही खूबी है कि वहाँ एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा

बड़े महत्त्व की चीज है और उसकी भी बड़ी कीमत है। जब हम इस बात को ध्यान में नहीं रखते हैं तो काँटों में उलझ जाते हैं।

तो यहाँ सरागसंयम को देवगति का कारण कहा है। वीतराग-संयम वीतरागता की ओर ले जाता है और सरागसंयम स्वर्ग की ओर ले जाता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या संयम भी कभी सरागी होता है? संयम तो राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए है और इनको नष्ट करने के लिए है। जितने-जितने अंश में राग-द्वेष कम हो जाता है, उतना ही उतना संयम बढ़ता जाता है। जैसे मिश्री कड़वी नहीं होती और उसके लिए कड़वी विशेषण नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार संयम के लिए भी 'सराग' विशेषण नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि संयम राग-द्वेष को कम करने के लिए है और जितने अंश में संयम होगा उतने अंश में राग-द्वेष नहीं होगा। फिर भी शास्त्रकारों ने सरागसंयम को देवगति का कारण कहा है। इसका क्या अभिप्राय है?

इसका अभिप्राय यह है कि कोई साधक संयम की ओर चला है और साधना कर रहा है, उसने राग-द्वेष को भी कम किया है और उन पर विजय भी प्राप्त की है, उसे जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रेरणाएँ मिली हैं, किन्तु राग और द्वेष पूरी तरह छूट नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में साधक जब तक रहता है, तब तक का उसका संयम देवगति का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है। संयमी की आत्मा में जो रागभाव अवशिष्ट रह गया है, वही देवगति का कारण है।

शास्त्रों में बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें हैं और गहरा चिन्तन और मनन करने से ही उनका पता चलता है। तो संयमी का वह रागभाव कोई संसारिक नहीं होता—आपके राग के समान वह नहीं

होता। उसके लिए और भी कई ऊँची जगहें हैं। फिर भी आखिर वह राग, राग ही है और वह बन्धनों को नहीं तोड़ने देता।

आपने सुना होगा कि गौतम गणधर एक बार कैलाश की ओर गए। वहाँ १५०३ तापस साधना कर रहे थे, कुछ तो केवल वनफल खाकर गुजारा कर रहे थे, कुछ सूखी घास के तिनके चबाकर निर्वाह कर रहे थे और एक दल ऐसा भी था जो न वनफल और न घास ही खाता था, किन्तु निराहार रह रहा था। सभी तापस अशक्त और जर्जर हो गये थे और उनके शरीर में हड्डियों के सिवाय और कोई तत्त्व नहीं रह गया था।

वे तमाम अंधेरे में भटक रहे थे। उन्हें रोशनी नहीं मिल रही थी। वे सोच रहे थे—इतने-इतने वर्ष गुजार दिये, किन्तु वह सत्य क्यों नहीं मिल रहा है?

ज्यों ही गौतम उनके सामने पहुँचे और दिव्य ज्ञान का चमकता हुआ प्रकाश पहुँचा, फौरन सब खड़े हो गये और कहने लगे मालूम होता है, आपने कुछ पा लिया है!

जिसने पा लिया हो, वह छिपा नहीं रहता। एक आदमी दो-चार दिन का भूखा हो और दूसरों के सामने लम्बी-लम्बी डकारें ले तो क्या उसकी भूख छिप सकती है? मतलब यह कि भूखे की डकारें और तरह की और खाये हुए की डकारें और तरह की होती है। इसी प्रकार जो अज्ञानी है, वह कितना ही ज्ञानी होने का आदर्श करे, किन्तु उसकी अज्ञानता छिपी नहीं रहती। और जिसको ज्ञान मिला है, सत्य की रोशनी मिली है और जिसका जीवन ऊँचा उठ गया है, उसके चेहरे से और वाणी से ऐसा मालूम होगा कि वह

ज्ञान के आनन्द में झूल रहा है और ऐसा महान् आत्मा जिस गली-कूचे में से निकलता है, सत्य की रोशनी बिखेरता हुआ जाता है।

गौतम स्वामी में ज्ञान की अपूर्व आभा थी। उन्हें देख कर तापस कहने लगे—जान पड़ता है, इनको वह चीज मिल गई है। ये परमार्थ को पा गये हैं और हमें यह पुरानी वाणी याद आ जाती है:—

ब्रह्मविद् इव ते सौम्य! मुखमायाति

इसका मुख और चेहरा ऐसा चमक रहा है, जैसे इन्होंने परम-ब्रह्म के रहस्य को जान लिया हो!

तब तापस कहने लगे—आपने जो पाया है, वह हमें भी बतलाइए।

गौतम बोले— क्या बतलाऊँ!

अहो कष्टमहो कष्टं! पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते

गौतम कहते हैं—कष्ट तो बहुत झेले, परन्तु उन्होंने समीचीन साधना का रूप नहीं लिया। इससे बड़े कष्ट और क्या होंगे कि जीवन को होम देने की तैयारियाँ हो चुकी हैं! फिर भी सत्य तत्त्व की उपलब्धि नहीं हुई! इसका कारण यही है कि सत्य कहीं और जगह है और तुम्हारे कदम कहीं और पड़ रहे हैं। तुम शरीर से तो लड़ रहे हो, किन्तु मन से नहीं लड़ रहे हो! तुमने शरीर की हड्डियों को गला-गला कर नष्ट कर दिया तो भी क्या हुआ? जब तक सत्य के द्वार पर नहीं जाओगे, सत्य नहीं मिलने वाला है!

हम कर्मों से जूझ रहे हैं और कर्मों के बंधनों को तोड़ने के लिए लड़ रहे हैं, और विकारों से संघर्ष कर रहे हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी

हैं जो साँप से तो लड़ने चले हैं, किन्तु साँप का वहाँ पता ही नहीं है। वे अन्धाधुन्ध साँप की बांबी पर ही लाठियाँ बरसा रहे हैं। अगर साँप के घर पर लाठियाँ बरस रही हैं तो इससे साँप का क्या बिगड़ता है? वह तो गहराई में बैठा हुआ है। जब तक उसको पकड़ने की कला नहीं सिखी जाएगी, तब तक साँप को नहीं पकड़ा जा सकता।

हमारा शरीर साँप की बांबी है और मन साँप है। हमारी साधनाएँ शरीर को तो दुर्बल बना देती हैं, किन्तु मन पर उनका कुछ भी असर नहीं होता। इस रूप में चलने वाली लम्बी से लम्बी और कठोर से कठोर साधना भी कोई अभीष्ट फल पैदा नहीं करती। वह निष्फल हो जाती है और साधक उद्विग्न हो जाता है, ऊब जाता है, और फिर साधना के प्रति अनास्थाशील बन जाता है। यही कारण है कि ज्ञानी और अज्ञानी की साधना में महान् अन्तर होता है। कहा भी है:—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाइं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण॥

एक अज्ञानी और विवेकहीन साधक, जिसने अपनी आत्मा को पहचाना और परखा नहीं है, जो आत्मा के निकट तक नहीं पहुँचा है, जिसे आत्मा की झाँकी नहीं मिली है, वह यदि लाखों-करोड़ों वर्षों तक तप करता है और शरीर को गला-गला कर नष्ट कर रहा है, और इतने लम्बे काल में जितने कर्मों को खपा पाता है, उतने कर्मों को, ज्ञानी साधक, जो विवेकशील है, विचारशील है, जिसे ज्ञान का प्रकाश मिल गया है और जो मूल रूप में अपने आत्मा को समझ गया है, जिसने जगत् के साथ स्नेह और दया का मीठा संबंध स्थापित किया है, वह एक श्वास जितने अल्प काल में ही खपा डालता है।

ज्ञानी और अज्ञानी में इतना अन्तर है ! जिन कर्मों का क्षय करने के लिए अज्ञानी को करोड़ों वर्षों तक जूझना पड़ता है, ज्ञानी उन्हें एक सांस में क्षय कर डालता है ! हिन्दी भाषा में यही बात यों कही गई है:—

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे,
ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्तितें सहज टरें ते ।

—दौलतराम

तो जैनधर्म की साधना, साधना है, कोरा कष्टसहन नहीं है । वह ज्ञान के साथ चलती है, अज्ञान के साथ नहीं । इसीलिए एक संत ने कहा है:—

ज्यां लगी आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व झूठी ।

—नरसी महता

जब तक आत्मा का पता नहीं पाया, आत्मा की आवाज नहीं सुनी, नहीं जाना कि अन्दर में कौन विराजमान है, वहाँ परमात्मा का रूप है या राक्षस का भाव है और जब तक आत्मा का विश्लेषण नहीं किया और विश्व की आत्माओं को स्नेह, प्रेम और मित्रता की आँखों से देखने की कला नहीं सीखी है, तब तक जितनी भी साधनाएँ हैं, सब झूठी हैं, वे साधनाएँ नहीं हैं, कोरा कष्ट है !

तो गौतम स्वामी तापसों की उन कठोर साधनाओं के विषय में कहते हैं कि कष्ट तो बहुत बड़ा है, किन्तु सत्य का मार्ग नहीं मिला है ! आखिर महाप्रभु की वाणी ने उनके पट खोलें और ज्ञान का चमचमाता हुआ प्रकाश उन्हें मिला तो १५०३ तापसों की आँखें खुल गईं । फिर गौतम उनके उस परिवार को लेकर भगवान् के दर्शन

कराने चले । गौतम रास्ते में उनसे कहने लगे—मुझको तुमने बहुत समझ लिया है, परन्तु मैं तो कुछ भी नहीं हूँ । मै ने तो ज्ञान-सागर के किनारे बैठ कर शंख और सीपियाँ ही देख पाई हैं । रत्नों का भण्डार तो तुम्हें मेरे गुरु के पास मिलेगा । वास्तव में जीवन की कला सीखनी है तो उन महाप्रभु से ही सीखना ।

जब मनुष्य का मन संसार से और विषय-विकारों से हट जाता है और आत्मा की झांकी पाने लग जाता है, और जीवन की दौड़ लगाता है तो मोक्ष कितनी दूर होता है ?

राम ने लंका पर चढ़ाई करने से पहले वानर-वीरों से प्रश्न किया—लंका कितनी दूर है ? तब जाम्बवन्त ने, जो वानरसेना का सेनापति था, उत्तर दिया और वह उत्तर संस्कृत साहित्य से उतर कर हिन्दी में भी आया है कि—जो कायर है, बुज़दिल है और जिसके जीवन में साहस नहीं है, उसके लिए लंका दूर है, और जन्म-जन्मान्तर में भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकता, किन्तु जिसके जीवन में साहस है और बल का झरना बह रहा है और जो सर्वस्व होमने को उद्यत हो गया है, उसके लिए लंका एक कदम भी दूर नहीं है !

सेनापति ने सेनापति को सोहने योग्य ही उत्तर दिया और तब राम ने सन्तोष के साथ कहा—तो हमारे लिए लंका दूर नहीं रही ।

राम के पास असीम साहस मौजूद था । राम गादी लें या नहीं, यह निर्णय करने में उन्होंने एक भी मिनट नहीं लगाया । वह तत्काल फ़ैसला करके जंगल में आ गए । और उसी क्षण निर्णय कर लिया कि वह लंका में जाएँगे और सीता को लाएँगे ।

हाँ, तो साधक जब साधना के मार्ग पर चल पड़ता है तो मोक्ष कितनी दूर है ?

यों तो अनन्त काल बीत गया, किन्तु यों वह दूर नहीं है केवल आत्मा का नक्शा बदलना है और उसको बदलने के लिए ही अनन्त-अनन्त जन्म बदल जाते हैं। और जब आत्मा में शक्ति और तरंग पैदा हो जाती हैं और जब आध्यात्मिक रस का झरना मन के कण-कण में झरने लगता है, तो वह सारे कूड़े-कर्कट को बहा कर दूर कर देता हैं और उस समय मोक्ष दूर नहीं है।

माता मरु देवी ने हाथी पर बैठे-बैठे अन्तमुहूर्त्त में ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। इस विषय में भगवान् महावीर का चिन्तन गजब का है। कोई साधक आया, जिसने विषय-वासना के वशीभूत रह कर सारी जिंदगी बिता दी हैं और ढलती उम्र है, सिर का एक-एक केश पक गया है, उसने आज ही प्रवचन सुना और रोने लगा—आह ! कल्याण कैसे होगा ? मैंने तो सारी जिंदगी धूल में मिला दी हैं ! और अब मेरा क्या होगा !

तब भगवान् ने कहा—हताश मत हो, निराश मत हो ! अब भी क्या बिगड़ गया है ? तेरा मन जाग गया है तो तू अब भी वह चीज प्राप्त कर सकता है, जो सारी जिंदगी नहीं प्राप्त कर सका। कहा है:—

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसि पिओ तव संजमो यखंती य बंभचेरं च॥

—दशवैकालिक सूत्र, ४

पीछे से, ढली हुई उम्र में, और आखिरी सांसों में भी जो इस धर्म के मार्ग पर आया है और बाहर से ही नहीं भीतर से आया

है, जिसको उस अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और महान् त्याग-वैराग्य के जीवन से प्रेम उपजा है। और जिसने इनके साथ नाता जोड़ लिया है, उसे लम्बी देर की आवश्यकता नहीं, उसे जीवन में सँभलने के लिए दो-चार सांस भी मिल जाएँ, तो वह भी अमरलोक में जा सकता है। वह स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जीवन के श्रेय के लिए वर्षों और महीनों का कोई हिसाब नहीं है। वहाँ तो दिशा बदल जाने का ही प्रश्न है। दिशा बदल जाती है तो दशा भी बदल जाती है।

हाँ तो १५०२ साधक ज्यों ही भगवान् के निकट पहुँच रहे हैं कि उनको केवल ज्ञान हो गया! फिर भी गौतम उन्हें शिक्षा देते जा रहे हैं। जब वे समवसरण में पहुँचे तो गौतम ने प्रभु को पहले नमस्कार किया और सोचा कि ये पीछे करेंगे। किन्तु उन केवलियों ने तीर्थङ्कर को तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और अपने स्थान पर बैठ गये। जब गौतम ने यह देखा तो कहा—तुम लोग भगवान् की आसातना कर रहे हो! पहले वन्दना करो और उधर बैठो!

तब भगवान् बोले—गौतम! केवलज्ञानियों की आसातना मत करो। इन्हें जहाँ बैठना चाहिए था वहीं ये बैठ गये हैं और ठीक जगह पर बैठ गये हैं। ये अयोग्य जगह पर नहीं बैठे हैं। जिन्हें उपदेश की आवश्यकता नहीं है, उनके लिए उपदेश नहीं है:—

उद्देशो पासगस्स नत्थि।

तब गौतम ने कहा—क्या, प्रभो! इन्हें केवलज्ञान हो गया?

भगवान् बोले—हाँ इन्हें केवलज्ञान हो गया है।

यह सुन गौतम को हर्ष भी होता है और साथ ही साथ मन के एक दरवाजे से विषाद के भाव भी प्रवेश करते हैं। वह सोचने लगते हैं—अभी-अभी मैं इन्हें लाया हूँ! ये अज्ञान में भटक रहे थे और कुछ भी नहीं समझ रहे थे। मैंने इन्हें सत्य की एक प्रेरणा दी और यहाँ तक आ भी न पाये कि केवलज्ञान प्राप्त कर चुके! और एक मैं हूँ जो चिरकाल से साधना कर रहा हूँ और प्रभु के इतने निकट आ चुका हूँ, फिर भी केवलज्ञान नहीं पा रहा हूँ! तो मेरे लिए यह द्वार बंद क्यों है? मैं उस परम सत्य को पा भी सकूँगा या नहीं?

इसी प्रकार की भावना गौतम के मन में जागी और उन्होंने भगवान् से निवेदन किया। तब भगवान् ने कहा—

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन, १०

हे गौतम! तुम महासमुद्र को लांघ चुके हो, अब उसके अंतिम किनारे पर हो, जहाँ छिछला पानी है। वहाँ तुम्हारे कदम पहुँच चुके हैं और किनारा तुम्हारे सामने है। तुम क्यों नहीं छलांग लगा लेते हो? समय मात्र का प्रमाद ही तो जीवन को रोके रहता है और जब वह नहीं रहता है तो केवलज्ञान की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

गौतम बोले—प्रभो! वह प्रमाद क्या है?

भगवान् ने कहा—तुम्हारी साधना ऊँची है और इतनी ऊँची है कि उसकी समानता मुश्किल से ही मिल सकती है। मगर तुम्हारा

प्रमाद यही है कि मेरे प्रति, तुम्हारे मन में रागभाव विद्यमान है। जब तक मेरे प्रति स्नेह और राग का भाव तुम्हारे अन्तःकरण से दूर नहीं होगा, तुम केवलज्ञान की भूमिका पर नहीं पहुँच सकोगे। साधना का चरम स्वरूप यह है—

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः।

आत्मविकास की उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए मुनि के मन में ससार के प्रति निस्पृहभाव तो आ ही जाता है, मोक्ष की कामना भी उससे अलग हो जाती है। वह मोक्ष की भी इच्छा से अतीत हो जाता है। और—

यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।

जिसके अन्तर में मोक्ष की भी इच्छा शेष नहीं रहती है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है। जब तक मोक्ष पाने की इच्छा बनी हुई है, मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष पाने के लिए मोक्ष पाने की इच्छा का भी परित्याग करके, परिपूर्ण निस्पृहभाव धारण करना पड़ता है।

'अतएव भगवान् कहते हैं—गौतम! केवलज्ञान पाना है तो मेरे प्रति रहे हुए अनुराग के बन्धन को भी तोड़ कर फैंक देना होगा। यही बन्धन केवलज्ञान की प्राप्ति में बाधक है।

प्रश्न हो सकता है कि राग नहीं होगा तो तीर्थंकरों का गुणगान कैसे किया जायगा? अन्तर के राग भाव से स्तुति और वन्दना की जाती है। राग न रहेगा तो यह सब किसकी प्रेरणा से किया जायगा?

मैं समझता हूँ, वन्दना, स्तुति और साधनाएँ, जो भी हैं, उनके विषय में शास्त्रकार कहते हैं, कर्त्तव्य की प्रेरणा से करो,

अनुराग और स्नेह की प्रेरणा से मत करो। अपनी किसी भी साधना के साथ मोह और राग को मत जोड़ो। साधना के लिए मोह कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है।

इसीलिए जैनशास्त्र कहते हैं कि तू जब जीवन की साधना के मार्ग पर चले तो समभाव लेकर चल। संसार और मोक्ष के प्रति भी समभाव रख। तू जब तक संसार में है और भोगावली कर्म का उदय है, छटपटाता क्यों है? क्यों उद्विग्न होता है कि मैं अभी तक संसार में पड़ा हूँ! मोक्ष क्यों नहीं मिल रहा है! मोक्ष की ओर तेरी जो यात्रा है, वह बन्धनों को तोड़ने के लिए है। बन्धनों को तड़तड़ तोड़े जा। उकताता क्यों है? जल्दी ही मोक्ष पा लेने की बुद्धि और चिन्ता मन में मत रख। जब तेरा अन्तःकरण निस्पृहता की चरम सीमा को छूने लगेगा और उस राग से भी अछूता हो जायगा और पूरी तरह समरस बन जायगा, तो जीवन का कल्याण अपने आप आ जायगा। मुक्ति स्वतः प्राप्त हो जायगी। यही परमकल्याण का मार्ग है और इससे भिन्न कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

सत्य यही है और मार्ग यही है, किन्तु मनुष्य उस राग को नहीं छोड़ता है और दूर-दूर तक पकड़े रहता है। उससे छुटकारा पाने का क्या उपाय है? शास्त्रकारों ने इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है। जीवों के मानसिक व्यापारों का तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है। उन्हें अशुभदशा, शुभदशा और शुद्धदशा कहते हैं और शास्त्रों की भाषा में अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग भी कह सकते हैं:—

> परिणति सब जीवन की तीन भाँति वरणी।
> एक पुण्य, एक पाप, एक रागहरणी॥
>
> —द्यानतराय

मनुष्य जो बुराइयों में और विषयविकारों में चलता है और अपने जीवन को संसार की वासनाओं में भटकाता है, और भोग-विलासों में आसक्ति रखता है, वह उसकी अशुभदशा है और वह नरक और तिर्यञ्च गति का कारण है। इस अशुभ दशा से जब वह ऊँचा उठता है तो शुभदशा में आता है। इस दशा में वह अशुभ विचार नहीं रखता है, पाप की भावना से अलग हो जाता है, शुभ संकल्प करता है, फिर भी राग भाव से सर्वथा छुटकारा नहीं पा लेता। अप्रशस्त राग के स्थान पर प्रशस्त राग के मांगलिक रंग से उसका अन्तःकरण रंगा रहता है। वह वीतराग देव और धर्म के प्रति राग रखता है। यह प्रशस्त राग, मनुष्य को उस उँचाई तक ले जाता है, जहाँ स्वर्ग लोक है किन्तु इससे ऊपर एक और अवस्था है, जिससे शुद्धोपयोग और शुद्धदशा कहते हैं। शुद्धोपयोग आने पर न अप्रशस्त राग रह जाता है, न प्रशस्त राग ही रह जाता है।

अशुभदशा पाप का कारण है, शुभदशा पुण्य का कारण है और शुद्धदशा पाप और पुण्य-दोनों को काट कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाली है।

भगवान् महावीर में कौन-सा राग था? दोनों में से एक भी नहीं था। होता तो केवलज्ञान की भूमिका ही उन्हें प्राप्त नहीं होती। बारहवें गुणस्थान में, प्रशस्त राग भी जब धुल जाता है तभी तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की भूमिका प्राप्त होती है।

यह जीवन के उत्थान के सोपान हैं। अशुभ परिणति से बचने के लिए शुभ परिणति में जाना अच्छा है, मगर वही जीवन का चरम लक्ष्य, विकास की चरम सीमा और उन्नति की पराकाष्ठा न मान लें।

हमारा लक्ष्य तो उस दशा को प्राप्त करना है, जहाँ अशुभ दशा भी नहीं है, जहाँ लोहे की बेड़ियाँ भी नहीं है और सोने की बेड़ियाँ भी नहीं हैं। आत्मा अपने सहज स्वरूप में है, निजानन्द में लीन है, और किसी भी प्रकार का औपाधिक लगाव नहीं है।

बेड़ी चाहे सोने की हो, चाहे लोहे की हो, बेड़ी आखिर बेड़ी ही है। सोने में चाँदी मिला दी जाय तो सोना खोटा कहलाता है और चाँदी में सोना मिला दिया जाय तो वह भी क्या खोटी नहीं कहलाएगी? वह भी खोटी ही है, क्योंकि वह अपने असली रूप में-शुद्ध स्वरूप में-नहीं है। किसी भी वस्तु में जब दूसरी वस्तु का सम्मिश्रण या लगाव हो जाता है तो वह शुद्ध (Pure) नहीं रह जाती है। यह बात दूसरी है कि जिस वस्तु की मिलावट की जा रही है, वह मूल्यवान् है, अल्पमूल्य है, मगर है वह उससे भिन्न ही। और भिन्न होने के कारण वह जब उसमें मिलती है तो उसके शुद्ध स्वरूप को पलट देती है, उसमें विकार पैदा कर देती है तो उसे असली नहीं रहने देती।

एक कपड़ा है, स्वच्छ है, सफेद है, और उसे बढ़िया बनाने के लिए कोई केसरिया रंग चढ़ाता है, तो भले उस रंग से वह कपड़ा बढ़िया दिखाई देने लगे, मगर है वह कपड़े का विकार ही। हाँ, उसे आप शुभ विकार कह सकते हैं, जब कि कोयले के रग को अशुभ विकार कहा जाएगा। परन्तु वस्त्र का अपना रूप दोनों रंगों में नहीं है।

तो बात यही है कि कोई वस्तु कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसमें विजातीय तत्त्व का मिश्रण होते ही वह अशुद्ध बन जाती है, विकृत हो जाती है।

इस दृष्टि से हमें आत्मा को भी अपने शुद्ध स्वरूप में लाना है और शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विकारों से मुक्त करना है। चाहे हम ऊँचा उठने के लिए थोड़ी देर के वास्ते, नीची दशा का सहारा ले लें, पर आखिरकार उस सहारे को छोड़ना ही पड़ेगा।

संसार के साधारण प्राणी अशुभ उपयोग में वर्त्त रहे हैं। उन सब से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे एकदम ऊँची और लम्बी छलांग भर कर शुद्ध दशा में पहुँच जाएँगे। शुद्ध दशा तो ऊँची दशा है और बड़े आन्तरिक संघर्ष के पश्चात् ही वह प्राप्त होती है। गौतम गणधर जैसे असामान्य ज्ञानी और साधक भी जिस स्थिति को प्राप्त करने के लिए चिर काल तक तरसते रहे, वह स्थिति क्या अनायास ही प्राप्त हो सकती है ? उसके लिए तो गहरा मंथन करना पड़ता है। उसकी समनन्तर पूर्ववर्त्ती भूमिका शुभदशा है और शुभ-दशा के पश्चात् ही शुद्ध दशा प्राप्त होती है। यही कारण है कि संसारी प्राणियों को अशुभ दशा से छुटकारा पाने के लिए शुभ दशा का उपदेश दिया जाता है।

कोई व्यक्ति कोयले से कपड़े को काला कर रहा है, तो उसे आप क्या कहते हैं ! यही न कि-भाई, क्यों कपड़े का सत्यानाश कर रहा है ! रंगना ही है तो अच्छे (शुभ) रंग से रंग !

इसी प्रकार ज्ञानी जन कहते हैं—हे जगत् के जीवो ! अशुभ भावनाओं, विचारों, संकल्पों और अध्यवसायों के कोयले से अपनी आत्मा को मलीन मत करो। मन को रोक नहीं सकते तो शुभ विचारों के केसरिया रंग से ही उसे रंगो !

पाप और पुण्य के विषय में कई आचार्यों का चिन्तन और मनन हमारे सामने है। उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला है कि पाप का

बन्धन अशुभ दशा में होता है और पुण्य का बंधन शुभ दशा में होता है। बुराई की ओर ले जाने वाला पाप है और अच्छाई की ओर ले जाने वाला पुण्य है। इस प्रकार एक अशुभोपयोग है और दूसरा शुभोपयोग है। मगर हैं दोनों आस्रव ही।

हम पुण्य की भाषा में सोचने के आदी हो गये हैं और आत्मा को शुद्ध करने वाली निर्जरा का अधिकांश भुला बैठते हैं। पुण्य तो ऊपर उठने के लिए, थोड़ी देर का सहारा है।

एक मनुष्य गंदी मोरियों के किनारे घूम रहा है, दुर्गन्ध से उसकी नाक फटी जा रही है, तब उससे कहा जाता है—तुझे सैर करनी ही है तो फूलों के बाग की सैर क्यों नहीं करता? क्यों गंदी नालियों के किनारे चक्कर काट रहा है? यह बात पाप से पुण्य की ओर ले जाने के सबंध में है।

कई लोग कहा करते हैं—हमें मोक्ष की चाह नहीं है। स्वर्ग मिल जाय तो बस है, और कुछ नहीं चाहिए। मगर मैं पूछता हूँ—स्वर्ग किसका फल है?

पुण्यका!

तो इस प्रकार की मनोवृत्ति से भी बचना चाहिए। स्वर्ग के सुखों की लालसा में पड़ कर शुद्ध परिणति के कर्त्तव्य को खो नहीं बैठना चाहिए। बड़े-बड़े धर्मात्मा पुरुष मोक्ष के लिए भी राग नहीं रखते तो तुम स्वर्ग के लिए क्यों छटपटा रहे हो?

कहा जा सकता है कि बड़े-बड़े पापी भी तो मोक्ष के प्रति राग नहीं रखते हैं, फिर धर्मात्मा और बड़े पापी में इस दृष्टि से क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि पापी को मोक्ष के प्रति राग न होने का

कारण दूसरा है। उसे विषय वासनाओं के प्रति तीव्र राग है और मोक्ष पाने की कोई आशा ही नहीं है। उसे मोक्ष मिलने वाला ही है, यह बात उसे मालूम है। परन्तु जिसे मोक्ष मिलने वाला है, वह धर्मात्मा भी मोक्ष पाने की चिन्ता में घुल-घुल कर अपनी साधना में बाधा न डाले। चिन्ता और उद्वेग और कामना करने से मोक्ष क्या जल्दी मिलने वाला है? वह तो कर्त्तव्य की परिपूर्णता होने पर मिलेगा, अतएव तुम्हारा काम इतना ही है कि अपने कर्त्तव्य को निस्पृह भाव से किये जाओ। सुखों की लालसा या मोक्ष की अति-लिप्सा, साधना का घुन है। यह मार्ग का रोड़ा है। जो साधक है उसे मार्ग तो तय करना ही होगा और मार्ग तय होने पर मंजिल पर पहुँच ही जायगा, फिर बीच में इस रोड़े को वह क्यों प्रश्रय दे? एक कवि ने कहा है:—

तेडुं थयुं कत्तोरनुं, चाल्या बिना केम चालशे?

इच्छा करने से मंजिल तय नहीं हो जायगी। मंजिल तक पहुँचने के लिए तो चलना पड़ेगा। चले बिना कैसे चलेगा? जब चलना आवश्यक है और अनिवार्य है तो फिर चलते चलो। ठीक मार्ग पर चल रहे हो तो मंजिल दूर नहीं है। उसे पाने के लिए छट-पटाने की क्या दरकार है?

मुझे अपने विहार की एक घटना याद आ रही है। हम दिल्ली से विहार करके जा रहे थे और मुंडक गाँव पहुँचना था। रास्ता अनजाना था और पूछते-पूछते जा रहे थे। हमें चार कोस का फासला बतलाया गया था, पर चलते-चलते बहुत समय हो गया, फिर भी गाँव नहीं आया। मैंने अपने साथी एक सन्त से कहा—क्या बात है, इस गाँव ने तो हमारी पूरी कसौटी की है! अब भी नहीं आ रहा है!

पैर थक कर चूर-चूर हो गये थे। वह अब जवाब देने को तैयार हो रहे थे। रास्ते में जो मिलता, उसी से पूछता—अब मुण्डक कितनी दूर है? वह कहता—यही तो नजदीक आया!

मेरे साथी सन्त बोले—महाराज! इस तरह वार-वार पूछने से गाँव क्या जल्दी आ जायगा? चल पड़े हैं तो चलना ही होगा, चाहे चार कोस हो या छह कोस!

मैंने सोचा-वास्तव में इनका कहना ठीक है। रास्ता तो काटने से कटेगा। पूछने से कुछ कम नहीं हो जाएगा। आखिर दिन अस्त होते-होते उस गाँव में पहुँचे। गाँव छह कोस निकला!

ऐसी हैं हमारी वृत्तियाँ! हम कहीं चलते हैं तो चिन्ता करते रहते हैं कि कितने चले? यही हाल हमारी क्रियाओं का है। थोड़ी-सी धर्मक्रिया करते ही सोचने लगते हैं—इतनी साधना की, फिर भी कुछ हाथ नहीं लगा! इतनी सामायिक, पौषध आदि धर्मक्रिया की, फिर भी कुछ नहीं पाया!

अभिप्राय यह है कि हम अपनी सारी क्रियाओं में फल को ही ढूँढ़ा करते हैं। हमारी निगाह क्रिया पर नहीं, उसके फल पर रहती है। हम पुण्य की खोज ही करते रहते हैं। किन्तु धर्म का शुद्ध मार्ग यह नहीं है। धर्म तो यही कहता है कि तुम एक मात्र आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से जप, तप, शुद्धाचरण आदि करो, किसी प्रकार की आकांक्षा मत करो।

वैदिक ऋषियों ने भी इस विषय में एक सुन्दर सूझ दी है। वे कहते हैं:—

चरन्वेति-चरन्वेति।

चले चलो, बढ़े चलो। फल की ओर मत झाँको।

जैनधर्म भी यही कहता है कि तुम्हें आत्मा की विशुद्धि के लिए प्रयत्न करना है। अगर कोई साधक दुर्बल है तो उससे कहता है—तुम ऊपर से शुरु मत करो, नीचे से शुरु करो। अर्थात् अशुभ को लात मार कर शुभ से शुरु करो। अगर वह शुभ में आता-आता ही प्रश्न कर बैठे कि मुझे मोक्ष क्यों नहीं मिल रहा है? तो उसे कहा जाता है—तू इस प्रशस्त राग को भी छोड़ दे। अर्थात् मोक्ष जैसे उच्चतम पद के प्रति भी निस्पृह रह! इसमें भी अनुराग मत कर।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से केवलज्ञान न होने का कारण पूछने पर कहा था—तुम्हारा जीवन बहुत ऊँचा है, परन्तु एक कड़ी उलझी हुई है। वह यह कि तुम मुझ पर राग करके अटक जाते हो। अगर इस राग की कड़ी को तोड़ दो तो केवलज्ञान होने में देर नहीं है।

सारांश यह है कि शुभ वस्तु पर भी राग नहीं होना चाहिए, मोह नहीं होना चाहिए। जब यह स्थिति प्राप्त कर लेंगे तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सकेंगे। शुभभाव भी आखिर आस्रव के कारण हैं और आत्मा की उपाधि है। आत्मा को निरुपाधिक बनाने के लिए अशुभ भाव को शुभ भाव के द्वारा और शुभ भाव को शुद्धभाव के द्वारा दूर करना चाहिए। यही वीतराग धर्म का सार-सर्वस्व है। यह सार शास्त्रों के गहरे चिन्तन से प्राप्त होता है।

२५—१०—५०

(८)

तीन परिणतियाँ–२

●

कल जो प्रसंग चला था, उसके विषय में कुछ बातें रह गई हैं। आज उन्हीं पर कुछ प्रकाश डालना है।

भारत के जो भी धर्म और सम्प्रदाय हैं, प्रायः उन सब में पुण्य और पाप की व्यवस्था की गई है। हमारे समस्त पड़ौसी धर्मों ने अधिकतर पुण्य और पाप की भाषा में ही सोचा है, किन्तु जैनधर्म इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी बात को भी बहुत अधिक महत्त्व देता है। वह क्या है? पाप और पुण्य को तो वह स्वीकार करता ही है, पर इससे भी ऊपर एक तत्त्व को वह और स्वीकार करता है, जिसे धर्म; निर्जरा और शुद्धोपयोग कहते हैं।

भारत के पुराने धर्मों में एक मीमांसाधर्म है, जो वेदों का जबर्दस्त समर्थक और अनुयायी रहा है और यज्ञ-याग आदि क्रिया-काण्ड का हामी रहा है। गौतम आदि ग्यारह गणधर भी पहले इसी धर्म से सम्बन्ध रखते थे। भगवान् महावीर से पहले यह एक विराट

धर्म माना जाता था। किन्तु वह भी पुण्य और पाप—इन दो ही तत्त्वों में अटक गया—नरक और स्वर्ग तक ही पहुँच पाया। उसने कहा कि जो असत् या दुष्ट कर्म करते हैं, बुराइयों में लगे हुए हैं और दुनिया भर के विकारों में फँसे हुए हैं, वे नरक के भागी होते हैं। इस प्रकार पाप का फल नरक बता कर लोगों को पाप से हटाने का प्रयत्न किया और कहा कि पाप जीवन का लक्ष्य नहीं है। जब पाप का फल-नरक-लक्ष्य नहीं तो पाप भी कैसे लक्ष्य हो सकता है?

मनुष्य जो भी काम करता है, फल के लिए करता है। तो जो फल मनुष्य को अभीष्ट नहीं है, जिसे वह अच्छा नहीं समझता है, बल्कि बुरा समझता है, उसको पाने की साधना को भी वह बुरा ही समझेगा। अर्थात् पाप का फल हमें अभीष्ट नहीं है तो पाप भी अभीष्ट नहीं है। इस रूप में पाप का फल नरक बतलाकर मनुष्य को पाप से हटाने का प्रयत्न किया।

मीमांसा के अनुसार दूसरा जीवन स्वर्ग का है। जो भी सत्कर्म किये जाते हैं, यज्ञ-याग, दान, सेवा आदि प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, किसी को सहायता दी जाती है, प्रभु का नाम लिया जाता है, इन सब सत्कर्मों का परिणाम स्वर्ग है। मतलब यह कि हम जो भी पुण्य के काम करते हैं, उनका फल शुभ होता है और वह स्वर्ग के रूप में हमें मिल जाता है।

इस प्रकार स्वर्ग अभीष्ट है तो पुण्य भी अभीष्ट होना चाहिए। इस रूप में जीवन की दूसरी धारा स्वर्ग में जाकर अटक गई है और जीवन दो किनारों में बन्द हो गया है। जीवन के एक ओर पाप और दूसरी ओर पुण्य है; एक तरफ नरक है और दूसरी तरफ स्वर्ग है।

किन्तु स्वर्ग से भी ऊँची कोई चीज है और स्वर्ग के देवताओं के सिंहासन-से भी ऊपर कुछ है, मीमांसा ने इस तथ्य को नहीं समझा। उसकी दृष्टि उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकी और उसने उसके संबंध में इन्कार कर दिया।

आज आर्य समाज की जो धारणाएँ हैं, वे भी पुण्य और पाप तक पहुँच कर ही अटक गई हैं। आर्य समाज ने मीमांसा धर्म की पुरानी परम्पराओं को भी पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु पुण्य-पाप के रूप में ही उसने अपनी धारणाओं को ठीकठाक कर लिया है। माना गया है कि पुण्य करने से उत्थान और पाप करने से पतन होता है। जैसे झूले में झूलने वाला कभी ऊपर और कभी नीचे आता है और वहाँ अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर पाता है, इसी प्रकार जीवन का भी कोई लक्ष्य स्थिर नहीं है।

तो मीमांसा-धर्म के पहले जो विचार थे, वे अब उसी रूप में नहीं मिलते, किन्तु आज भी टूटे हुए खंडहर तो मिल ही जाते हैं।

इस रूप में मैंने कहा है कि मीमांसा धर्म और दूसरे साथी धर्म पुण्य और पाप के रूप में सोचते हैं, इनसे भी ऊपर के महामार्ग को वे नहीं देखते। किन्तु जैनधर्म ने पुण्य और पाप से भी अलग एक और मार्ग ढूँढ़ा है। जैनधर्म कहता है कि जब तक जीवन का किनारा नहीं पाया और पुण्य और पाप मौजूद हैं, आत्मा उस महासागर में ही थपेड़े खाती रहेगी, ऊपर आएगी और फिर डूबने लगेगी, वह कभी ऊपर और कभी नीचे आती ही रहेगी और इस रूप में यदि जीवन की समस्याओं को नापने चलेंगे तो अनन्त-अनन्त काल तक भी, डूबना और उतराना ही होता रहेगा और जीवन का कोई भी लक्ष्य स्थिर होने वाला नहीं है। तो पाप और पुण्य से भी ऊपर जो मार्ग है, वह धर्म का मार्ग है।

योगदर्शन के भाष्यकार भी दो ही चीजों को मान कर चलते हैं और कहते हैं:—

चित्तनदी उभयतो वाहिनी वहति पुण्याय, वहति पापाय च।
—पातञ्जल योगदर्शनभाष्य।

अर्थात्—चित्त या मन की नदी दो ओर बहती है। वह पुण्य की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी बहती है। इसका अर्थ यह है कि वह पुण्य और पाप के दोनों तटों के बीच ही सीमित है। इनसे अलग तीसरी कोई राह नहीं है। किन्तु जैनदर्शन इससे सहमत नहीं है। वह कहता है कि हमारा अन्तर्जीवन, जहाँ संघर्ष चलते रहते हैं और कभी उठती हुई और कभी बैठती हुई लहरें होती हैं, वह गरजता हुआ महासागर है। वहाँ जीवन की धारा तीन रूप में बह रहती है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

एक मनुष्य हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार करता है, परिग्रह का सचय करता है, क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारों में फँसा रहता है, और उसके जीवन की धारा कलुषित रहती है और उसमें दुर्गन्ध आती है, और जब वह इस रूप में रहता है तो अशुभोपयोग में रहता है। वहाँ भी चिन्तन और ज्ञान है, किन्तु वह ऐसा पानी है जो गंदी नाली में बह रहा है।

आखिरकार जो गंदी मोरी है और शहर भर की गदगी ढोने वाली नालियाँ हैं और जो दुर्गन्ध बहाती चल रही हैं, कोई पूछे कि उनमें पानी है या नहीं?

हाँ, पानी तो है। पानी न हो तो वह बहें कैसे? और उस गंदगी को लेकर चले कौन? तो, उनमें पानी तो मानना ही पड़ेगा,

मगर उस पानी में गंदगी भर गई है और कूड़ा-कचरा मिल गया है।

इसी प्रकार पाप में भी चेतना है। मनुष्य हिंसा करता है तो हिंसा करने में उसका जो निज गुण है, ज्ञानशक्ति है और अंदर चेतना है, वही उस कूड़े-कचरे को बहाये जा रही है। अगर वहाँ उपयोग-अशुभोपयोग न हो तो पाप का कोई अर्थ ही नहीं रहता। आखिर जड़ तो पापकर्म नहीं करता और न पाप-पुण्य का बन्ध ही करता है, चेतन ही पाप का बन्ध करता है और पुण्य का भी बंध करता है।

एक इन्सान लाठी से किसी का सिर फोड़ देता है, तो सिर फोड़ने का पाप लाठी को नहीं लगता है, इन्सान को ही लगता है। क्यों, सिर तो लाठी ने ही फोड़ा है, फिर लाठी को पाप क्यों नहीं लगता? लाठी पाप की भागिनी नहीं होती और न उसके पीछे जो हाथ हैं, वही पाप के भागी होते है। पाप तो हाथ वाले को—इन्सान को ही लगता है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ चेतना है, वहाँ पाप भी, पुण्य भी और धर्म भी होगा। और जहाँ चेतना नहीं, वहाँ तीनों ही चीजें नहीं हैं। क्योंकि हिंसा और असत्य के पीछे भी वृत्तियाँ होती हैं और इस प्रकार दुनियाभर में जो पाप हो रहे हैं, उनके पीछे वृत्तियाँ अवश्य हैं और उन्हीं वृत्तियों और भावनाओं को हम चेतना कहते है।

इस प्रकार आत्मा का स्वभाव जो उपयोग है, उसमें जब हिंसा, असत्य, चोरी और व्यभिचार आदि की गंदगी मिल जाती है, और इनके मिलने से वह उपयोग गंदा हो जाता है और वह उस गंदगी को लेकर चलता है, तब वह अशुभोपयोग कहलाता है।

दूसरा शुभोपयोग है। शुभोपयोग, अशुभोपयोग से निराला है और उसमें पापों की गंदगी नहीं है, किन्तु वह भी आत्मा की

स्वाभाविक परिणति नहीं है। मतलब यह है कि मनुष्य अशुभ से हटता है अर्थात् बुरी वृत्तियों और बुरे संकल्पों से दूर हो जाता है और शुभ संकल्प ले लेता है, किन्तु उनमें रंग डाले बिना नहीं रहता। जीवन में पवित्र संकल्प और ऊँचे सिद्धान्त गूँजने लगे, वह दुखियों की सेवा और सहायता के लिए भी दौड़ा और उनके आँसू पौंछने को भी चला, जीवन में जहाँ कहीं रहा, नम्र होकर रहा, उसने साधना की और गृहस्थ या साधु के रूप में अपने जीवन को ऊँचा उठाया, और इस प्रकार जीवन में पापों की गंदगी नहीं मिला रहा है, फिर भी रंग डालना नहीं भूल रहा है। कभी नीला और कभी पीला रंग डालता है और तसवीर बनाता जाता है और रगरोगन मिलाता जाता है, और इतना सौन्दर्य मालूम होता है कि हरतरफ चकाचौंध हो जाती है, फिर भी पानी में पानी का अपना रूप तो वह नहीं कहा जा सकता!

गंदी नाली के पानी में जो गंदगी थी, वह इस पानी में नहीं है। अतएव गंदे और दुर्गन्ध वाले पानी की अपेक्षा, इस पानी की स्थिति ऊँची है। यानी एक आदमी गंदी मोरी का पानी लेकर-मकान को पोतने लगा और दूसरा स्वच्छ पानी में रंग डाल कर पोतने लगा, तो दोनों में भेद जरूर है, किन्तु फिर भी दोनों ही जगह पानी का निज रूप नहीं है।

तो पुण्य के साथ जो चेतना और उपयोगधारा है, वह अशुभ की अपेक्षा अच्छी है और ऊँची है, फिर भी कहना चाहिए कि वह पानी का असली रूप नहीं है—आत्मा का सहज स्वरूप नहीं है। वहाँ भी अन्तः चेतना अपने असली रूप में व्यक्त नहीं हुई है।

जहाँ तक जैनदर्शन का ताल्लुक है, उसने संसार को पूरी तरह माप लिया है। उसने बतला दिया है कि संसार में ऊँची से ऊँची जगह कौन-सी है और नीचे से नीची जगह कौन-सी है?

हमें इस तथ्य को विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि पाप और पुण्य दोनों की भूमिका संसार है और जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, उसमें कोई समझौता नहीं हो सकता। आखिरकार दोनों ही संसार के किनारे हैं। मान लीजिए, किसी को समचतुरस्त्र संस्थान मिला और किसी को कोई दूसरा संस्थान मिला तो इससे क्या हो गया? शरीर की रचना में ही तो फर्क पड़ा, और क्या फर्क पड़ गया?

एक आदमी सुख भोग रहा है और एक दुःख भोग रहा है। दोनों को अपनी-अपनी करनी का फल मिल रहा है और दोनों ही संसार की भूमिकाएँ हैं, कोई मोक्ष की भूमिका नहीं है।

जहाँ संसार का प्रश्न है, वहाँ अशुभ और शुभ—दो धाराएँ हैं, किन्तु जहाँ अध्यात्म का प्रश्न है, वहाँ तीसरी धारा है, और इसी तीसरी धारा को हम शुद्धोपयोग कहते है। वह पाप और पुण्य से अलग और ऊँची और पावन धारा है। आत्मा जब तक पाप और पुण्य की धारा में बह रही है, तब तक संसार की ओर बह रही है और जब वह शरीर की ओर से हट कर अपने घर की ओर आती है, तब उसका घर की ओर जो कदम है, वह पाप या पुण्य का कदम नहीं, अपने घर का अर्थात् मोक्ष का कदम है।

इसी कारण मैं कहता हूँ कि जितना पवित्र आचरण है, वह पाप या पुण्य के उदय से नहीं है। सांसारिक सुख और दुःख पुण्य-पाप का कार्य है, मगर संयम नहीं। किसी साधक ने श्रावकपन अंगीकार किया और अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि पालने का नियम लिया तो वह किस पुण्य के उदय से लिया है? कौन-सा पुण्य है जिसके उदय से समकित मिलता है? पुण्य की ४२ प्रकृतियों में से कौन-सी प्रकृति सम्यक्त्व को उत्पन्न करती है?

और जो साधुता की राह पर, अहिंसा और सत्य की राह पर चल रहा है, वह किस पुण्य के उदय से चल रहा है ? मैं क्षमा कर रहा हूँ, ब्रह्मचर्य पाल रहा हूँ और नम्र, उदार और सरल हूँ तो किस पुण्य के उदय से हूँ !

किसी भाई से व्रत-प्रत्याख्यान, नियम वगैरह के लिए कहा जाता है तो वह कहता है—जब शुभ कर्म का उदय होगा, तब यह मिलेगा। और श्रावकपन या साधुपन की बात कहते हैं तो कहते हैं कि कहाँ हमारे सत्कर्म का उदय है ? और हमारे ऐसे पुण्य हैं कि हम साधु अथवा श्रावक बन जाएँ ? एक नहीं हजारों ऐसा कहते हैं और एक जगह नहीं, प्रायः सभी जगह ऐसा कहा जाता है। तो हजारों और लाखों कहने वाले हैं, किन्तु साहब ! जब तक शास्त्र हाँ नहीं भरेंगे, हम मानने वाले नहीं हैं !

सिद्धान्त की बात तो यह है कि मनुष्यजन्म तो पुण्य के उदय से मिला है, किन्तु मनुष्योचित सद्गुण अर्थात् सरलता, दयालुता नम्रता और करुणाशीलता आदि किस पुण्य के उदय से मिलती हैं ? इसका कोई ठीक उत्तर नहीं दे सकता। और इसका कारण यही है कि श्रावक की भूमिका कर्मों के क्षयोपशम से होती है, किसी कर्म के उदय से नहीं होती।

आपको मालूम है, श्रावकपन कब उत्पन्न होता है ? जब अप्रत्याख्यान चौकडी का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है और आंशिक संवर की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब श्रावकत्व या देश संयम होता है। और जब प्रत्याख्यानी चौकड़ी भी दूर हो जाती है, तब साधुत्व की भूमिका प्राप्त होती है।

चारित्र औदयिक भाव में नहीं है। क्रोध के लिए कहा जा सकता है कि वह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होता है, परन्तु क्षमा

के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्मा की जितनी स्वाभाविक परिणतियाँ हैं, वे किसी कर्म के उदय का फल नहीं है। वे तो कर्मों के क्षय से होती हैं। हमें जैन धर्म के इस दृष्टिकोण को समझना चाहिए।

हम पुण्य का भी एक जगह आदर करते हैं, किन्तु हमारा जो लक्ष्य है, वह कहीं चूक न जाय और हम बीच में ही भटक न जाएँ, इस ओर ध्यान रखना भी हमारा कर्त्तव्य है। हमें अपने सिद्धान्त की वास्तविकता को समझने में कहीं भूल नहीं करना चाहिए। भूल करेंगे तो पानी में कोयला और रंग ही डालते रह जाएँगे, औदयिक भावों में ही रचे-पचे रह जाएँगे और शुद्ध दशा की ओर नहीं बढ़ सकेंगे।

अभिप्राय यह है कि हमारे जीवन की जो पवित्रता है, वह किसी कर्म के उदय से नहीं आती है। श्रावकत्व और साधुत्व कर्मोदय का फल नहीं है। गुणस्थानों का विकास भी कर्म के उदय से नहीं होता है। यह ठीक है कि गुणस्थानों की दशा में कर्मों की सत्ता बनी रहती है, फिर भी गुणस्थानों का विकास तो कर्मोदय का फल नहीं है। वह तो कर्मों के क्षय उपशय या क्षयोपशय का ही फल है।

इस प्रकार चिन्तन करने से आप अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की बात समझ सकते हैं। जब हम शुद्धोपयोग को अलग गिनने चलते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि शेष दोनों उपयोग उसकी अपेक्षा अशुद्ध हैं। वास्तव में बात सच्ची है। यही कारण है कि जब तक आत्मा में पाप और पुण्य की प्रकृति का एक भी अंश रहता है, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। तीर्थङ्कर नाम कर्म जैसी प्रकृति, जो देवाधिदेव की भूमिका है, उसका भी एक अंश या

दलिक जब तक शेष रहता है, तब तक संसार की ही भूमिका है और तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि मोक्ष के लिए आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट करना चाहिए, उसमें न बुरा और न अच्छा ही रंग मिला होना चाहिए, दोनों से निराली, आत्मा की शुद्ध दशा प्राप्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

सचाई यह है; किन्तु हमारे हजारों साधक पुण्य और पाप के रूप में ही सोचने लगे हैं और तीसरी भाषा में सोचना भूल गये हैं। और भूल गये हैं तो सौदा करने में लग गये हैं और हमारा हरेक पासा लूटने के लिए या लुट जाने के रूप में पड़ रहा है। इस प्रकार हमारा जीवन या तो स्वर्ग में या राजगद्दी में भटक जाता है और आगे नहीं बढ़ पाता।

एक भाई रोज सामायिक करने आते थे। एक दिन नहीं आए तो उनसे सबेरे न आने का कारण पूछा। तब वह कहने लगे—नहीं आया तो उसका फल भी भोग लिया! हमेशा तो ठीक-ठाक चलता था, किन्तु आज सबेरे सामायिक नहीं की और दुकान पर चला गया तो कुछ ठीक नहीं रहा।

मैंने सोचा—यह भाई जो सामायिक कर रहा है सो जुए का पासा खेल रहा है! यह सोचता है कि सामायिक करके दुकान जाएँगे तो अच्छी कमाई होगी, नहीं तो नहीं होगी।

मैंने देखा है, हजारों आदमी दुकान की पेढ़ी को ढोक देते हैं।

एक वैष्णव भाई ने कहा—आज शैव का व्रत किया तो अच्छा रहा। मैंने उससे पूछा—तुम तो वैष्णव हो, शैव नहीं हो, फिर विष्णु की उपासना क्यों नहीं करते?

वह बोला—विष्णु ठहरे लक्ष्मी के देवता। और जो स्वयं बटोरने वाले हैं, वे दूसरों को क्या देंगे! शिवजी देने में रहते हैं; लेने में नहीं रहते। इसलिए मैं शिव की उपासना करता हूँ।

ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ मनुष्यों के मन में घुस गई हैं। उन्होंने देवों के विषय में भी फैसले कर लिये हैं कि अमुक देवता देने वाला है और अमुक लेने वाला है।

इसी तरह हमारे भगवान् के नीचे भी हजारों देवी-देवता, चक्रेश्वरी, पद्मावती और भैरों आदि के रूप खड़े हो गये हैं। इस प्रकार भगवान् तो एक किनारे पड़ गये हैं और उनके सिंहासन पर देवी-देवता विराजमान हो गये हैं और होते जा रहे हैं।

जो मनुष्य पुण्य की ही बात सोचता है, वह धर्म के विषय में भी काला बाजार करना चाहता है।

आपको सोचना यह चाहिए—मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगा और ईमानदारी से काम करूंगा, उसमें फिर नफा नुकसान, जो भी आयगा, उसे सहर्ष भाव से अंगीकार करूंगा।

राजकुमार ललितादित्य नामक एक काश्मीरी लड़के की कहानी पढ़ी थी। वह एक महान् लड़का था। उसकी उम्र जब बारह वर्ष की थी, तब एक बार काश्मीर पर हमला हुआ। मुकाबिला करने के लिए सेना तैयार हो गई, किन्तु सेना का नियन्त्रण करने के लिए सेनापति नहीं था। ललितादित्य सेनापति बनाया गया। जब वह घोडे पर चढ़ कर जाने लगा तो उसकी माता, भाई, वहिन आदि आईं और कहने लगीं—'जरा हमारा खयाल रखना, अर्थात् बच्चे हो, हिम्मत न हार जाना।' सेना ने कहा हम लड़ेंगे, किन्तु शिक्षा तुम्हारी होगी।

यह हाल देखा तो राजकुमार ने सोचा—ये लोग मुझे बुज-दिल समझते हैं। और उसने कहा—ललितादित्य लड़ने को जा रहा है, खड़ा रहने को नहीं जा रहा है। तुम सब निश्चिन्त रहो। ललितादित्य के साथ में एक ही चीज है कि जब भी शत्रु देखेंगे, मेरी छाती ही देखेंगे, पीठ कभी नहीं देखेंगे। बस, इतनी ही बात मेरे हाथ में है। जय होना अथवा पराजय होना भाग्य के हाथ में है। ललितादित्य जीत या हार के लिए नहीं जा रहा है, वह तो लड़ने के लिए जा रहा है। वह जब भी भाले या तलवार से घायल होकर गिरेगा तो छाती के पान गिरेगा, किन्तु पीठ दिखाकर नहीं भागेगा।

तो ललितादित्य ने जो बात कही है, वह संसार की भूमिका में कही हैं, किन्तु जीवन की भी यही बात है। जो जीवन-समर के लिए चला है और अपनी वासनाओं के क्षेत्र में संघर्ष करने चला है, उसे शुद्ध कर्त्तव्य की बुद्धि रख कर ही चलना चाहिए, फिर चाहे वह समाज की सेवा हो या देश की या जातिं की हो।

जो भी सेवा हो, उसे कर्त्तव्य बुद्धि से करना ही उचित है। उसमें स्वार्थ एवं वासना की भावना का जहर नहीं घोलना चाहिए। मैं आज इसके पैर इसलिए दाब रहा हूँ कि कल यह मेरे दाबेगा, यह स्वार्थ की बुद्धि है। पैर दाबना मेरा कर्त्तव्य है, इसलिए दाब रहा हूँ। इस प्रकार की भावना कर्त्तव्य की भावना है। जो भी कर्त्तव्य किया जायगा, उसका फल अवश्य मिलने वाला है। फल की कामना होगी तो भी और न होगी तो भी, फल मिलेगा ही। फल कहीं भाग नहीं जायगा। अलबत्ता फल की कामना फल को जहरीला बना देती हैं और कामना न करने से मधुर और पूर्ण फल मिलता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य क्यों कामना करके फल को बिगाड़ते हैं? मनुष्य की यह एक महान् दुर्बलता है।

कोई व्यक्ति चाहे अनजान हो या जानकार, अगर सेवा के क्षेत्र में निष्काम भाव से चल रहा है, तो वह इस नाते शुद्धोपयोग की भूमिका में चल रहा है। यदि वह इच्छाएँ और तमन्नाएँ लेकर चल रहा है तो पुण्य कर्मों के पीछे चल रहा है, दुष्ट बुद्धि से चल रहा है और पाप की भावना से चल रहा है तो अशुभोपयोग में चल रहा है।

कर्म अच्छे और बुरे—दो ही प्रकार के हैं। अच्छे कर्मों के पीछे तमन्नाएं और अभिलाषाएं हैं तो पुण्य का बन्ध होता है, बुरे कर्मों के पीछे तमन्नाएँ हैं तो पाप का बंध होता है, और जब सत्कर्म के पीछे कोई इच्छा या कामना नहीं है, किन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से और अनासक्त भाव से सत्कर्म किया जा रहा है तो वह कर्म धर्म बन जाता है।

धर्म न पुण्य है, न पाप है, वह तो जीवन की पवित्र भूमिका है। संत देवीचन्द्र ने कहा है :—

जे जे अंशे रे निरुपाधिपणुं ते ते अंशे रे धर्म।
सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणा थकी जाव लहे शिवशर्म॥

—चौवीसी

जितने-जितने अंशों में विकार नहीं है और जितने-जितने अंशो में इच्छाएं और कामनाएं नहीं हैं, उतने-उतने अंशों में धर्म है। और जितना धर्म होगा, उतना ही आत्मा आगे बढ़ेगी।

तो अभिप्राय यह है कि अनासक्त भाव से शुद्ध परिणति है। चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक जो परिणतियाँ हैं और एक के बाद एक ऊँची भूमिकाएँ है, वहाँ क्रमशः वासनाएँ कम होती जाती हैं। ज्यों-ज्यों कषाय भाव कम होता जाता है और समभाव

बढ़ता जाता है, और जितना-जितना समभाव बढ़ता जाता है, उतना-उतना धर्म बढ़ता जाता है।

अब प्रश्न यह है कि पुण्य का भी कहीं उपयोग है या नहीं? हमारे कई साथी कहते हैं कि पुण्य का कोई उपयोग नहीं है। उन्होंने पुण्य को एक छोटे से घेरे में बन्द कर दिया है, जब कि जैनधर्म ने उसका विराट रूप माना है। जीवन के व्यवहार में, कौन सत्कर्म और कौन असत्कर्म है, इसके पीछे भी एक ऐसी व्याख्या खड़ी कर दी गई है कि पुण्य को भी पाप कहा जाने लगा है। आप जिसे पुण्य कहते हैं, हमारे पड़ोसी कुछ विचारक उसे पाप कहते हैं।

किसी गरीब आदमी को आपने रोटी दे दी, कपड़ा दे दिया और आसाम के भूकम्प पीड़ितों की सहायता कर दी, तो हमारे सिद्धान्त की धारा उसे पुण्य कहती है, किन्तु हमारा पड़ोसी साथी सम्प्रदाय उसी को पाप कहता है।

बात यह है कि उन्होंने पाप और पुण्य में वृत्तियों को छोड़ कर सिर्फ वस्तु को ही पकड़ लिया है। अमुक वस्तु है और अमुक लेने वाला अच्छा है तो पुण्य या धर्म हो गया और वस्तु नहीं है, परन्तु लेने वाला व्यक्ति उस तरह का नहीं है, तो अधर्म हो गया, पाप हो गया।

इस कल्पना में देने वाले की भावना और वृत्ति का कोई मूल्य नहीं आंका गया है; पुण्य या पाप का हिसाब केवल व्यक्ति को लेकर या किसी वस्तु को लेकर लगाया गया है। ऐसा क्यों किया गया है, समझ में नहीं आता। भगवान् ने तो प्रत्येक व्यक्ति के परिणामों की धारा के अनुसार ही कर्मबन्ध होना बतलाया है। और पुण्य तथा पाप भी हैं तो कर्म ही, फिर उनके बंध में परिणामों की सर्वथा उपेक्षा

और अवहेलना क्यों की जाती है? पुण्य शुभ कर्म है और पाप अशुभ कर्म है। दोनों का बन्ध मनुष्य की भावाना के अनुसार ही होना चाहिए।

हमारे समाज में भी, कई लोगों में, यह गलतफहमी फैली हुई है। उन्हें देने वाले की भावना से कोई सरोकार नहीं है। उनकी आँखें सिर्फ लेने वाले व्यक्ति और वस्तु पर ही गड़ी रहती हैं। वे कहते हैं—कुपात्र को देने से भी क्या कभी पुण्य बन्ध हो सकता है! कुपात्र को दान देना निष्फल है ऊसर भूमि में बीज बोना है।

मैं कहता हूँ, कुपात्र को दान देते समय देने वाले की भावना कैसी है, इसे क्यों नहीं देखते? जिसे कर्मबन्ध होता है, उसकी भावना का कोई विचार ही नहीं, कोई गिनती ही नहीं! देने वाले ने चाहे कुपात्र को दान दिया, चाहे सुपात्र को, कर्मबन्ध तो उसी को होगा! और जब उसी को होगा तो उसके परिणामों के अनुसार होगा या योंही किसी बाहरी वस्तु के अनुसार हो जायगा?

हमारे एक साथी भाई ने, जो उसी मान्यता पर चल रहा था, मुझसे पूछा—क्यों महाराज! कुपात्र को दान देने से क्या होगा।

मैंने कहा—दाता की जैसी भावना होगी, वैसा ही होगा। देने वाले ने जैसी भावना से दिया होगा, वैसा ही फल होगा। अगर उसके भाव अच्छे होंगे तो अच्छा फल मिलेगा।

उसने कहा—आप तो टेढे चलते हैं। हम तो साफ कहते हैं कि कुपात्र दान से पुण्य नहीं होता और सुपात्र दान से धर्म (निर्जरा) होता है।

मैंने उससे पूछा—तब तुम्हीं बतलाओ कि नागश्री को क्या हुआ? उसने भी तो धर्मरुचिजी जैसे सुपात्र महामुनि को आहार दिया था न?

यह सुन कर वह भाई कुछ न बोल सका और बगलें झांकने लगा। तब मैंने फिर कहा—भाई, पुण्य-पाप का बन्ध तो दाता के परिणामों पर निर्भर है, सुपात्र और कुपात्र पर निर्भर नहीं हैं। किसी क्रिया का फल उसके कर्त्ता के परिणामों के अनुसार ही होता है। फिर दान का फल भी देने वाले के परिणामों के अनुसार क्यों नहीं होगा ? ऐसा न मानने पर तो जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त का आधार ही खत्म हो जाता है।

जब से हम वृत्तियों को महत्त्व न देकर व्यक्तियों और वस्तुओं को महत्त्व देने लगे हैं, तब से स्थूल बन गये है। हम अपनी चिंतन-शक्ति खो बैठे हैं।

धर्म अधर्म का निर्णय इन्सान की बुद्धि ही कर सकती है। इन्सान होकर भी जो अपनी चिन्तनशक्ति का विकास नहीं करता, वह इन्सान ही कैसे ? पशु में इतनी चिन्तनशक्ति नहीं होती। वह किसी की वृत्ति के आधार पर निर्णय नहीं कर सकते। पर इन्सान तो कर सकता है। वह तो वृत्तियों को ही पकड़ेगा।

मै पहले कह चुका हूँ, तीन प्रकार की परिणतियों में उत्तम परिणति शुद्धोपयोग की हैं, निर्जरा की है और वही धर्म का रूप लेती है। परन्तु मध्यम परिणति-पुण्य भावना भी, अशुभ परिणति से बहुत अच्छी है। वह शुभोपयोग है। पुण्य से भी हम आशा रखते हैं। वह धर्म के महत्त्व तक पहुंचाने वाला है और पाप का विरोधी है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। ऊपर-ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ने के लिए नीचे-नीचे की सीढ़ियों पर चढ़ना भी अनिवार्य है और चढ़ कर उन्हें छोड़ देना भी अनिवार्य है। नीचे की सीढ़ियों पर

चढे विना ऊपर की सीढ़ियों पर नहीं चढा जा सकता और नीचे की सीढ़ियों पर चढ़ चुकने के पश्चात् उन्हें छोड़े विना भी ऊपर सीढ़ी तक नहीं पहुंच सकते। इस प्रकार अपने लक्ष्य पर—सम्पूर्ण ऊंचाई पर पहुँचने के लिए नीचे की सीढ़ियों पर चढना और उन्हें छोड़ देना अनिवार्य है। जो नीचे की सीढ़ी पर चढ़ कर उसीसे चिपट जायगा, उसका क्या होगा?

ऐसा व्यक्ति कभी संसार कूप से ऊंचा उठकर मोक्ष-महल में नहीं पहुँच सकता।

कुछ मूर्ख ऐसे होते हैं जो समुद्र के किनारे पहुँचने से पहिले ही नाव को छोड़ देते हैं और फिर समुद्र में छलांग लगाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि नाव पर सवार होकर किनारे तक आ पहुँचते हैं, फिर भी नाव को छोड़ना नहीं चाहते। वे मोहवश नाव से ही चिपटे रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को कौन समझाए? वे किनारे पर खड़े हैं, तो भी मल्लाह से कहते हैं—यह नाव मेरे मस्तक पर रख दे। और कुछ ऐसे अविवेकी हैं, जो किनारे पर पहुँचने से पहले ही नाव छोड़ने को उतावले हो जाते हैं। कहते हैं—बाद में तो छोड़नी ही पड़ेगी तो पहले ही क्यों न छोड़ दें?

यह सब अविवेकी लोगों की कल्पनाएँ है। ज्ञानी पुरुष क्रम से चलता है और एक दिन अवसर पाकर नाव को छोड़ देता है। वही अपना और पराया कल्याण कर सकता है।

२६-१०-५०

(९)

निमित्त और उपादान

●

कल एक प्रश्न पर चर्चा की गई थी और बतलाया गया था कि बाहर की कोई वस्तु या व्यक्ति प्रधान है या हमारी आन्तरिक वृत्ति प्रधान है ? बाह्य पदार्थों से हम, हमारी आन्तरिक चेतना प्रभावित होती है या हम से बाह्य वस्तुएं प्रभावित होती हैं ? अन्दर से बाहर का जगत् प्रभावित होता है अथवा बाहर से अन्दर का जगत् प्रभावित होता है ?

इस प्रश्न पर एक बार थोड़ी-सी चर्चा की जा चुकी है, किन्तु यह जीवन का बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है और इस पर जितनी भी चर्चा की जाय, उपयोगी और उपादेय ही है।

हाँ, तो कभी-कभी अन्दर का जगत् बाह्य जगत् से और कभी बाह्य जगत् अन्दर के जगत् से प्रभावित होता है।

रथनेमि अपनी शांत मुद्रा में खडे थे। राजीमती की छवि ने गुफा में प्रवेश किया और रथनेमि की शांति भंग हो गई। वह बाहर से प्रभावित हो गये।

कुछ लोगों का कहना है कि अन्दर से बाहर ही प्रभावित होता रहता है; किन्तु यह एकान्तवाद मान्य नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार बाहर से अन्दर का प्रभावित होना भी एकान्त रूप में मानने योग्य नहीं है। हमारा अपना अनुभव ही इस तथ्य का साक्षी है कि यथायोग्य दोनों, दोनों से प्रभावित होते हैं।

वास्तव में जब तक संसारी की भूमिका है और उसमें भी नीचे की भूमिका है, तब तक बाहर का हम पर और हमारा बाहर पर असर पड़ता रहता है। मूल में प्रभाव डालना या लेना अपनी योग्यता या परिस्थिति की बात है।

सब से बड़ी बात यह है कि प्रभाव लेने और देने वाली यही हमारी आत्मा है। आत्मा ही बाहर के प्रभाव को ग्रहण करती है और बाहर पर प्रभाव डालती है। उसके ऊपर ही सारा दारोमदार है। यदि वह अपने आपमें जागृत है, सावधान है और अपने ज्ञान, विचार या चिन्तन की धारा में ठीक-ठीक बह रही है, तो बाहर का प्रभाव उस पर कम से कम पड़ेगा और अन्दर का प्रभाव ही बाहर अधिक पड़ेगा। और अन्दर की आत्मा अगर सावधान नहीं है, ऊपर-ऊपर से वह कहीं भी चलती दिखाई देती हो, किन्तु अन्दर में ज्ञान, विवेक और विचार का प्रकाश नहीं उत्पन्न हुआ है, तो वह कदम-कदम पर दूसरों से प्रभावित होगी। राजीमती ने रथनेमि से कहा था—

वाया विद्धोव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि।

—दशवैकालिक

इस तरह बाहर की वस्तुओं से प्रभावित होते रहोगे तो कदम-कदम पर लड़खड़ाते रहोगे और कहीं भी एक जगह नहीं टिक

सकोगे अतएव अपने जीवन की साधना को मजबूत बनाओ। अपनी साधना को जितना ही मजबूत बनाओगे, उतना ही बाहर से प्रभावित होना बंद होता जायगा।

यह जैनधर्म की मान्यता है। जैनधर्म ने आत्मा को ही केन्द्र बना दिया है। गृहस्थ हो या साधु हो, उसकी आत्मा पर ही सारा भार डाल दिया है। कह दिया है—तेरा जीवन तेरे पास है। तू चाहे उसे लोहा बनाले, चाहे सोना बना ले। उसमें से काँटे पैदा करले या फूल पैदा कर ले। नरक बना ले या स्वर्ग बना ले। दोनों का निर्माण करना तेरे हाथ की बात है। सारे विश्व में जो जगह है, उसका महत्त्व तेरे ही अन्दर है।

मनुष्य दुर्बल, हताश और निराश हो कर चलता है और दूसरे का सहारा ले कर चलता है। उसे दूसरे की उंगलियां पकड़ने की आदत है। इसी आदत के कारण उसने देवी-देवताओं का पल्ला पकड़ा और दुनिया भर के आदमियों को रोशनी समझा और समझा कि ये मेरा कल्याण कर देंगे।

इसी भरोसे, कोई बीमार पड़ता है तो हजारों देवी-देवताओं को मानता फिरता है। लक्ष्मी आई और चली गई तब भी देवी-देवताओं की मनौती कर रहा है और बेटा-पोता चाहिए तो भी उन्हीं की शरण ले रहा है।

इस प्रकार दुर्भाग्य से, आध्यात्मिक और लौकिक दोनों जिंदगियों को अपने आप निर्माण करने के जो ढंग थे, वे इन्सान के हाथ से निकल गये। उसने सोचा कि संसार में रहूँगा तो कोई दूसरा मेरे जीवन का निर्माण कर देगा और आध्यात्मिक जीवन में रहूँगा तो वहां भी दूसरे से आनन्द मिलेगा। इस तरह मनुष्य का सांसारिक

जीवन भी परनिर्भर हो गया है और आध्यात्मिक साधना की जड़ भी खोखली हो गई है।

तो भगवान् महावीर ने और जैनधर्म ने मनुष्य जाति को यह महान् संदेश दिया है कि तेरा बनाव और बिगाड़ तेरे ही हाथ में है। तू आप ही बन सकता है और आप ही बिगड़ सकता है। तू जिधर चलेगा, उधर ही पहुंच जायगा। ये संसार के दुःख, आपत्तियां और संकट, जो भी हैं, बाहर से नहीं आ रहे हैं, वह अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हो रहे हैं, और जो भी सुख और वैभव और अच्छाइयां है, वे भी बाहर से नहीं डाली जा रही हैं। उनका उद्गमस्थान भी तेरा अन्तः प्रदेश ही है। और आत्मा के बन्धनों को तोड़ने की कला भी बाहर से नहीं आएगी, वह भी अन्दर ही पैदा होगी। तुझे पाप के मार्ग पर कौन चला रहा है? और पुण्य के मार्ग पर भी कौन धक्का दे रहा है? तू स्वयं ही चल रहा है। ऐसा तो नहीं है कि कोई घसीट कर ले जा रहा हो। जिस ओर भी चल रहा है, अपनी अन्तः प्रेरणा से ही चल रहा है। और धर्म के मार्ग पर भी, जहाँ पाप और पुण्य अलग होते दिखाई देते हैं, उस पवित्र राह पर भी तू स्वयं ही चल सकता है। तो यही महान् और महत्त्वपूर्ण संदेश हमारे सामने आया है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अर्थात्—यह आत्मा स्वयं कर्म करती है, अपने आप बन्धन में बंधती है, अपने आप अपने आपको बन्धन में डाल कर मजबूत हो जाती है, और जब अपने आप बन्धन डाला है तो उसका फल भी अपने आप भोगती है। न कोई दूसरा उसे बन्धन में डालता है और न कोई फल भुगवाता है।

और आत्मा इस संसार में परिभ्रमण करती है, कभी नरक में और कभी स्वर्ग में जाती है और जीवन का झूला निरंतर घूमता रहता है और क्षण के लिए भी कुछ विश्राम नहीं है, तो यह भ्रमण भी आत्मा स्वयं ही कर रही है और इस परिभ्रमण से छुटकारा पाना है तो कौन छुटकारा दिला देगा ? छुटकारा देने या दिलाने वाला और कोई नहीं होगा, यही आत्मा होगी। आत्मा स्वयं अपने बन्धनों को काटेगी। अन्दर से चेतना हो जायगी तो बन्धन टूट जाएँगे।

आचार्य अमृतचन्द्र इसी महान् संदेश को हमारे कानों में गुंजाते हुए कह रहे हैं:—

परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।

तू इस बुद्धि और विचार का परित्याग कर दे कि हमें सुख-दुख देने वाला कोई और है। तेरे ऊपर, तेरे सिवाय और किसी की सत्ता नहीं चल सकती। तेरा मंगल और अमंगल, संसार और मोक्ष, सभी कुछ, पूरी तरह तेरे ही हाथ में है।

भारतीय दर्शनों में ऐसे भी स्वर सुनाई देते हैं, जो आत्मा की सत्ता को क्षुद्र बतलाते हैं, आत्मा के सामर्थ्य को नगण्य कहते हैं और आत्मा की स्वाधीनता को चुनौती देते हैं। वे इस आत्मा को किसी अलक्षित और अदृष्ट शक्ति की कठपुतली कहते हैं और कहते हैं कि संसारी जीव ईश्वर का खिलौना है। उन्होंने कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥

अर्थात्—यह संसारी जीवड़ा बेचारा क्या कर सकता है। इसके हाथ में कुछ भी तो नहीं है। न उसका सुख उसके आधीन

है और न दुःख ही। स्वर्ग पाना या नरक पाना भी उसके हाथ की बात नहीं है। ईश्वर नाम की जो विराट सत्ता हैं, वही सबका फ़ैसला करती है। वही किसी को सुखी और किसी को दुखी बनाती है। मन में आता है उसे नरक में ठूंस देती है और जिसे चाहती है उसे स्वर्ग में भेज देती है।

ऐसे ईश्वर की कल्पना करने वालों ने नहीं सोचा कि वे ईश्वर को किस उच्छृंखल और मनमौजी के रूप में चित्रित कर रहे हैं। आत्मा के अन्दर अगर सुख-दुःख के बीज नहीं हैं तो उसमें सुख-दुःख के पौधे किस प्रकार उग सकते हैं? और यदि बीज उसमें मौजूद हैं तो फिर उस बीज को किसने उत्पन्न किया है? आत्मा जब बीज को उत्पन्न कर सकता है तो फल को भी वह क्यों नहीं भोग सकता।

जैन धर्म आत्मा की इस विशेषता और दीनता के विरुद्ध आवाज बुलन्द करता है और कहता है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

—उत्तराध्ययन सूत्र

आत्मा स्वयं ही अपने दुखों और सुखों का कर्त्ता है, और स्वयं ही हर्त्ता है। कोई भी बाहरी शक्ति उसे सुख-दुःख नहीं पहुंचाता।

तो अभिप्राय यह है कि इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जैन धर्म का है, कि उसके साधक को अपने आपमें बलवान् और मजबूत होना है। उसे ईश्वर का चिंतन लेकर चलना है और अपने जगत् का निर्माण करने के लिए स्वयं ही ईश्वर बन जाना है। दूसरे ईश्वर के भरोसे गाड़ी नहीं चलानी है।

तो इस रूप में सारे जीवन के सुख-दुःख की साधना का केन्द्र आत्मा ही अपने आप बन गया है। कोई इस कथन का अर्थ यह न समझे कि बाहर की चीजें नहीं हैं। बाहर की चीजे हैं और उनसे भी एक हद तक आत्मा प्रभावित होती है, परन्तु उन्हें जैन धर्म निमित्त मात्र मानता है। कहना है कि यदि तेरी तैयारी है तो निमित्त मिल रहा है और काम बन रहा है, परन्तु यह नहीं है कि निमित्त से ही काम बन रहा है। तू निमित्त को कुछ समझ, मगर सब कुछ मत समझ।

यदि निमित्त से ही काम बनता होता तो गोशालक और जमालि क्यों भटकते फिरे होते? एक ओर गौतम और सुधर्मा जैसे साधक भगवान् की सेवा में पहुँचते हैं और अनेकानेक दूसरे साधक जाते हैं और अपने जीवन का निर्माण करते हैं, किन्तु एक ओर जमालि भगवान् के पास गया और वहाँ रह कर और जीवन का महान् प्रकाश पाकर भी भटका। और गोशाला का क्या हाल हुआ? वह भी भगवान् से कुछ पा न सका।

दूसरे यहाँ छोटी-छोटी बातों को लेकर संघर्ष हो जाते हैं। मूर्तिपूजा को लेकर भी हम आपस में लड़ पड़ते हैं, किन्तु हम यह कहते हैं कि मूर्तिपूजा की बात तो किनारे रही, जिनकी मूर्ति है वह स्वयं क्या करते हैं? यह तो साधक की अपनी योग्यता का प्रश्न है। जब तक साधक की भूमिका उच्च नहीं बनती और उसकी प्रवृत्तियों का क्षमोपशम नहीं होता, तब तक साक्षात् भगवान् भी उसका कुछ बना नहीं सकते। बना सकते होते तो भगवान् ऋषभदेव ने मरीचि का, जो समवसरण में दुनिया के सामने बड़ी गड़बड़ी करता रहा और अपने आपको पतन के पथ की ओर अग्रसर करता रहा, कल्याण क्यों नहीं कर दिया? केवलज्ञान जैसी कोई दूसरी रोशनी

नहीं हो सकती और समझाने की कोई कला ऐसी नहीं जो शेष रह गई हो, किन्तु जिसकी भूमिका ही नहीं आ रही है, उसका कल्याण वे करें तो कैसे करें ? एक दो वर्ष का बालक है और उससे कहा जाय कि मन भर बोझ उठाले, तो यह कैसे सम्भव है ? यहां तो योग्यता का प्रश्न है ।

अतएव इस रूप में मैं जो बात कह रहा हूँ कि वस्तु प्रमुख नहीं है किन्तु वृत्ति मुख्य है, उसका मूल अर्थ यही है कि निमित्त तो मिलना ही चाहिए और निमित्त मिलने पर ही कुछ होता है और हमको उसका स्वागत करना चाहिए, किन्तु निमित्त को ही सब कुछ मान लेना और यह मान लेना कि निमित्त से ही हमारा कल्याण हो जायगा, ठीक नहीं है । हमारा कल्याण तो उपादान के द्वारा ही होगा और हमें उपादान को भुला नहीं देना चाहिए । उपादान को भुला कर केवल निमित्त को ही हम सब कुछ मान बैठेंगे तो जैन धर्म के सिद्धान्त को ठेस पहुँचाएँगे और अपना अकल्याण कर बैठेंगे ।

तो वस्तु और व्यक्ति मुख्य हैं अथवा मनुष्य की वृत्तियाँ मुख्य हैं । इस प्रश्न के उत्तर में मैं यह कह चुका हूँ कि वृत्तियाँ मुख्य हैं । जब-जब हमने वृत्ति को स्थान नहीं दिया और व्यक्ति को या वस्तु को ही महत्त्व दिया, तभी जैन धर्म में उलझनें पैदा हो गईं और गुत्थियाँ हमारे सामने आ गईं ।

हमारे यहाँ तीन तरह से प्रश्न चलते हैं ।

कोई साधु है और वह किसी के यहां गोचरी के लिए गया । गृहस्थ ने साधु को दान किया और साधु को आवश्यकता नहीं है, तब भी देता जाता है । इस विषय में निचोड़ के ढंग से कहानियां भी कही जाती हैं:—

एक संत किसी के यहां गये तो दाता घी बहराने लगा। उसी समय मुनि के शरीर में एक देवता प्रवेश कर गया। तब मुनि ने जो पात्र रक्खा था, उसे नहीं हटाया तो दाता घी बहराता ही जाता है। आखिर पात्र तो मर्यादित होता है। वह घी से भर गया और घी नीचे गिरने लगा। किन्तु दाता कोई परवाह न करता हुआ वहराता जा रहा है और घड़े को खाली कर देता है। वह दूसरा घड़ा लेता है और फिर बहराने लगता है और उसे भी खाली कर देता है। फिर तीसरा घडा उठाता है और उसे भी पात्र के ऊपर उंड़ेल देता है और घी तो पहले ही से बाहर वह रहा है।

आखिर देवता को विश्वास हो जाता है कि यह दाता बड़ा श्रद्धालु है। इतना श्रद्धालु है कि वन्दनीय है। इसके बाद वह मुनि के शरीर से बाहर निकल जाता है और तब मुनि होश मे आते हैं और कहते हैं—अरे, यह क्या किया तुमने? घी तो बाहर वह रहा है।

तब दाता ने कहा—बाहर बहा तो आपका बहा, मेरा क्या बहा? मैंने तो आपके पात्र में डाला है। मेरा घी आपके पात्र में है।

इस कथा के द्वारा जनता की दानबुद्धि को जगाने का प्रयत्न किया गया है और महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रयत्न किया गया है। किन्तु मनुष्य में जहाँ दानबुद्धि जागी, वहीं अविवेक और अज्ञान तो पहले-से ही चक्कर काट रहा है। तो लोगों ने समझ लिया है कि मुनि को आवश्यकता है और उन्हें दिया गया तो धर्म है और आवश्यकता न होने पर दिया गया, तब भी धर्म है। घी बाहर बह रहा है तो भी धर्म है। इस प्रकार हर हालत में देना ही हमने धर्म मान लिया।

तो जहां दानवृत्ति को जगाने की बात थी, वहां वस्तु के अपव्यय की बात समझ ली गई। दान के नाम पर इससे बड़ी भूल

और क्या हो सकती है। दान तो आवश्यकता के मुताबिक देना चाहिए, अपव्यय के लिए नहीं होना चाहिए। जहाँ अपव्यय के लिए दिया जा रहा है, वहां धर्म कैसे हो सकता है ? यह तो अनेकान्त है और अनेकान्त के लिए हर जगह लड़ना चाहिए।

तो एक तरफ तो इतना एकान्त आग्रह आया कि साधु को आवश्यक होने पर दिया जा रहा है तो भी धर्म है और अनावश्यक होने पर दिया गया है, तब भी धर्म है, घी जमीन पर बहता जा रहा है फिर भी उसको बहाते जाना धर्म है, और दूसरी ओर साधु के सिवाय किसी और को दिया जा रहा है। तो एकान्त पाप है। चाहे कोई गरीब है, या भूखा है और भूख से तिलमिला रहा है और संभव है कि रोटी का एक टुकड़ा न मिलने पर उसके प्राणपखेरू उड़ जाएँगे और मिलने पर बच जाएँ, और वह भूख से छटपटाता हुआ आर्त्त-रौद्र की हालत में मरेगा तो नरक-पशु गति में जाय, इस प्रकार वह शरीर और आत्मा दोनों से मर रहा है, किन्तु ऐसे प्राणी को एक टुकड़ा रोटी का और एक बूंद पानी का देना एकान्त पाप बतलाया जाता है। और साधु के घी-दूध से पात्र भर देना एकान्त धर्म है चाहे उसे आवश्यकता नहीं है और चाहे वह लेकर जमीन पर फैंक ही क्यों न देगा।

आप शान्त और तटस्थ भाव से विचार कीजिए कि इस घोर अन्तर का कारण क्या है ? दाता जब साधु को दे रहा है तब भी दान कर रहा है और भूख से मरते को दे रहा है तब भी दान कर रहा है, दोनों को देने में वह उस वस्तु से अपनी ममता त्याग रहा फिर क्या बात हो गई कि एक जगह एकान्त धर्म और दूसरी जगह एकान्त पाप हो गया ?

बात यही है कि हमने व्यक्ति को और वस्तु को तो महत्त्व दिया, पर दाता की अन्तःकरण की वृत्ति को, भावना को, उसके परिणामों को भुला दिया। जिसे धर्म या अधर्म होता है, उसकी भावना की कोई कीमत ही नहीं समझी। हमने दाता की मनोभावना को नहीं देखा, हमने साधु के पात्र को देखा। घी नीचे गिरे तो भले गिरे, पात्र तो साधु का है। और यदि साधु का नहीं है तो उसमें गिरी हुई पानी की एक बूंद भी पाप उत्पन्न करती है। इस प्रकार हमने समझ लिया है कि साधु का पात्र हमारी आत्मा में धर्म पैदा कर देता है और दूसरे का पात्र पाप पैदा कर देता है।

अभिप्राय यह है कि हमने व्यक्ति को तो मुख्य करार दे दिया है, किन्तु वृत्ति को मुख्य करार नहीं दिया है।

और जब व्यक्ति को मुख्य करार दिया और आपत्ति आने लगी, गड़बड़ होने लगी तो एक तीसरी राह निकाली गई और वह भी गलत है। वह तीसरी राह यह है कि यदि साधु को दिया जाता है तो उससे धर्म और निर्जरा होती है और गरीबों को दिया जाता है और जरूरत वाले को दिया जाता है तो उससे पुण्य होता है और जरूरत वाला तो हो किन्तु अन्यायी और अत्याचारी हो तो उसको देने से पाप होता है।

यह ठीक है कि जो अन्याय और अत्याचार में संलग्न रहता है और संकट में नहीं है, उसे अगर दिया जा रहा हैं तो एक तरह से अन्याय और अत्याचार के पोषण के लिए दिया जा रहा है। ऐसी स्थिति में वह देना धर्म और पुण्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को देने में न करुणाभाव काम कर रहा है और न कोई दूसरी सद्वृत्ति। किन्तु कोई कैसा ही अन्यायी क्यों न हो, अगर वह भूख-

प्यास के कारण छटपटा रहा है, संकट में पड़ा है और करुणाजनक स्थिति में है, तो हम व्यक्ति को महत्त्व नहीं देते, किन्तु दाता की करुणाभावना को ही महत्त्व देते हैं।

साधु को देने से धर्म और दूसरे को देने से पुण्य ही होता है, यह भी एकान्तवाद है। इस एकान्तवाद में भी हमने वृत्ति का सन्मान नहीं किया है और व्यक्ति को ही प्रधानता दी है। जिस भावना से साधु को दान दिया जाता है, वही भावना अगर दूसरे को दान देते समय उत्पन्न हो जाय तो फिर क्या कारण है कि वहाँ धर्म न होकर पुण्य ही होगा? जब कि पुण्य पाप और धर्म का सम्बन्ध भावना के साथ है और भावना दोनों जगह एक सरीखी है, तो फिर क्या कारण है कि एक जगह धर्म और दूसरी जगह पुण्य हो?

कहा जा सकता है कि साधु संयत है, अतएव उसको देने से धर्म होता है और दूसरा असंयत है, अतएव उसको देने से पुण्य होता है, तो फिर असंयत को देने से पाप ही क्यों नहीं मान लिया जाता? पुण्य क्यों माना जाता है?

प्रश्न यह है कि अनुकम्पा अपने आपमें धर्म है या नहीं? अर्थात् हमारे अन्दर सहज भाव में करुणा की बुद्धि जाग रही है, जिसे हम सम्यक्त्व का अंग समझते हैं, वह धर्म है, पुण्य है या पाप है? इन तीनों में से अनुकम्पा को किसमें गिना जाय? अनुकम्पा अगर धर्म है, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि अनुकम्पा की बुद्धि से दिया गया दान भी धर्म है। जिस व्यक्ति को दिया जा रहा है वह व्यक्ति खाली व्यक्ति है और जो वस्तु दी जा रही है वह केवल वस्तु है। यह दोनों ही धर्म, पुण्य या पाप नहीं हैं, धर्म या पुण्य या पाप तो हमारी भावनाओं में है। अतएव बुरी वृत्ति से दान दिया जा रहा है तो पाप होगा, किसी वासना की वृत्ति से दिया जा रहा है तो पुण्य

होगा और यदि शुद्ध त्याग वृत्ति से, अनासक्त भाव से दिया जा रहा है तो धर्म होगा। व्यक्ति और वस्तु तो निमित्त मात्र हैं, उनमें पाप, पुण्य और धर्म उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। पाप, पुण्य और धर्म तो भावनाओं से उत्पन्न होते हैं। धर्म और धर्म का सारा निचोड़ हमारे अन्दर ही है, किसी भी बाह्य पदार्थ में नहीं है।

मैं पूछता हूँ कि आपके पास कोई दान लेने वाला आया और आपने तिजोरी में से सौ रुपया निकाल कर दे दिया; तो सौ रुपया देने से धर्म हुआ या देने के पीछे जो वृत्ति-भावना है, उससे धर्म हुआ? दिया तो गया है रुपया और वह तिजोरी से निकल कर दूसरी जगह बैठ गया है। वह सिक्का एक जगह से हट कर दूसरी जगह और फिर तीसरी जगह विराजमान है। उसकी जगह मात्र बदली है, फिर धर्म कैसे हुआ?

आपके अन्तःकरण में अनुकम्पा और दया की जो भावना उत्पन्न हुई है, मैं समझता हूँ, वही सब से बड़ा धर्म है। दूसरे नंबर का धर्म यह है कि अपनी इच्छा को, लोभ को और ममत्व को घटाया है।

जब तिजोरी में आपने रुपया रख रक्खा था, तब उसके साथ ममत्व जोड़ रक्खा था। वह ममत्व का भाव पाप था। जब आपने किसी काम के लिए दे दिया और शुद्ध भावना से दे दिया तो वह शुद्ध भावना धर्म हो गई, और जितने अंश में ममत्व घटा, वह भी धर्म हो गया।

तो धर्म देने में नहीं, त्यागभावना में है। देने में ही धर्म होता तो विवाह-शादी के लिए खर्च करने को रुपया देने से भी धर्म होना चाहिए था। विवाह शादी में भी तो तिजोरी से निकाल कर रुपया

दिया ही जाता है मगर उसे तो आप भी धर्म नहीं मानते। तो इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म तिजोरी में से निकाल कर देने में नहीं है, किन्तु देने के पीछे रही हुई अन्तःकरण की पवित्र वृत्ति में है।

अगर किसी का संहार करने के लिए, किसी की आबरू लेने के लिए, अपने किसी पाप को गोपन करने के लिए या निश्वन के रूप में वह रुपया दिया जा रहा है, अर्थात् दुष्ट भावना से दिया जा रहा है, तो वह देना पाप है। इस देने की अपेक्षा उनका तिजोरी में कैद रहना ही अच्छा था।

अगर वह रुपया किसी की सेवा के लिए, किसी दुखिया के आँसू पौंछने के लिए और किसी का संकट टालने के लिए दिया गया है और इस रूप में शुद्धवृत्ति से दिया गया है तो वह देना पुण्य है।

एक व्यक्ति रात्रि में, रोशनी में, बही-खाते का काम कर रहा है। उसी समय कोई संस्था के लिए दान लेने आता है। वह सौ रुपया दे देता है और दानी की उस रकम को बही-खाते में लिखता है। और फिर उसी रोशनी में किसी के नाम पर सौ के बदले एक बिंदी और बढ़ाकर हजार लिख देता है। तो वह रोशनी अपने आपमें क्या काम कर रही है? क्या वह रोशनी उसको पुण्य और पाप बाँध देगी? इसी प्रकार उस कलम, दावात और हाथ ने भी न पुण्य उत्पन्न किया है और न पाप पैदा कर दिया है।

अभिप्राय यह है कि रोशनी, कलम, दावात और कागज— सब के सब तटस्थ हैं और मानो वे कह रहे हैं—चाहे हमें अमृत बना लो, चाहे जहर बना लो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। उनका उपयोग करके हजार रुपये झूठे लिख दिये हैं तो पाप हो गया और सद्भावना रही तो पुण्य कमा लिया।

रोशनी में कलम-दावात का उपयोग करके जो झूंठी रकम लिख रहा है, उसमें वह रोशनी आदि निमित्त जरूर हैं, किन्तु वे सब तटस्थ हैं। वे बेचारे क्या करते हैं ?

भगवान् महावीर को भी गोशाला वगैरह कई लोगों ने कोसा और उनकी निंदा की। तो भगवान् भी उसमें निमित्त हुए । गोशाला ने भगवान् पर तेजोलेश्या छोड़ी तो कर्म बंधे। और कर्म बंधे तो भगवान् उसमें निमित्त हुए या नहीं ? भगवान् को लेकर आवेश उत्पन्न हुआ और उसी आवेश की प्रेरणा से, उन्हें मारने के लिए गोशाला ने उन पर तेजोलेश्या फैंकी। तो भगवान् का व्यक्तित्व उसके कर्मबन्ध में कारण तो हुआ ही। जैसे भक्तगण भगवान् की सेवा कर रहे हैं, वन्दना कर रहे हैं और उनसे बोध प्राप्त कर रहे हैं, तो वहाँ भी भगवान् निमित्त बन रहे हैं, उसी प्रकार अपनी निन्दा करने वाले के कर्मबन्ध में भी वे निमित्त हैं।

हाँ, भगवान् के अन्दर अगर ऐसी वृत्ति होती कि अमुक दुष्ट आ गया है और मुझे या मेरे शिष्यों को तंग कर रहा है, तो उनके निमित्त से भगवान् को कर्मबन्ध होता। परन्तु भगवान् तो राग-द्वेष की भूमिका से अलग रहे, गोशालक के मन में ही द्वेष आया। अतएव उनके निमित्त से भगवान् को कर्मबन्ध न होकर गोशालक को ही भगवान् के निमित्त से कर्म का बन्ध हुआ।

कोई तीर्थङ्कर के प्रति द्वेष रखता है, कोई श्रद्धा भाव रखता है। भगवान् दोनों में समान निमित्त हैं। जिसका जैसा उपादान होता है, अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है, उसी के अनुसार वह कर्म बन्ध कर लेता है।

आकाश में सूर्य का उदय होता है तो चोर, जो दूसरे का धन चुरा रहे थे, सूर्य को कोसते हैं, गालियाँ देते हैं और सेठ सूर्य को प्रशंसा करता है कि इसने मेरा धन बचा दिया। मगर सूर्य तो तटस्थ है। किसी का धन लुट रहा है तो क्या और बच रहा है तो क्या ? इसी प्रकार भगवान् की सारी वृत्तियाँ भी तटस्थ हैं।

आत्मा में यदि अच्छे संस्कार हैं तो दुनिया भर की अच्छाइयों को हम ले लेते हैं और बुरे संस्कार हैं तो बुराइयाँ ही बुराइयाँ लेते हैं।

एक वृक्ष को पहले हरा-भरा देखा और लौट कर आया तो क्या देखा कि पत्ते, फल और टहनियाँ नोंच ली गई है और टूटी पड़ी हैं। यही देखकर किसी में आत्म-जागृति के भाव उत्पन्न हो गये। तो वृक्ष निमित्त है और उसने कुछ नहीं किया है।

इसी प्रकार एक बैल को हृष्टपुष्ट रूप में देखा। फिर एक समय उसी को बुड्ढे और मरियल के रूप में देखा और इसी निमित्त से किसी के मन में जागृति आ गई।

अभिप्राय यह है कि जब उपादान तैयार हो जाता है तो दुनिया भर के निमित्त मिल जाते हैं और चेतना जागृत हो जाती है। और यदि उपादान तैयार नहीं होगा तो भगवान् का निमित्त मिल जाने पर भी कुछ लाभ नहीं होगा, उलटे कर्म बंधते रहेंगे और अनन्त-अनन्त ससार परिभ्रमण होता रहेगा।

तो जैनधर्म ने एक दार्शनिक प्रश्न को हल करने के लिए सब से बड़ी बात यह रक्खी कि तुम निमित्त का आदर करो, किन्तु उससे

बढ़ कर भी अपना आदर करो। संसार में सुख और दुःख तुमको जगाने के लिए आ रहे हैं। तुम सोना हो तो आग में पड़ कर भी चमकोगे और यदि घास-फूस बन कर रहोगे तो जल कर राख हो जाओगे। अन्दर में दुर्बलता है तो सारा संसार तुम्हें खत्म करने के लिए है और अन्दर में शक्ति है तो कोई बाल बांका नहीं कर सकता।

इस प्रकार उपादान महत्त्वपूर्ण है, अतएव अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करो। संसार भर के निमित्त भी उपादान के बिना कुछ नहीं कर सकते।

साधु जा रहा है और किसी ने उस पर उपसर्ग किया। तब साधु क्या यह सोचता है कि मुझे इस आदमी ने दुःख दिया है? नहीं, वह यह नहीं सोचता और जनधर्म ऐसा सोचने की शिक्षा नहीं देता। जैनधर्म ने तो यही सिखाया है कि संसार के सभी सुख और दुःख अपने ही कर्मों के फल हैं और अपनी ही वृत्तियों के परिणाम हैं।

जैनधर्म की यह महान् शिक्षा क्या है? यह निमित्त से उपादान में आता ही है। जैनधर्म उपादान में आने की इस महान् कला को बहुत महत्त्व देता है। तो कष्ट और संकट आने पर यही सोचना उचित है कि यह मेरे ही कर्मों का भोग है जो जैसा बाँधता है, वैसा ही पाता है।

जैनधर्म कहता है कि तू उपादान की उपेक्षा करके निमित्त को प्रधानता देगा और व्यक्ति के ऊपर जायगा, तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में चला जायगा, इसलिए तू व्यक्ति को ध्यान में मत रख, यही सोच कि मेरे किये कर्मों का उदय आया है तो व्यक्ति निमित्त बन रहा है।

पागल कुत्ते को कोई ईंट या पत्थर मारता है, तो वह मारने वाले पर नहीं, उस ईंट-पत्थर पर झटकता है। इसी प्रकार जो कष्ट आने पर अपने कर्मों को न देख कर निमित्त बने व्यक्ति पर झटकता है, वह पागल है, विवेकवान् नहीं है। जैनधर्म ने आज तक हमें यही सिखाया है कि तू अपने आपको देख। संकट के समय में और सुख के समय में भी अपने आपको ही देख।

श्रेणिक राजा नरक में है और जब उन पर घोर दुःख आते होंगे तो वे क्या सोचते होंगे? यही तो कि यह सब मेरे ही किये हुए का फल है। जो बोया है वही काटा जा रहा है। यह नहीं हो सकता है कि बोये कुछ और काटे कुछ।

और शालिभद्रजी २६वें देवलोक में क्या कर रहे है? वे भी यही सोचते हैं कि स्वर्ग का यह महान् वैभव मेरे ही कर्मों का फल है और जब तक इसे नहीं भोग लेता, कैसे छुटकारा मिल सकता है? और जिस समभाव से श्रेणिक महाराज नरक के दुःख भोग रहे हैं, उसी समभाव से शालिभद्रजी २६वे देवलोक के सुख भोग रहे हैं। इस प्रकार दोनों जीवन उपादानों को लेकर चल रहे हैं।

तो शुभोदय से सुख मिल गया है तो यह अहंकार मत करो कि यह तो मेरे किये हुए कर्मों का फल है, इसलिए मैं इसे क्यों नहीं भोगूंगा? और दुःख आ पड़ा है तो यह मत सोचो कि अमुक ने मुझे दुःख दिया है। दोनों जगह समभाव रख कर सुख-दुख को भोग लो। इस प्रकार का समभाव उपादान में जाने से ही पैदा होगा।

तो जैनधर्म निमित्त को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु यही कहता है कि जहाँ तक तुम्हारी जगह है, वहां तक स्वागत है, किन्तु उससे

आगे तुम्हारा कोई सन्मान नहीं है और तुम से बढ़ कर भी मेरा सन्मान है। जीवन की योग्यता का सन्मान है। वह जैसी होगी, उसी के अनुरूप मेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार सत्य को हृदयंगम करके जो मनुष्य अपनी वृत्तियों को, अपनी भावनाओं को और चित्त की परिणतियों को उत्तम बनाता है, वही सुख और शान्ति पाता है।

२७-१०-५०

(१०)

जप-साधना

आज आप जिस मार्ग पर चलना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में पहले ही तर्क-वितर्क कर लें, विचार और चिन्तन कर लें, वह मार्ग यदि गलत है तो उसे त्याग दें। किन्तु प्रभु का नाम लेना और जपना तो ऐसा मार्ग है कि उसके विषय में सोचने और विचारने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। और जब कोई चीज निर्विवाद रूप से अच्छी है तो उसके लिए संघर्ष क्यों? उसको करने में देर और ढील क्यों होनी चाहिए? उसके लिए मनुहार और आग्रह की भी क्या आवश्यकता है?

प्रभु के नाम-जपन को आप अच्छा समझते हैं, फिर भी उसके लिए आग्रह की अपेक्षा रखते हैं, तो उसका अर्थ यह है कि आप ऊपर-ऊपर से ही उसकी अच्छाई को स्वीकार कर रहे हैं। अन्तरंग में गहरी लगन और प्रेरणा अभी नहीं उत्पन्न हुई है। अन्दर में प्रेरणा होगी तो फिर देर नहीं लगेगी।

मान लीजिए, किसी सेठ को प्यास लगी हो, किन्तु जोर से न लगी हो तो वह सोचेगा—नौकर या लड़का आएगा तो कहेंगे

कि पानी पिला दे। उसे नौकर का इन्तजार है और लड़के का इन्तजार है। इन्तजार भी चल रहा है और प्यास भी चल रही है। ज्यों-ज्यों प्यास बढ़ती जाती है, इन्तजार बढ़ता जाता है और लगता है—कब आवे, कब आवे। किन्तु यह इन्तजार तभी तक रहता है जब तक कि प्यास पूरी नहीं लगती। पूरी प्यास लगी और सेठ सूखने लगे और ऐसा लगने लगा कि अब नहीं रहा जाता, तब वह स्वयं ही उठेगा और कहेगा—'सब मर गये, किन्तु मैं तो नहीं मरा।'

तो बात क्या है ? पहले भी प्यास थी, किन्तु उस प्यास में नौकर का या घर वालों का इन्तजार था, क्योंकि वह सच्ची प्यास नहीं थी। अन्दर में झकझोर देने वाली प्रेरणा नहीं जगी थी, किन्तु ज्यों अन्दर में आग लगी और देखा कि अब दाबी नहीं जायगी, तब इन्तजारी खत्म हो गई और स्वयं खड़ा हो गया।

यही बात मै धर्म के विषय में देखता हूँ। प्रत्येक धार्मिक कार्य के लिए जब धक्का लगाया जाता है, तब वह कार्य होता है। पुराना छकड़ा हो और उसका एक पहिया चर्र-चूं करता हुआ मानो कह रहा हो कि मुझसे तो अब चला नहीं जायगा और अधमरे बैल उसमें जोत दिये जाएँ, तो फिर उस छकड़े को धक्के दे-दे कर ही चलाना पड़ता है। ऐसी ही दशा हमारे समाज की हो रही है। कहीं एक ही जगह यह दशा हो सो नहीं प्रायः सर्वत्र यही हाल देखा जाता है। सब जगह धक्के देकर चलाते हैं। दान हो, दया हो, सामायिक हो या परोपकार हो, सभी जगह धक्के देने की आवश्यकता पड़ती है। यह स्थिति ध्यान देने योग्य है। मैं समझता हूँ, धक्का देने और धक्का खाकर काम करने की वृत्ति को समाप्त कर देना चाहिए।

जो चीज पसंद है और अच्छी है तो उसे लेना चाहिए और अच्छी नहीं है तो लेने से साफ इन्कार कर देना चाहिए। आखिर-

कार मनुष्य अन्धा होकर नहीं चलता है। वह बाजार में आता है तो हरेक दुकानदार सौदा लेने की प्रेरणा करता है। मगर होगा तो वही जो ग्राहक निर्णय करेगा। निर्णय करने में एक नहीं हजार दिन लग जाएँ तो भी क्षम्य है और पसंद न आय तो भी कोई बात नहीं। किन्तु चीज पसन्द आ गई है और लेने की इच्छा भी है तो आपको जेब टटोलनी चाहिए। जेब गर्म नहीं है अर्थात् ताकत नहीं है तो चीज नहीं ली जा सकती है। मगर जेब गर्म होने पर भी अगर आप नहीं लेते तो फिर क्या बात है?

तो प्रभु का नाम लेने योग्य है। उसके लेने में कोई बाधा भी नहीं है। आज से ही नहीं, जैनधर्म के पुराने इतिहास को टटोलेंगे तो, अपने पूर्वजो के और महापुरुषों के नाम लेना, अपनी भावनाएँ उनको देना, अपने शुभ संकल्प को और आनन्द की हिलोर को सबको देना, यह सदा ही होता रहा है। उसी में से 'लोगस्स' निकल कर आया है। सामायिक करेंगे तब भी 'लोगस्स' पढेंगे और पारेंगे तब भी 'लोगस्स' पढेंगे। प्रतिक्रमण में भी 'लोगस्स' का पाठ आता है।

चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति का प्रश्न आया और गौतमस्वामी ने पूछा—

प्रश्न—चउव्वीसत्थएणं भंते। जीवे किं जणयइ?
उत्तर—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

—उत्तराध्ययन

अर्थात्—प्रभो! चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान् ने फर्माया—दर्शनविशुद्धि होती है।

चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने से, उनका गुणगान करने से और अपनी भावनाओं को उनके चरणों में अर्पण करने से, केवल जीभ से नहीं किन्तु मन से भी, उनका नाम जपने से दृष्टि की विशुद्धि होती है, अर्थात् सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्यक्त्व के निर्मल होने का मतलब है, धर्म की जड़ का मजबूत होना।

एक वृक्ष ऐसा है जो ऊपर से हरा-भरा है, पत्तों से सघन है, फूलों और फलों से लदा है, किन्तु जड़ उसकी मजबूत नहीं है, खोखली है। वह वृक्ष कितने दिन हरा-भरा रह सकेगा? आंधी का एक अच्छा-सा झौंका आयगा और वह धराशाही हो जायगा। एक बार करवट बदली कि हमेशा के लिए समाप्त हो जायगा। उसका एक-एक फूल और पत्ता गल जायगा और सड़ जायगा। उसकी प्रत्येक शाखा और प्रशाखा सूख जायगी और काठ बन जायगी। फिर जलाने के सिवाय और क्या काम आयगी?

धर्म रूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। यदि धर्म वृक्ष का मूल मजबूत है, अर्थात् सम्यक्त्व दृढ़ है तो वह फलों और फूलों से लदा रहेगा और यदि मूल को मजबूत बनाने का प्रयत्न नहीं किया जायगा तो उसका अस्तित्व कितने दिन टिकेगा?

तो क्या हमारे यहां और क्या दूसरों के यहां, सभी जगह, शुद्ध श्रद्धा को ही धर्म का मूल माना गया है। जिसका सम्यक्त्व-मूल सुदृढ़ होगा, उस धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के फल लगते हैं। और अनन्त-अनन्त फल लगेंगे और अनन्त-अनन्त गुणों का विकास होगा। और यदि सम्यक्त्व ही शुद्ध न हुआ। दृष्टि ही विशुद्ध न हुई तो कोई मधुर फल लगने वाला नहीं। इस प्रकार धर्म का मूल सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व की विशुद्धि का

कारण तीर्थङ्करों का स्तवन करना है और उनके नाम का जप करना है। इस प्रकार नाम-जाप का बड़ा महत्त्व है। इस विषय में भारतीय भक्तों ने सुन्दर-सुन्दर वाणियां उचारी हैं। तुलसीदास ने कहा है—

राम-नाम मनिदीप धरु, जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरउ, जौ चाहसि उजियार॥

अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारे भीतर और बाहर उजियाला हो, तुम्हारा अन्तर प्रकाश से जगमगा उठे और बाहर की सृष्टि भी प्रकाश परिपूर्ण हो जाय, तो तुलसीदास कहते हैं, एक काम करो। तुम अपनी जीभ रूपी देहली पर राम के नाम का मणिमय दीपक रख लो। जीभ की देहली पर भगवान्-नाम का दीपक स्थापित कर लोगे तो अन्दर का जगत् भी आलोकित हो जायगा और बाहर का जगत् भी आलोकित हो जायगा। अभिप्राय यह है कि जीभ से प्रभु का नाम जपोगे तो भीतर और बाहर का अन्धकार नष्ट हो जायगा।

इसी प्रकार सूरदास कहते हैं—

'सूर' किसोर कृपातें सब बल हारे को हरि नाम।

जब संसार के सभी बल थक जाते हैं और शरीर का, धन का, तलवार और बन्दूक का या सेना का बल भी नाकामयाब हो जाता है, तब हरि के नाम का बल काम आता है। दुनिया की तमाम शक्तियाँ धोखा दे जाती हैं किन्तु परमात्मा के नाम की शक्ति कभी धोखा नहीं देती।

अभिप्राय यह है कि जो महापुरुष अहिंसा और सत्य की राह पर चले हैं, जो रुकावटों के आने पर भी और दुनिया के विघ्नों के पहाड़ों के आड़े आने पर भी अड़े रहे, वासनाएँ आईं तो उन्हें कुचलते हुए आगे बढ़ते चले गये, और एक दिन अहिंसा की चरम

सीमा—आखरी भूमिका पर पहुंचे, उन महापुरुषों के आदर्श पर हम चलना चाहेंगे तो हमें उनका स्मरण करना होगा, उनका कीर्त्तन करना होगा और उनके पावन नाम को अपने हृदय में बसाना होगा। जो जिस मार्ग पर चलना चाहता है उसके लिए उस मार्ग पर चल कर मंजिल तक पहुँचे हुए पुरुष ही आदर्श हो सकते हैं। साहूकार का आदर्श साहूकार होता है और वीर पुरुष का आदर्श वीर पुरुष ही हो सकता हैं, बुजदिल, कायर और भगोड़ा उसका आदर्श नहीं बन सकता। उसे उससे प्रेरणा नहीं हो सकती। जो पुरुषार्थ के क्षेत्र में संघर्ष करते रहे हैं, जीवन के मैदान में लड़ रहे हैं और कल्पनाओं से टकराते रहे हैं, वही वीरपुरुष वीर के आदर्श होंगे।

शेर बनता है तो मन में शेर का संकल्प रखना होगा। गीदड़ का संकल्प रखने वाला गीदड़ ही बन सकता है, शेर नहीं बन सकता। आप क्या बनना चाहते है—शेर या गीदड़? फैसला किया है या नहीं? आप शेर बनना चाहते हैं और अपने विचारों एवं वासनाओं से लड़ना चाहते हैं और बुजदिल बन कर संसार की ठोकरें नहीं खाना चाहते, तो आपको त्याग और वैराग्य के पथ पर चलना पड़ेगा और उन महा पुरुषों के आदर्श पर चलना पड़ेगा जिन्होंने इस पथ पर चल कर परिपूर्ण विजय प्राप्त की है, जो 'अरिहंत हो चुके हैं, जो 'जिनेन्द्र' हो चुके हैं और जो 'मृत्युञ्जय' बन चुके हैं।

अपने जीवन को पवित्र बनाना ही हमारे जीवन का एक मात्र आदर्श है। हमें मन के मैल को साफ करना है और कूड़े-कचरे के ढेर में दबी आत्मा को तलाश करना है। वासनाओं की गंदगी का ढेर हमारी आत्मा पर आ गया है और हमारा जीवन रत्न उस गंदगी में दब गया है। उस गंदगी को हटा कर अपने आत्म-रत्न को तलाश

करना है। और वह तलाश ढलते हुए विश्वास से करेंगे तो कैसे काम चलेगा?

जो व्यक्ति और जो समाज जीवन के क्षेत्र में दीन-हीन वृत्तियाँ, लड़खड़ाती हुई वृत्तियाँ ले कर चलेगा और विश्वास के प्रबल बल के साथ नहीं चलेगा, वह कभी तरक्की नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो राष्ट्र ढीले मन से चलेगा, वह ऊँचा नहीं उठ सकता। वही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र आगे बढ़ सकता है, जिसे धक्के की आवश्यकता नहीं है और खुद चलना जानते हैं। जिसके पैर ठीक नहीं है वह किसी के कंधों का सहारा ले कर चलता है तो हम समझते हैं कि उसके पैरों में शक्ति नहीं है। किन्तु एक नौजवान, हट्टाकट्टा, किसी चट्टान से टकराए तो उसे भी चकनाचूर कर देने की शक्ति रखने वाला, यदि दूसरे के कंधों का सहारा लेकर चले तो मुश्किल है।

हमारी आदत पड गई है। हम वैशाखी का सहारा लेकर चलते हैं। किन्तु यह जो लूले लंगड़ों के लिए वैशाखियां लगाई जाती हैं, उनके सहारे जीवन की कठोर मंजिलें तय नहीं की जा सकतीं। इन घोड़ियों के सहारे हिमालय नहीं लांघा जा सकता। वह तो अपने ही पैरों से लांघा जा सकता है और अपनी मजबूती से लांघा जा सकता है।

मगर इस समाज का क्या करें जिसे धक्का खा कर चलने की और धक्का देकर चलाने की आदत पड़ गई? छोटा-सा काम आ पड़ा है तो धक्का-मुक्की शुरु है। सामायिक करनी है, दया करनी है अथवा और कोई भी काम करना है तो धक्कमधक्का होता है। यह सब क्या चीज है? इन वैशाखियों और घोडियों का सहारा लेना

छोड़ो और जो कुछ करना हो मन से करो, दूसरे न करें तो उन्हें छोड़ो, उनके पीछे-पीछे तुम मत चलो।
मारवाड़ में मनुहार चाहिए। मैं कहता हूँ, यह भी वैशाखी का सहारा है। यह भी धक्का है। इसमें कोई बड़ा आदर्श नहीं है। मनुहार की आवश्यकता तभी तक होती है, जब तक सच्ची भूख नहीं लगती। सच्ची भूख या प्यास लगने पर मनुहार आप ही छूट जाती है।

कोई भोजन करने बैठा। परोसने वाले ने कहा—लीजिए। भोजन करने वाला कहता है—नहीं, बस, अब नहीं चाहिए। इस प्रकार कब तक चलेगा? एक, दो या तीन दिन तक चल सकेगा। आखिरकार भूख में मनुहार की आवश्यकता नहीं रहेगी। सच्ची भूख लगने पर मना नहीं किया जायगा। उस समय तो चुपचाप ले लेगा और झटपट खा जायगा।

प्यास लगी है, फिर भी मनुहार कराई जायगी। प्यास के कारण चहरा उतरा हुआ है और भद्दा बन गया है, किन्तु कहता है—प्यास नहीं है।

हमारे यहां कहते हैं—बनिये की वृत्ति बड़ी विचित्र होती है। देहात में देखा जाता है—कोई दर्शनार्थी आता है तो लोग कहते हैं—भाई साहब, भोजन के लिए पधारिए। तब भाई साहब कहते हैं-अभी जरूरत नहीं है।

'कहाँ खाना खाया?'

'अभी खाना नहीं है।'

एक देहाती कहीं जा रहा था। उसने देखा—एक वणिक् कुए में पड़ गया है। उसने उसे कुए में से निकाल कर कहा—खाना तो खाइए।

वणिक् बोला—अभी जरूरत नहीं है।

देहाती—कब खाया था?

वणिक्—मैं तो खाते ही कुए में पड़ा था।

अरे भाई! ऐसी क्या बात है। भूख है तो खाकर ही मिटा लीजिए। आखिर मनुहार की भी सीमा होनी चाहिए। किसी हद तक वह ठीक हो सकती है। किन्तु जब वह हद को पार कर जाती है तो मुझे बैशाखी मालूम पड़ती है।

फिर भी सम्यक्त्व में मनुहार की जरूरत नहीं है। दर्शन-विशुद्धि के काम में, जीवन के पवित्र क्षेत्र में मनुहार का कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तो विश्वास का मूल्य है। आपका विश्वास दृढ है तो आपको भगवान् के स्वरूप की झांकी मिलेगी। किन्तु यदि आपको हृदय में दृढ़ श्रद्धा नहीं है और भावना की लहर नहीं उठी है तो भगवान् के स्वरूप की झांकी नहीं मिलेगी।

कबीर से किसी ने पूछा—भगवान् कहाँ हैं? गोलोक में हैं या वैकुण्ठ में हैं? कोई कहीं और कहीं बतलाता है। आपकी समझ में भगवान् कहाँ हैं?

कबीर के सामने यह प्रश्न आया तो उन्होंने कहा—

मुझको कहाँ ढूंढे बन्दे! मैं तो तेरे पास मे।
ना मैं मक्के ना मैं काशी, ना कावे कैलास में॥
मैं तो हूँ विश्वास मे॥ १॥

कबीर कहते हैं कि ईश्वर कहता है—मेरी तो एक ही जगह है। मैं एक ही जगह रहता हूँ। जहाँ विश्वास है वहीं मेरा वास है। जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ मेरा वास नहीं। कोई अतिथि आता है तो

कहाँ रहता है ? छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, कैसा भी अतिथि क्यों न हो, वह तो आपके प्रेम में और आपकी भावना में ही रहता है। आपका सगा-सम्बन्धी हो या महमान हो किन्तु उसके प्रति आपका प्रेम नहीं है और आदरभाव नहीं है तो क्या है ? सगा बाप है तो भी कुछ नहीं है। पिता बहुत ऊँची चीज है, किन्तु आदर नहीं तो कुछ नहीं। कंस का भी पिता था और बूढ़ी हालत में था, तब भी पिता ही था। किन्तु कंस की निगाह में कुछ नहीं था। हाँ, अतिमुक्तकुमार के लिए वह पिता था। तो जिस प्रकार अतिथि और सगे-सम्बन्धी प्रेम और भावना में हैं, उसी प्रकार भगवान् विश्वास में हैं। एक दार्शनिक विद्वान् ने कहा है—

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥

देवता न काष्ठ में है, न पाषाण में है, न मिट्टी में हैं और न सोने-चांदी में है। कहीं नहीं है, वह तो भावों में है। देव अन्दर में है, भावना में है। इसलिए अपने भावों की तरफ देखो।

इस दृष्टिकोण से यह जाप भी बड़ी उपासना है। इस उपासना से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है, भावनाएँ निर्मल होती हैं। और जब भावनाएँ निर्मल होती हैं तो दया, अहिंसा, दान आदि सब चमकने लगेंगे।

विश्वास और भावना बड़ी चीज है। सत्य के प्रति विश्वास नहीं है तो सत्य भले बोला जा रहा हो, किन्तु वह सत्य काला पड़ेगा। भावना के साथ दिया हुआ दान का एक पैसा भी चमचमाता है और उसमें से तेजस्वी चिनगारी निकलती है, किन्तु यदि दान के

पीछे भाव बिगाड़ लिये गये हैं तो भले वह लाखों का ही क्यों न हो, धुंधला पड़ जाता है। अभिप्राय यह है कि भगवान् का नाम लेना और भावना के साथ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है।

मगर कई नये साथी, जो नई तरंग और नई उमंग लेकर आये है और जिन पर देश और समाज का भविष्य निर्भर है, कहते सुनाई देते हैं कि खाली नाम लेने से क्या होगा। हम उनसे कहना चाहते हैं, खाली नाम न लो और भरे हुए नाम लो। मगर यह समझना गलत है कि नाम लेने से क्या होता है।

मान लीजिए, आपका किसी पर हजारों का लेना है। आप मांगते हैं पर वह नहीं देता है तो अदालत की शरण लेते हो। आपका वकील नोटिस का मसविदा तैयार करके आपसे पूछता है—मुद्दायले का नाम क्या है ? आप कहेंगे—नाम तो याद ही नहीं है। अदालत में जज पूछेगा—किससे रुपये वसूल करना चाहते हो ? आप उत्तर देंगे—साहब वसूल तो करने हैं, किन्तु नाम नहीं मालूम है। नाम तो भूल गया हूँ।

ऐसी स्थिति में लाखों और करोड़ों का लेना भी होगा तो कितनी कौडियाँ वसूल होंगी ? आप कह रहे हैं न कि नाम का मूल्य नहीं है। जो नाम के मूल्य को नहीं समझ पाते, उनकी स्थिति बड़ी बेढब हो जाती है।

एक अनपढ़ और मूर्ख आदमी किसी के यहाँ नौकर रह गया। उसे ऊंट चराने का काम सौंपा गया। एक बार ऊट चराते २ वह सो गया और चोर ऊंट को ले गया। वह जब जागा तो ऊंट को न देखकर इधर-उधर भागने लगा।

वह हजरत अपनी तरफ से निराले ही थे। उन्हें न अपने मालिक के नाम का पता था, न अपने नाम का और तारीफ तो यह कि जिसे चराते थे, उसके नाम का भी उन्हें पता नहीं था।

तो वह इधर-उधर भटकता है और कहता फिरता है—वह गया। वह गया। लोग पूछते हैं—अरे क्या गया? पर उसे ऊँट कहना नहीं आया। कोई पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है? परन्तु उसे अपना नाम भी नहीं मालूम है। किसीने जानना चाहा—किसके यहाँ काम करते हो? तो मालिक के नाम का भी पता नहीं है। अब बताओ, ऐसे आदमी से आपका पाला पड़ जाय तो आप क्या करेंगे? आप उसे नौकर तो रख लेंगे?

बन्धुओ! सारे संसार की भूमिका नाम के ऊपर ही टिकी हुई है और आप कहते हैं कि नाम का कुछ मूल्य नहीं है।

भगवान् के नाम की स्मृतियाँ हमारे जीवन में प्रेम की धार उड़ेल देती हैं।

प्रश्न छिड़ा कि नाम बड़ा है या रूप? कुछ ने कहा—नाम बड़ा है और कुछ ने कहा—रूप बड़ा है। इस दार्शनिक प्रश्न को आप भी समझ लीजिए। मान लीजिए, आपका कोई प्रेमी है। आपने उसे देखा नहीं है और नाम सुना है। नाम से और काम से आप परिचित हैं, रूप नहीं देखा है। वह प्रेमी अचानक आकर आपके द्वार पर खड़ा हो जाय तो उसे देखकर क्या करेंगे? कहेंगे—चलो, हटो यहाँ से। आप उसका अनादार करेंगे। और जब वह अपना नाम बताएगा तो आप कहेंगे—क्षमा कीजिए। भूल हो गई। आइए, पधारिए, पता नहीं था कि आप हैं।

क्यों भाई, क्या हो गया अब ? तब और अब में क्या अंतर आ गया ? यही कि पहले नाम नहीं मालूम था और अब नाम मालूम हो गया। तो नाम का यह महत्त्व है। नाम के बिना प्रेमी भी सामने आ जाय तो धक्के मिलते हैं। भगवान् को स्मरण करोगे तो नाम पहले आएगा। और फिर नाम के साथ भावना भी रखिए, संकल्प भी रखिए और प्रीति भी रखिए और तब आपका उद्देश्य सफल हो जायगा।

आपके यहाँ का जाप लगातार चौबीसों घन्टे चलने वाला है। दिन में भी और रात में भी चलेगा। मैं समझता हूं कि कठिन से कठिन जो समय है, उसे लेने वाला ज्यादा चमकेगा।

जब रामायण का युद्ध होने लगा और राम की सेना तैयार हो गई और कमान को सम्भालने का प्रश्न आया तो हनुमान से पूछा गया—तुम्हारा नाम कहां रक्खा जाय ?

हनुमान ने तत्काल उत्तर दिया—जहाँ कोई न हो, वहाँ मेरा नाम रख दीजिए। जहाँ सरल काम है, वहां हजारों आ जाएँगे, कठिन काम के लिए भी तो कोई चाहिए। अतएव हनुमान की जगह वहीं है जहां कोई नहीं है।

रामायण राम से तो चमकी है, परन्तु हनुमान न होते तो उसमें उतनी चमक न आती। हनुमान न होते तो रामायण का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। आप सोच सकते हैं कि सीता का पता लगाना कितना कठिन काम था ? किन्तु हनुमान ने मौत के मुँह में घुस कर भी सीता का पता लगाया। हनुमान से पूछा गया—लौट कर कैसे आओगे ? तब हनुमान ने कहा—हनुमान कार्य सिद्ध करके ही लौटना जानता है, कार्य सिद्ध किये बिना लौटना नहीं जानता। हनुमान ने कहाः—

कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्।

तो हनुमान का काम सेवा के लिए समय तलाश करना नहीं है। कठिन से कठिन मोर्चे पर आगे रहना उनका काम है। यदि आप हनुमान की जगह पा लेंगे तो राम के हृदय में जगह पालेंगे।

इस प्रकार आपके यहां जप की, प्रभु का नाम लेने की जो चर्चा चल रही है, वह बहुत ठीक है। जप के लिए आप घर से आएँ तो रस लेकर आएँ और तरंग और भावना लेकर आएँ। काम करना है तो रस क्यों न लिया जाय।

भारत की एक बड़ी दुर्बलता है कि यहां काम तो किया जाता है, परन्तु रस नहीं लिया जाता। भारत का हजार-हजार वर्षों का इतिहास बतलाता है कि देश के लिए काम तो किये, परन्तु रस लेकर नहीं किया गया तो देश का पतन हुआ।

हमारे यहाँ एक कहावत चली आती है—'हँसता रोता पाहुना।' घर में महमान आ गया है तो हँसते-हँसते खिलाओगे तो भी खिलाना पड़ेगा। किन्तु हंसते-हंसते खिलाओगे तो दोनों को आनन्द आएगा और रोते-रोते खिलाओगे तो किसी को भी रस नहीं आने वाला है।

आशय यह है कि जब करना ही है तो रस लेकर करो। कर्त्तव्य आ गया है तो रोना क्या। प्रसन्न मुद्रा से करो और उसमें से आनन्द प्राप्त करो। मीठी लहर से काम करोगे तो अवश्य ही आनन्द प्राप्त कर सकोगे। ऐसा करने से जो रकम डाली जा रही है, वह कई गुनी-वसूल हो जायगी। जो समय लगाया जायगा, वह सार्थक हो जायगा।

गीता में श्री कृष्ण भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

यज्ञानां जपयज्ञो ऽस्मि ।

श्रेष्ठ वस्तुओं की गिनती करते हुए वे समस्त यज्ञों में जपयज्ञ को श्रेष्ठ बतलाते हैं। यज्ञों की बात आई तो उन्होंने कहा—'यज्ञों में मै जपयज्ञ हूँ' अपने इष्टदेव का, अपने प्रभु का नाम जपना सब से श्रेष्ठ यज्ञ है। इसमें हिंसा के लिए लेश मात्र अवकाश नहीं है—रक्त की एक भी बूंद नहीं बहानी पड़ती और किसी को कुछ भी कष्ट नहीं होता। इसमें अहिंसा, दया और करुणा की झंकार है। यह यज्ञ अहिंसा का प्रतीक है।

जब आप जप के साथ अपनी सद्भावना को और शुभ संकल्प को जोड़ देंगे तो अवश्य उसमें रस का अनुभव होने लगेगा और उससे आपका कल्याण होगा।

८-७-५०

(११)

मानवता का मूल्य

मनुष्य जब मनुष्य बना तो उसने एक बड़ा इन्किलाब किया, एक बहुत बड़ी क्रान्ति की और ऐसी क्रान्ति की जो पहले कभी नहीं की थी। किन्तु मनुष्य का चोला पा लेना ही वास्तव में मनुष्य बन जाना नहीं है। मनुष्य का शरीर प्राप्त कर लेना न कोई बड़ी क्रान्ति है और न कोई कठिन बात है। शरीर तो पार्थिव है, मिट्टी का ढेला है और इसको पा लेने में कोई बहादुरी नहीं है। यह तो भौतिक तरक्की है, पुद्‌गलों का खेल है। मानव शरीर उसमें कोई महत्त्व नहीं रखता।

हां, जिसने इन्सान का चोला पाकर इन्सानियत भी पाई, जिसके जीवन में मनुष्यता समा गई, समझो कि उसने बहुत बड़ी क्रान्ति की है और पिछले अनन्त जन्मों के भार को सिर से उतार फेंका है।

इन्सान दो तरह से परखा जा सकता है—सूरत से और सीरत से। हम तो प्रायः सीरत के गुलाम हैं—

सीरत के हम गुलाम हैं, सूरत हुई तो क्या ?
सुर्खो सफेद मिट्टी की मूरत हुई तो क्या ?

एक आदमी बम्बई जैसे शहर में एक बहुत बड़ी दुकान खरीद ले, सुन्दर फर्नीचर से सारी दुकान को सजा दे और लाखों का माल इकट्ठा कर ले, किन्तु इतने से ही वह सफल नहीं हो जाता। उसकी सफलता तो इस बात पर निर्भर है कि उसने उस सामग्री का कैसा उपयोग किया है ? उसने दुकान लगा कर पूंजी को खोया है या बढ़ाया है ? दुकान करके पूंजी जोड़ी है या तोड़ी है ? अगर वह अपनी पूंजी को बढ़ा रहा है तो समझा जायगा कि सफलता पा रहा है। यदि कुछ भी कमाई नहीं हो रही है और उलटा गांठ का खर्च करना पड़ रहा है तो वह दुकानदारी की सफलता नहीं है। वह केवल माल और फर्नीचर से सजी हुई एक असफल दुकान है और ऐसी दुकान जल्दी ही समाप्त हो जाने को है। हमारे यहाँ कहावत प्रचलित है—

ऊँची दुकान, फीके पकवान।

किसी हलवाई की दुकान खूब सजी हो, काफी बड़ी हो और उसमें रहने वाले बहुत लोग हों और मिठाइयों के थाल सजे हुए हों, किन्तु मिठाइयाँ और पकवान सभी फीके हों, तो उस दुकान पर कौन चढ़ेगा ? वहां तो कोई ग्राहक पास ही नहीं फटकेंगे।

तो हम लोगों ने दुनिया के बाजारों में भटकते-भटकते और जगह-जगह ठोकरें खाते-खाते एक इन्सानी जिन्दगी की दुकान खोल ली है। मनुष्य के चोले से उसे सजा लिया है और इस प्रकार मनुष्य जन्म पाना भी प्रतिष्ठा की चीज बन गई है। अनन्त पुण्योदय होता है तब कहीं मानव जन्म की प्राप्ति होती है। भारतीय धर्म-शास्त्रों ने

मनुष्य जन्म की बड़ी महिमा गाई है। कहा गया है कि देवता भी मानव-जन्म की प्राप्ति के लिए लालायित रहते है। संत तुलसी कहते हैं—

बड़े भाग मानुसतन पावा।

भगवान् महावीर ने स्वयं अपने मुख से मनुष्यों को 'देवाणुप्पिया' अर्थात् 'हे देवों के प्यारे' कह कर पुकारा है। जिसकी दुर्लभता का बखान भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से करते हों, वह मनुष्यजन्म भला अनमोल क्यों न हो ? मोक्षप्राप्ति के चार कारणों को दुर्लभ बताते हुए भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में मनुष्यत्व को ही सब से पहले गिनाया है। उन्होंने कहा—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मिय य वीरीयं ॥

—उत्तराध्ययन, ३

मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण श्रद्धा और सदाचार इन चार साधनों की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

क्या सचमुच ही मनुष्यजन्म इतना दुर्लभ है ? क्यों मानव-जन्म के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? इसमें तो सन्देह नहीं कि मानवभव अतीव दुर्लभ वस्तु है, परन्तु धर्मशास्त्रकारों का आशय और ही कुछ प्रतीत होता है। वे मनुष्य शरीर के बजाय मनुष्यत्व की दुर्लभता का प्रतिपादन करना चाहते हैं। और यही बात ठीक और युक्तिसंगत जान पड़ती है।

हम अनन्त बार मनुष्य बन चुके हैं—लम्बे, चौड़े, सुन्दर, सुरूप और बलवान्। पर इससे लाभ तो कुछ हुआ नहीं। मनुष्य शरीर रूपी दुकान खोल लेने मात्र से कोई ज्यादा तरक्की नहीं हो

गई। तरक्की होती है दुकान खोल लेने के बाद, जितनी बड़ी दुकान हो उतनी बड़ी जिम्मेवारी निभाने से। अगर आप सफल व्यापारी हैं तो दुकान खोल लेने पर आपकी मनुष्यता रूप माल का प्रचार कोने कोने में फैल जायगा। आपके जीवन की महक दूर-दूर तक विदेशों में पहुंच जाएगी। नहीं तो कभी-कभी लेने के देने भी पड़ गए हैं।

बहुत जगह देखते हैं—मनुष्य जीवन की दुकान तो खोल ली है, पर बैठा है हैवान बन कर, दैत्य बन कर। मनुष्य बन कर गद्दी पर नहीं बैठा है। वह इन्सान के कर्म में हैवान बन कर बैठा है। वह मनुष्य की दुकान खोल कर भी सफलता नहीं पा सकता। राम और रावण तथा कृष्ण और कंस, ये सब इन्सान ही तो थे। रावण को शायद आप इन्सान की कोटि में न गिनते हों, क्यों कि आपके यहाँ उसके सिर पर दशहरे के दिन, गधे का सिर लगाया जाता है और उसे राक्षस समझा जाता है। ऐसा करके आप रावण के प्रति कितनी ही घृणा व्यक्त करें, किन्तु वह था तो मनुष्य ही। कंस और शिशुपाल आदि भी मनुष्य ही थे, किन्तु उनका दिमाग मनुष्य का नहीं था। तो जिसका दिमाग मनुष्य का न हो और जिसके दिल में इन्सानियत न हो, वह बाहर से मनुष्य बना फिरता रहे तो उसमें और पशु में क्या अन्तर रह जाता है?

कभी-कभी तो ऐसा होता है कि नीचे का भाग तो मनुष्य का सा होता है किन्तु दिमाग होता है पशु का सा, इसी कारण सींग लगा दिये जाते हैं। आप उन रावण और कंस जैसे व्यक्तियों को दैतियों की श्रेणी में क्यों गिनते हैं? इसी कारण, कि उन्होंने इन्सान का रूप लेकर भी इन्सानियत नहीं रक्खी। जो इन्सान का रूप लेकर इन्सानियत न रक्खे उसे इन्सान कैसे कहा जा सकता है? इन्सान तो चोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरों का धन चुरा लेता है। मनुष्य तो

कसाई भी है, जो प्रतिदिन निरीह पशुओं का खून बहाकर प्रसन्न होता है। मनुष्य तो साम्राज्यलिप्सु राजा लोग भी हैं, जिनकी राज्य-लिप्सा के कारण लाखों मनुष्य बात की बात में रणचण्डी की भेंट हो जाते हैं। मनुष्य तो वेश्या भी है, जो रूप के बाजार में बैठ कर, चंद चांदी के टुकड़ों के लिए अपना जीवन बिगाड़ती है और देश की उठती हुई तरुणाई को मिट्टी में मिला देती है। आप कहेंगे, यह मनुष्य नहीं राक्षस हैं।

हाँ, तो मनुष्य-शरीर पा जाने पर भी यदि मनुष्यता प्राप्त न की गई तो मनुष्य शरीर बेकार है, उससे कुछ लाभ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य बन चुके हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में कहते हैं कि हम इतने मनुष्य शरीर धारण कर चुके हैं कि यदि उनके रक्त को एकत्रित किया जाय तो असंख्य समुद्र भर जाएँ। मांस को एकत्र किया जाय तो चांद और सूर्य दब जाएँ। हड्डियों को एकत्र किया जाय तो असंख्य मेरुपर्वत खड़े हो जाएँ।

आशय यह है कि मनुष्य शरीर इतना दुर्लभ नहीं जितना कि मनुष्यत्व दुर्लभ है। इसका अर्थ यही है कि हम मनुष्य तो बने किन्तु मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके बिना मनुष्य बनना भी बेकार हो गया। काता-पींजा कपास हो गया।

यही कारण है कि मनुष्यता पाये बिना चाहे कितने ही क्रियाकाण्ड और सामायिक-प्रतिक्रमण आदि किये जाएँ, सब व्यर्थ हैं। जैनधर्म यही पूछता है कि चाहे तुम किसी धर्म या पंथ को मानने वाले हों, पहले इससे कोई मतलब नहीं, तुम्हारे अन्दर मनुष्यता आई है या नहीं? अगर मनुष्यता की मंजिल तमने नहीं बनाई है

तो धर्म-कर्म की मजिल टिकेगी किस पर ? मनुष्यता की मंजिल पहली मंजिल है और धर्म-कर्म की मजिलें ऊपर की। बिना नीचे की मंजिल के ऊपर की मंजिलें टिकेंगी किस आधार पर ? उसके लिए आकाश में तो ईंटें नहीं फैंकी जाएँगी। अगर पहली मंजिल नहीं है तो आकाश में फैंकी हुई ईंटें तो रह नहीं सकतीं। भला आकाश में फैंकी हुई ईंटों से महल बना है ? किन्तु दुर्भाग्य से आज हजारों व्यक्ति आकाश में ईंटें फ़ेंक कर ही अपना महल तैयार कर रहे हैं। नीचे की मंजिल तो बनी ही नहीं है, उससे पहले ही ऊपर छलांग मारने लगते हैं। मनुष्यता की पहली मंजिल तो बनी ही नहीं और लगे हैं धर्म-कर्म करने और क्रियाकाण्ड की ईंटों को आकाश में फैंक कर संघ-महल बनाने। वे केवल अपने धर्म के कथित अनुयायियों की गिनती बढ़ाने में लगे हैं और समझते हैं कि हमारे धर्म को मानने वाले इतने लाख और करोड़ आदमी हैं। हमारा धर्म दुनिया में सबसे ज्यादा फैला हुआ है। पर क्या कभी अन्दर में गज डाल कर देखा कि वह कहाँ तक फैला है ? धर्म ने जीवन में प्रवेश पाया भी है या नहीं ? अगर कोई धर्म यह चिल्लाता रहे कि मुझे मानने वाले इतने लाख या करोड़ व्यक्ति हैं, परन्तु उस धर्म को मानने वालों में मनुष्यता ने प्रवेश नहीं किया है, तो समझा जायगा कि वे उस धर्म के असली अनुयायी नहीं हैं। संसार में नकली चीजे बहुत-सी चलती हैं। पशु का हृदय रखने वाले भी मनुष्य की शक्ल में होते हैं।

कुछ दार्शनिकों में इसी कारण एक प्रश्न खड़ा हो गया कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है, वह दूसरी योनि में जन्म नहीं लेता है। किन्तु अगर हम अपने पुराने चिन्तन की ओर नजर डाल कर देखते हैं तो हमें इसके विरूद्ध आवाज मिलती है। जैनधर्म के महान् प्रकाशक और भगवान् महावीर कहते हैं कि यह कोई बात

नहीं है कि तू मनुष्य है तो मर कर फिर मनुष्य होगा। पर तू मनुष्य बन कर फूल मत जा। मनुष्य-शरीर तो मिट्टी का ढेर है। यह तो किसी भी दिन नष्ट हो जाएगा और खाक में मिल जाएगा। यह पाँच तत्त्वों का पुतला है। नष्ट होते ही पंच तत्त्वों में मिल जाएगा। मनुष्ययोनि में या किसी भी योनि में जन्म ले लेना कर्माधीन है। कोई घृणित और नारकीय कृत्य करे और सोचे कि मैं मर कर मनुष्य ही बन जाऊँगा, मुझे अच्छे कर्म करने की क्या आवश्यकता है, तो बतलाइए यह सिद्धान्त कैसे सही ठहर सकता है ?

इस भ्रममूलक सिद्धान्त के पीछे कई वैज्ञानिकों और बड़े-बड़े लोगों का हाथ है। और इस सिद्धान्त के पीछे चल कर कई व्यक्तियों ने अपनी चेतना को गड़-बड़ में डाल दिया है। जैनधर्म तो इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता ही है, वैदिकधर्म भी इसे स्वीकार नहीं कर सकता। वहाँ भी हमें एक ऐसी झाँकी मिलती है। जड़ भरत पहले बहुत बड़े तपस्वी थे, किन्तु बाद में संसार की मोह माया में फंस गये और वासना के जाल में उलझ गये। परिणाम यह हुआ कि उन्हें हिरन के रूप में जन्म लेना पड़ा। इस प्रकार वैदिकधर्म के अनुसार भरत मनुष्य थे और मरने के बाद उन्हें हिरन की योनि मिली। अतः उपर्युक्त सिद्धान्त बुद्धि की कसौटी पर कसने पर सही नहीं उतरता है। आप वैदिक संस्कृति का अध्ययन करेंगे तो मालूम होगा कि मनुष्य आगे भी बढता है और पीछे भी हटता है। और जैनधर्म भी यही बात कहता है कि मनुष्य मर कर सांप, बिच्छू आदि भी बन सकता है और देवता और मनुष्य भी बन सकता है। यह एक वैज्ञानिक लक्ष्य है और कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन करे तो उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

एक मनुष्य है, वह बात-बात में क्रोध का जहर उगलता रहता है। कदम-कदम पर उसका पारा गरम हो जाता है। तो क्या वह जहर उगलने वाला अमृत का रूप लेगा? क्या जहर के पौधे को सींच कर आम के मीठे फल चखे जा सकते हैं? क्या वह संसार को मिठास दे सकेगा? जिस मनुष्य के हृदय में क्रोध का सांप फन उठाये खड़ा रहता हो, उससे आप यह आशा रक्खें कि वह दुनिया का भला कर सकेगा और इन्सान बन सकेगा, तो यह आशा दुराशा मात्र है। जिसके हृदय में साँप बैठा है वह तो साँप ही बनेगा, इन्सान कैसे बनेगा?

इसके विपरीत कई पशु ऐसे देखे जाते हैं, जो पशु का शरीर धारण करके भी इन्सान का हृदय रखते हैं, जो बड़े ही शान्त होते हैं और पक्के स्वामीभक्त भी। वे अपने शरीर से मनुष्य की सेवाएँ करते हैं। अपना घी, दूध और परिश्रम आदि देकर मानव समाज का उपकार करते हैं। जब कि कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जो दिन भर मूंछों पर ताव लगाये पड़े रहते हैं, परन्तु पशु बेचारे यथाशक्ति परिश्रम करते हैं।

मैं कहूँगा कि एक तरफ तो उन क्रूर मनुष्यों को खडा कर दीजिए और एक ओर शान्त पशु को खड़ा कर दीजिए। आप देखेंगे कि वह पशु कहलाने वाला प्राणी तो शरीर से पशु है, मन से नहीं और मनुष्य कहलाने वाले शरीर से मनुष्य होते हुए भी हृदय से पशु से भी बढ़ कर हैं। हम देख रहे हैं कि आज पशु कहलाने वाले तो आगे बढ़ रहे हैं और मानव पीछे लौट रहे हैं। मानव को बुद्धि मिली है, अपना जीवन टटोलने को, फिर भी वह तो रात-दिन दुनियादारी की चक्की में पीसता रहता है और अपने सजातीय पर भी घृणा, द्वेष और क्रोध की आग बरसाता रहता है। मैं ऐसे मनुष्यों को

कहना चाहता हूँ कि वे अपने प्रति दिन के जीवन को टटोल कर देखें कि हम इन्सान हैं या पशु हैं ? वह परीक्षा की कसौटी पर अपने आपको परख कर देखें कि उनमें पशुता कितनी है और मनुष्यता कितनी है ? हमारे प्राचीन आचार्यों ने हमें एक बहुत सुन्दर बात बतलाई है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मनः ।
किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं, किन्तु सत्पुरुषैरिव ॥

मनुष्य अपने चरित्र को प्रति दिन देख-भाल करे और एक वणिक् की तरह अपने मनुष्य जन्म रूपी निधी को टटोल कर देखे कि उसमें कितने तो पशुता के खोटे सिक्के हैं और कितने सत्पुरुषता के सच्चे सिक्के हैं ? मेरा कौन-सा आचरण जानवर के समान है और कौन सा महापुरुषों के समान है ?

इसी उद्देश्य से हमारे पूर्वजों और महर्षियों ने अपने-अपने जीवन की जाँच करने का, शाम और सूर्योदय का समय नियत कर दिया है। जैन सम्प्रदाय में उसे प्रतिक्रमण कहते हैं और वैदिक सम्प्रदाय में सन्ध्या। सन्ध्या का अर्थ है—मेल, संयोग, जोड़ा। सूर्योदय के समय रात्रि और दिन का मेल होता है और शाम के समय रात्रि और दिन का संयोग होता है। अतएव प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याकाल हैं। हमारे ऋषियों और मुनियों ने इस समय को चिन्तनवेला कहा है। सूर्योदय होते हैं तब भी हम जागृत रहते हैं और सूर्यास्त के समय भी दैनिक कार्यों से निवृत्त हो कर जागृत और स्वस्थ रहते हैं। उक्त दोनों समयों में चित्त शान्त रहता है वस्तुतः प्रकृति के लीलाक्षेत्र में इधर सूर्योदय का और उधर सूर्यास्त का समय बड़ा ही रम्य और मनोहर होता है। संभव है नगर की

तंग गलियों और बंद कोठरियों में रहने वाले आप लोग प्रकृति के उस विलक्षण मनोरम दृश्य से वंचित रहते हों। और कोई-कोई माई के लाल ऐसे भी हैं जो सूर्य का जीवनप्रद प्रकाश फैल जाने पर भी पड़े ही रहते हैं। परन्तु हमारे यहाँ, प्राचीन काल में, माना जाता था कि सूर्य की किरणें प्रातःकाल में सोते हुए पर पड़ जाएँ तो वह पशु के समान है, मनहूस है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने हमें यह नियम सिखाया था—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्।

ब्राह्म मुहूर्त्त अर्थात् भोर का समय धर्म-जागरण का काल है, आलस्य में पड़े रहने का नहीं है।

दोनों संध्याओं का सुरम्य दृश्य अगर अपनी आँखों से दृष्टिगत हो जाय तो आप आनन्द विभोर हुए बिना न रहेंगे। हमें शिमला यात्रा का दृश्य अब भी याद है। जब हम शिमला के पहाड़ों की यात्रा कर रहे थे तो एक रात जंगल में ही पहाड़ों पर गुजारनी पड़ी। जैन साधु का यह नियम है कि सूर्यास्त होते ही उसे कहीं न कहीं डेरा डालना पड़ता है। वह आगे नहीं चल सकता। तो हमें भी एक वृक्ष के नीचे ही अपना आसन जमाना पड़ा। वहाँ का जंगल बड़ा भयंकर था। इधर पहाड़ उधर पहाड और पहाड़ की ऊँचाई पर हम थे। हमने देखा की ज्यों ही रात्रि विदाई लेकर चलने लगी, एक ओर प्रभात हो रहा है, उसकी लालिमा मानों साधक से भी क्रान्ति करने के लिए कह रही है। उस समय सारी पृथ्वी अगड़ाई लेने लगती है। पक्षियों का कलकल नाद प्रारंभ हो जाता है। वे प्रभात के आगमन के हर्ष से अपना मंगलगान प्रारंभ कर देते हैं और इधर साधक भी अपना मंगलपाठ बोलने लगता है। उस जागृति की पावन बेला में वह कैसे सोया रह सकता है?

मनुष्य सर्वदा पत्थर की मूर्ति बन कर नहीं रह सकता। वह या तो किसी से लड़ेगा या किसी पर प्रेम बरसाएगा। या तो संहार करेगा या सर्जन करेगा। दोनों में से एक स्थिति होगी। इन्सान मिलते हैं तो संघर्ष भी होता है और टक्कर भी होती है। यह नहीं कि वह कुछ करे ही नहीं और पत्थर की तरह निश्चल बना रहे।

पर एक बात जरूर है। इन्सान लड़ता है तो भी मर्यादा बाँध कर। सेनाएँ आपस में लड़ती हैं तो सीमाएँ या मर्यादाएँ बाँध कर लड़ती हैं। वे पागल कुत्ते की तरह किसी पर नहीं झपटतीं। वह अपने लिए सीमा के कुछ सूत्र बना लेती हैं। और मनुष्य प्रेम की बात करता है तो भी सीमा बाँध कर। वह अन्यायी और अत्याचारी के साथ उतना प्रेम नहीं करता, जितना कि सदाचारी पुरुष के साथ करना है। ऐसा नहीं कि प्रेम करे तो पशुओं की तरह करे, जिसकी कोई मर्यादा न हो। और लड़े तो ऐसी बुरी तरह लड़े कि जिसमें न्याय और अन्याय का कोई विवेक ही न हो।

राम भी लड़े थे और और रावण भी लड़ा था। परन्तु राम मर्यादा बाँध कर लड़े थे। अगर राम को सीता मिल जाती तो वे किसी हालत में न लड़ते। उन्हें सोने के सिंहासन या सोने की भूमि के टुकड़े की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्हें आवश्यकता थी अनीति के प्रतिकार थी। रावण से भी उन्हें कोई द्वेष नहीं था। पर उसने अनीति की राह नहीं छोड़ी तो उन्हें लड़ना पड़ा। राम की लड़ाई में एक सीता का नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न था। समग्र नारीजाति की मानमर्यादा और प्रतिष्ठा का सवाल था।

जीवन की राह बड़ी अटपटी है। शान्ति की उपासना करते-करते भी कभी संघर्ष का अवसर आ ही जाता है। जब ऐसा अवसर आ जाय तो मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं यह संघर्ष न्याय से

कर रहा हूँ या अन्याय से ? ऋषियों के द्वारा दी गई 'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत' (प्रतिदिन जीवन की समीक्षा करनी चाहिए) की वह जड़ी उस समय काम में लानी चाहिए। हमें उस समय अपनी अन्तरात्मा से बात करनी चाहिए कि प्रभात हमें यह शिक्षा देने आया है कि तुम्हारा कल का दिन बीत गया। अब आगे के लिए विचार करो। तुम्हारा एक-एक दिन जो जा रहा है, वह जिंदगी का बहुमूल्य हिस्सा काट कर जा रहा है। प्रत्येक दिन का सूर्य तुम्हें मृत्यु की ओर ढकेल रहा है। एक पंजाबी संत ने भी कहा है—

> फरीदा तेरी दाढी उत्ते आ गया बूर।
> अग्गू नेडा रह गया पच्छू रह गया दूर॥

ऐ फरीदा! तेरी दाढी सफेद हो गई है। ये श्वेत केश यमराज के दूत बन कर तुझे चेतावनी देने आए हैं कि शीघ्र सावधान हो जा। तेरे जन्म की तारीख तो दूर पड़ती जा रही है और मौत की तारीख नजदीक आती जा रही है। सूर्य क्या जा रहा है, वह तेरे जीवन का एक-एक हिस्सा काट कर ले जा रहा है तू अपना होश संभाल। कहा है—

> उत्थापोत्थाय बोद्धव्यं, किमद्य सुकृतं-मया ?
> आयुष्यखण्डमादाय, रविरस्तं गमिष्यति॥

प्रति दिन, प्रातःकाल उठ कर विचार करो कि मैंने आज जो बीज बोया है, उससे मनुष्यत्व का पौधा उगने वाला है या पशुत्व का? अगर मनुष्यत्व का बीज बोया है, तब तो कोई बात नहीं है, और यदि पशुत्व का बीज बोया है तो तुम परमात्मा से प्रार्थना करने के अधिकारी नहीं हो। पशु का दिल लेकर तुम परमात्मा के पास पहुंचोगे तो तुम्हारी प्रार्थना कैसे सुनेगा? आपको विचार करना होगा।

यह नहीं कि आप भिखारियों की तरह लम्बी-चौड़ी प्रार्थनाएँ करते रहें। भिखारियों को मांगने पर झूठन मिला करती है, उन्हे महल नहीं मिला करते। महल के लिए तो पुरुषार्थ करना—कर्त्तव्य करना पड़ता है। मजदूर अपना वेतन लेने जाता है तो क्या याचना करता है? वह मांगने नहीं जाता, अपना अधिकार लेने जाता है। बिना काम किये उसे मजदूरी कौन देगा? भारतीय साहित्य के अनुसार कोई प्रार्थना पढ़ता है तो अपना काम कर चुकने के बाद पढ़ता है। वह अपने अधिकार का मांगता है, भीख नहीं मांगता। दुर्भाग्य से आज का भारत कर्त्तव्य को तो एकदम से भुला बैठा है और ढीठ बन कर अधिकार की मांग करता है। ऐसे अधिकार मांगने वालों को भिखारियों की तरह झूठे टुकड़े ही नसीब होते हैं।

हमें विचार करना है कि हमें इन्सान कौन बनाता है और पशु कौन बनाता है? मैं कह चुका हूँ कि हमारे अन्दर जो आत्म-देवता है, वही ईश्वर है। अगर कोई इन्सान का हृदय रखता है, तो वह अपने उस आत्म-देवता के चरणों में प्रेम के फूल और श्रद्धा के सुमन चढाता है। वह ऐसा सुगंधित है कि हृदय मे भी महकता है और वह जिस परिवार में, समाज में या राष्ट्र में रहता है, वहाँ भी महकता रहता है। और वह व्यक्ति जितने दिन तक मौजूद रहता है, संसार को महकाता रहता है और संसार से विदा होने के बाद भी उसकी महक मिलती रहती है। हम समझते हैं कि ऐसे व्यक्ति ने आत्मदेव-ईश्वर की सच्ची निष्ठा से पूजा की है और वह अपना जीवन इन्सान बन कर सुन्दर ढंग से बिता कर गया है।

परन्तु फूल के साथ कांटे भी होते हैं। कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने जीवन में दूसरों के साथ लड़-भिड़ कर, किसी की बुराई करते हुए, मारकाट और खून-खच्चर करके संसार से बिदा होते हैं।

वे जीते जी भी कांटे बिखेरते हैं और मरने के बाद भी उनके जीवन के नौकदार कांटे समाज को व्यथित करते रहते हैं।

अतएव हम विचार करें कि हमने आज का जीवन कांटा बन कर तो नहीं गुजारा है? यदि ऐसा ही किया है तो हम पशु से भी बढ़कर हैं। पशु आपस में मिलते हैं तो कोई विशेष प्रेम नहीं प्रकट करते। मनुष्य किसी से मिलता है तो हाथ मिलाता है। हाथ मिलाने का मतलब यह है कि हम मिल कर चलें। और पशु मिलते हैं तो क्या करते हैं? आपने गधों को मिलते देखा होगा। गधे मिलते हैं तो हाथ नहीं मिलाते दुलत्ती झाड़ते हैं। एक कवि ने कहा है—

ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे प्रेम की बात।
मूरख से मूरख मिले, कै घूंसा कै लात॥

ज्ञानी पुरुष किसी ज्ञानी से मिलता है तो प्रेम की बातें करता है और बातों ही बातों में वह प्रेम का झरना बहा देता है। किन्तु मूर्ख से मूर्ख मिल कर क्या करते हैं? या तो वे घूंसे से बात करते हैं या लात मार कर चल देते हैं।

यह है इन्सान और हैवान का भेद। इसी में है मानव-जीवन की उलझी हुई गुत्थियों का सही हल। अगर हम किसी से मिलते समय झल्ला उठते हैं, उस पर अपना रौब गालिब करना चाहते हैं तो हमें समझना चाहिए कि हमारे अन्दर क्रोध और अभिमान के दो चोर बैठे हैं। हमें इन दोनों पर नियंत्रण करना है। अव्वल तो क्रोध और अहंकार हमारे अन्दर जागें ही नहीं और कदाचित् जाग उठें तो हमें उन्हें वहीं दबोच देने की कोशिश करनी चाहिए। उस अभिमान को और क्रोध को वहीं रोक देना चाहिए, ताकि वह आगे कदम न बढ़ा सके। हाँ, अभिमान आए तो अच्छे काम के लिए

आए। क्रोध उत्पन्न हो तो उसी समय शान्ति के जल से उसे बुझा दिया जाय।

इस दृष्टि से मैं तो प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं सच्चे अर्थ से इन्सान बन जाऊँ, फूलों की तरह सुगन्ध फैलाने वाला। ऐसा नहीं कि मैं काँटे बिखेरता फिरूँ। हमें हृदय इन्सान का मिल जाना चाहिए। हृदय इन्सान का मिल जाने के बाद हाथ, पैर, बुद्धि आदि सभी इन्सान के बन जाते हैं।

और यदि मैं देव बनूं तो मुझमें सच्चा देवत्व आ जाय। देव तो भूत भी होते हैं। उनका भी कोई जीवन है? वे लोगों को तंग और परेशान करते फिरते हैं।

आप विचार कीजिए कि हमने दो हाथ, दो पैर और इतना लंबा-चौड़ा शरीर पा कर क्या तरक्की की है? क्या कहा? क्या हाथ और पैर भी तरक्की कर सकते हैं? हाँ, मनुष्य के हाथ-पैर भी दूसरों की सेवाएँ करके तरक्की कर सकते हैं। एक हाथ वह है जो किसी दीन दुखी के आँसू पोंछे, किसी गरीब को दान दे या किसी सत्पात्र को भिक्षा दे और एक हाथ वह है जो दूसरो का हक छीने या दूसरे के गाल पर तमाचा जड़ दे। तो इन दोनों में अन्तर है या नहीं? मानवता की दृष्टि से पहले हाथ ने बहुत तरक्की की है, जब कि दूसरे हाथ ने कोई तरक्की नहीं की। एक भारतीय ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—

अयं मे हस्तो भगवान्।
अयं मे भगवत्तरः।

अर्थात्—मेरा यह हाथ भगवान् है। नहीं, नहीं, यह तो भगवान् से भी बढ़ कर है।

मानव के ऐसे हाथ चाहिए जिससे दूसरों को शान्ति मिले और जिनके द्वारा दूसरे शान्ति पा सकें, आश्वासन पा सकें। यह नहीं कि अभिमान में आकर हाथों से मूछों पर ताव देने लगें या क्रोध में आकर किसी की जीवन-लीला ही समाप्त कर दें। ऐसा हाथ भगवान् नहीं है, वह तो दैत्य का और राक्षस का हाथ है। ऐसा हाथ तो चाण्डाल का होता है जो झटपट किसी के तमाचा जड़ देता है या प्राण हरण कर लेता है। वह क्रोध का हाथ है, जिसे हमारे पूर्वजों ने चाण्डाल कहा है। क्रोध मानव-जीवन को राक्षसी जीवन बना देता है। हमारे यहाँ इस विषय को छूती हुई एक कहानी आती है:—

एक बहुत बड़े दार्शनिक पण्डित थे। वे पढ़े हुए तो बहुत थे, अनेक शास्त्रों को घोट कर कंठस्थ कर चुके थे, किन्तु वह पढ़ाई उनके जीवन में ओतप्रोत नहीं हुई थी। वे स्नान करके और छापे-तिलक लगा कर, सज-धज कर आ रहे थे। रास्ते में एक चाण्डाल से उनकी भेंट हो गई। वह झाड़ू दे रहा था। पण्डितजी उसे देख कर दूर खड़े हो गये। जात-पांत का मामला बड़ा टेढ़ा होता है। उसमें भी ब्राह्मण जाति के सिर पर तो जात-पांत का भूत सदा सवार रहता है।

एक सज्जन ने मुझे बतलाया कि किंवर प्रदेश में उच्च वर्ग वाले कोई महाशय पानी का घड़ा लिए आ रहे हों और सामने कोई नीच वर्ग का, हरिजन व्यक्ति मिल जाय तो वे उससे बात नहीं करेंगे। वे उसे हटाने के लिए संकेत की भाषा में दूसरे ईंट पत्थरों से कहेंगे। वे कहेंगे—अरे ढेले हट जा, अरे वृक्ष दूर हो जा। अर्थात् वे ढेले और वृक्ष की आड़ लेकर कहेंगे, जिससे उनकी पवित्रता में कोई धब्बा न लग जाय। अगर वे हरिजन से सीधी बात कर

लें तो उनका पानी का घड़ा अपवित्र हो जाय और उनके हाथ की चीज अपावन हो जाय।

हाँ, तो वे पण्डितजी बड़ी तैयारी करके जा रहे थे। चाण्डाल को सामने देखते ही आगबबूला होकर कहने लगे—अरे चाण्डाल! हट, दूर हो! क्यों रास्ता रोके खड़ा है?

चाण्डाल ने कहा—आप गुस्सा क्यों करते हैं पण्डितजी! मैं तो अपने आप ही हट जाता हूँ।

पण्डितजी—तू अपने आप हट जाता तो मुझे कहने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती?

और क्रोध से झला कर पण्डितजी उस पर गालियाँ बरसाने लगे। चाण्डाल ने झट पण्डितजी का हाथ पकड़ लिया। अब क्या पूछना था?, पण्डितजी की आखें लाल-लाल हो गईं और भृकुटी चढ़ गई। जोर-जोर से चिल्लाने लगे—कैसा कमीना है दुष्ट। इसने हमारा धर्म भ्रष्ट कर दिया।

हल्ला सुन कर बहुत-से लोग वहाँ जमा हो गए और चाण्डाल से पूछने लगे—क्या बात है? तू ने पण्डितजी का हाथ क्यों पकड़ रक्खा है?

चाण्डाल मुस्कराता हुआ बोला—यह तो मेरे भाई हैं। मैं इन्हें कैसे जाने देता?

लोग कहने लगे—यह पण्डित है, तू चाण्डाल है। यह भाई चारा कैसा?

वह चाण्डाल भी कभी विद्वानों की सभा में गया होगा। उसने कहीं सुन लिया था कि क्रोध चाण्डाल होता है। वह बोला—हां, आप

ठीक कहते हैं। किन्तु यह पण्डितजी शरीर से ही ब्राह्मण हैं। इनका हृदय तो चाण्डाल का ही है। आप ही बतलाइए, क्रोध चाण्डाल होता है या नहीं।

लोगों ने कहा—हाँ, तुम ठीक कहते हो।

पण्डितजी सकपका गए और उस चाण्डाल भाई से माफी माँग कर, पिंड छुड़ा कर चलते बने।

संभव है इस कहानी में मजाक का पुट हो; परन्तु ऐसी घटना असंभव नहीं है। हम अपने जीवन की ओर नजर डालें तो मालूम होगा, हमारे जीवन में भी कितना चाण्डालपन भरा पड़ा है। न जाने अन्दर कितनी गन्दगी है, कितना कूड़ा-कचरा है। बाहर से आप साफ-सुथरे रहते हैं, क्रियाकाण्डों को ठीकठाक रखते हैं, पर मनको भी कभी टटोल कर देखा है कि वह कितना पवित्र है। बाहर-बाहर झाडू फेर ली और भीतर गन्दगी भरी रही तो उस सफाई का क्या मूल्य है? बाहर से हम शरीर को फूलों से सजाये रक्खें और अन्दर में क्रोध और अहंकार आदि की दुर्गन्ध भरी हो तो उस सजावट की कीमत क्या है? अन्दर की दुर्गन्ध कभी २ इतनी उग्र हो उठती है कि आस-पास के सारे वायुमण्डल को भी सड़ा देती है और दूर-दूर तक विषाक्त कीटाणु फैलाती रहती है।

किन्तु जो मनुष्य अपने जीवन को संयम से बिताता है, जिसके जीवन में कलंक का एक भी धब्बा नहीं है, सच्चरित्र और सदाचारी बन कर रहता है, वह अपने आस-पास के वातावरण को वर्षों तक सुगन्ध देता रहता है। स्वर्ग तक उसकी सुगन्ध का प्रसार होता है। उसकी यशःपताकाएँ स्वर्ग के प्रसादों पर भी फहराती हैं।

ऐसा मनुष्य भाग्यशाली है। वह कहीं भी रहता हो, किसी भी मत या धर्म को मानने वाला हो, उसका जीवन पवित्र होता है। वह मनुष्य के रूप में देवता है।

हर एक धर्म का भक्त अपने आपको ईश्वर का उपासक और परमात्मा का प्रेमी कहता है। वह ईश्वर से प्रेम करने चला है। पर जब हम उसके पारिवारिक जीवन को देखते हैं और देखते हैं कि वहाँ कलह का अखाडा जमा रहता है, तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहता। वह अपनी पत्नी के प्रति प्रेम प्रदर्शित नहीं कर सकता, बच्चों के ऊपर वात्सल्य का अमृत नहीं छिड़क सकता और अन्य पारिवारिक जनों के प्रति स्नेहमय व्यवहार नहीं कर सकता। तब हम समझते हैं कि उसका ईश्वर से प्रेम करना झूंठा है। मैं समझता हूँ, उससे बढ़कर कोई दंभी नहीं है। जिसके पास पारिवारिक जीवन में प्रेम की एक भी बूंद न हो, वह परमात्मा के प्रति प्रेम की धारा कैसे बहा सकता है? स्नेहहीन, शुष्क और जलता हुआ हृदय लेकर ईश्वर के पास पहुँचना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा करना अपने आपको और दुनिया को धोखा देना है।

आचार्य रामानुज के पास एक भक्त आया। उसने कहा—महाराज! मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। मैं परमात्मा से प्रेम करना चाहता हूँ।

रामानुज ने कहा—शिष्य बनना और परमात्मा से प्रेम करना चाहते हो, यह तो अच्छा है, परन्तु पहले यह तो बताओ कि घर में तुम्हारा किसी से प्रेम है या नहीं? माता-पिता के साथ तुम्हारा प्रेम है? पत्नी से या सन्तान से प्रेम करते हो?

आगन्तुक ने कहा—महाराज, सारा संसार स्वार्थ का है। भ्रमजाल है। धोखे की टट्टी है। इसमें क्या रक्खा है? मुझे तो संसार से विरक्ति हो चुकी है। किसी से प्रेम नहीं रहा। अब तो परमात्मा से लौ लगानी है। आप झटपट शरण में लेकर रास्ता बतलाइए।

आचार्य रामानुज ने कहा—यह काम मुझ से नहीं हो सकेगा और मैं तुम्हारे जैसे को अपना शिष्य नहीं बना सकूँगा। मैं इतना कर सकता हूँ कि जिसके हृदय में परिवार के किसी भी सदस्य के प्रति प्रेम हो तो उसे विस्तृत बना दूँ और विराट रूप प्रदान करने की कोशिश करूँ और उसे परमात्मा के चरणों तक पहुंचा दूँ। किन्तु जो पाषाण की भाँति शुष्क और निरस है, उसमें से प्रेम की धारा कैसे निकलेगी? क्या पत्थर के टुकड़े में से कभी पानी की गंगा निकल सकती है? हाँ, पत्थर के पहाड़ों में से झरना जरूर निकलता है। वह भी कठोर होते हैं, फिर भी उनके हृदय में कुछ पानी होता है। तभी झरना निकलता है। किन्तु पत्थर के टुकड़ों में तो एक बूंद भी पानी नहीं रहता। उसमें से झरना कैसे बहेगा? जब तुम्हारे पाषाण-हृदय में एक भी बूंद प्रेम की नहीं है तो परमात्मा के लिए प्रेम की गंगा किस प्रकार निकलेगी?

आगन्तुक शिष्य आचार्य का उत्तर सुन कर, लज्जित होकर लौट गया।

तो आशय यह है कि हमें पत्थर का हृदय नहीं रखना है। पत्थर का हृदय रखकर हम परमात्मा से प्रेम नहीं कर सकते। मनुष्य का हृदय प्रेम से सरल होना चाहिए। उसका हृदय-निर्मल प्रेमजल से छल-छल करता हुआ, सब के लिए बहना चाहिए। तभी सच्ची मनुष्यता आएगी। तभी जीवन में इन्सानियत की लहर उठेगी।

दुनिया के जितने भी धर्म हैं, वे सब मनुष्य को मनुष्य बनाने का संदेश देते हैं। कोई भी धर्म नरक या पशु बनने की प्रेरणा नहीं करता। जिसने मनुष्य होकर मनुष्यता भी प्राप्त नहीं की, वह देवत्व को लूटने चलेगा तो कैसे सफल हो सकेगा? अतएव मनुष्य को सब से पहले मनुष्यता का पाठ पढ़ना है। मनुष्यता आ जायगी तो दूसरे गुण अपने आप दौड़े हुए आ जाएँगे। उस स्थिति में मनुष्य कल्याण-मूर्त्ति बन जायगा। अपना भी कल्याण करेगा और दूसरों का भी कल्याण करेगा

२८-११-५०

सांस्कृतिक-जीवन

★

(१२)

आचारः प्रथमो धर्मः

जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का विकास बाहर से नहीं, भीतर से होता है। जब तक मनुष्य अपने जीवन के अन्दर कोई ऊँचाई प्राप्त न कर ले, कोई विकास न साध ले, अन्दर में चरित्र का बल उसे प्राप्त न हो जाय, तब तक बाहर की जो प्रगतियाँ हैं, जो धूमधाम है, वह मनुष्य के जीवन को गला-सड़ा तो सकती है, पर उच्च और श्रेष्ठ नहीं बना सकतीं।

इस रूप में जैनधर्म ने अपने आपमें चारित्र पर बहुत बल दिया है और बहुत बड़ी शक्ति खर्च की है। यह नहीं की सिद्धान्त के रूप में ही चारित्रबल की महत्ता अंगीकार की गई हो, हमारे हजारों साधक, जो साधु या गृहस्थ के रुप में रहते हैं, उन्होंने जहाँ संसार का निरीक्षण किया, दूसरे धर्मों की बढ़ोतरी को देखा और अपने धर्म को उठाने के लिए प्रयत्न भी किया, वहीं वे अपने जीवन को बनाना भी नहीं भूले। उनकी एक निगाह बाहर की ओर रही तो दूसरी निगाह अपने आन्तरिक चारित्रबल की ओर भी रही। उन्होंने

विचार किया कि हमारे अन्दर चारित्रबल होगा और आचार-विचार की रोशनी होगी तो उसकी चमक एक दिन बाहर भी आये बिना नहीं रहेगी। यदि अन्दर में कुछ न होगा तो बाहर में हम जो कुछ करेंगे, वह जरा सी देर में जल कर समाप्त हो जायगा।

किसी दीपक में अन्दर तेल नहीं है। उसमें बत्ती डाल दी जाय और दियासलाई से जला दी जाय, तो बत्ती जल तो उठेगी और रोशनी भी जल्दी फैल जायगी, किन्तु रोशनी फैल रही है उस दीपक से जिसके भीतर तेल नहीं है, तो वह कितनी देर के लिए है? एक क्षण के लिए बत्ती भभकेगी और रोशनी फैलाएगी, किन्तु दूसरे ही क्षण वह जल कर खाक हो जायगी, और फिर वैसा ही अन्धेरा हो जायगा।

दीपक को अधिक देर तक प्रज्वलित रखना है और प्रकाश देना है तो उसमें तेल का होना आवश्यक है और जितना तेल उसमें होगा, उतनी ही देर वह प्रकाश देता रहेगा।

तो दीपक के सम्बन्ध में जो बात है, वही जीवन के सम्बन्ध में भी है। जीवन मे यदि चारित्रबल नहीं है, चारित्र का तेज नहीं है, तो बाहर जो भी चमक है, बाहर में जो भी प्रकाश मालूम होता है, उसके द्वारा एक दम से प्रकाश बिखेरा जा सकता है, किन्तु वह स्थायी नहीं होगा। वह जल्दी जलेगा और जल्दी ही बुझने को भी तैयार रहेगा।

इसके विपरीत, यदि जीवन में आन्तरिक चारित्रबल है, तो वह प्रकाश यहाँ ही नहीं, बल्कि जन्म-जन्मान्तर में भी चमकता हुआ हमारे जीवन को आलोकमय बनाएगा और आगे बढ़ायगा।

इस प्रकार हम आचार को अपने जीवन में बड़ा महत्त्व देते आये हैं। एक आचर्य ने कहा है—

आचारः परमो धर्म आचार परमं तपः।
आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं न सिद्ध्यति ॥

आचार, जिसे मैं आन्तरिक चारित्रबल कह रहा हूँ, परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचार से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

बात बिलकुल ठीक है। जिसकी आत्मा में सच्चे चारित्र का उद्भव हो चुका है, उसे और कोई धर्म करने की आवश्यता नहीं रह जाती। उसे तीर्थाटन करने की या छाप-तिलक लगाने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार आचार अपने आपमें महान् तप है। तप का उद्देश्य चारित्र बल की प्रशस्त भूमिका पर पहुंचना ही तो है और जो इस भूमिका पर पहुंच गया है, उसके लिए तप की कुछ अनिवार्यता नहीं रह जाती। शास्त्र में ज्ञान की सार्थकता आचार में बतलाई गई है। आखिर बुराई को बुराई और भलाई को भलाई समझने का फल क्या है? यही न कि मनुष्य बुराई से बच कर रहे और भलाई का सेवन करे, यही चारित्र कहलाता है। तो जिसे चारित्र प्राप्त हो चुका है, उसे ज्ञान भी प्राप्त हो चुका है। और लौकिक तथा लोकोत्तर, जो भी सिद्धियाँ तुम प्राप्त करना चाहते हो, उनके लिए चारित्र की आवश्यकता होती है। चारित्र के बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती और चारित्र की मौजूदगी में कोई भी सिद्धि नहीं जो अनायास ही प्राप्त न हो सके।

आचार्य ने आचार को परम धर्म कह कर उसका महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु आचार का महत्त्व इतना अधिक है

कि दूसरे आचार्य को इस कथन से भी शायद सन्तोष न हुआ तो उन्होंने अपनी ओर से संशोधन करके कहा—

अचारः प्रथमो धर्मः।

सबसे पहला और सबसे श्रेष्ठ धर्म आचार है।

आपके अन्दर जो चारित्र है, वह जितना भी बलवान् होगा, आपका बाहरी जीवन भी उतना ही महान् बनेगा। और आन्तरिक चारित्र नहीं है तो बाहर का जीवन भी महान् नहीं बन सकता।

आन्तरिक चारित्रबल आत्मा के समान है और बाह्य क्रिया-काण्ड शरीर के समान। आत्मा के अभाव में शरीर निस्तेज हो जाता है। उसे चमकाने के हजारों प्रयत्न भी कारगर नहीं हो सकते। कितना ही उसे सजाओ, सिंगारो और विभूषित करो, मगर उस आत्मविहीन शरीर मे रौनक नहीं आने वाली है। इसी प्रकार चारित्र-बल के अभाव में बाह्य क्रियाकाण्ड जीवन में चमक और तेज उत्पन्न नहीं कर सकता।

मै समझता हूँ, इस ध्रुव सत्य को समझने में पहले और आज भी भूलें होती जा रही हैं। आज के जीवन में मनुष्य, अन्दर में तैयार हो या नहीं, चारित्र का बल प्राप्त कर चुका हो या नहीं, किन्तु बाहर में चलना चाहता है और रोशनी देना चाहता है। इस रूप में जैन भी बड़े-बड़े उत्सव करते है और उन पर हजारों-लाखों खर्च कर देते हैं। हजारों आदमी इकट्ठे हो जाते हैं और ऐसा लगता है मानों चेतना की बाढ़ आ गई है। मगर दो-तीन दिन में ही सारी धूमधाम समाप्त हो जाती है, बाढ़ उतर जाती हैं और समाज ज्यों की त्यों निस्तेज हो जाती है। और ऐसा मालूम होता है, मानो कुछ भी नहीं हुआ। बहुत बड़ा मेला लगा, हजारों की भीड़ हुई; धूमधाम

मची, किन्तु मेले का दिन समाप्त हुआ कि मैदान फिर जंगल का जंगल है। वह सुनसान नज़र आता है। कभी-कभी तो आदमियों के चले जाने के बाद और भी ज्यादा गहरा सन्नाटा मालूम होता है।

तो हमारे जीवन की भी ठीक यही स्थिति है। जब हम बाहर में रोशनी देते हैं, किन्तु अन्दर में जीवन का निर्माण नहीं कर पाते हैं, तो यही स्थिति पैदा हो जाती है। बाहर में दो-चार दिन खूब उत्सव मनाते है, धूमधाम होती है. वरघोडे निकाले जाते हैं, साहित्य भी प्रकाशित होकर बाहर आ रहा है, किन्तु अन्दर में चमक नहीं आ रही है और वे उत्सव फीके नज़र आ रहे हैं।

तो सिद्धान्त के नाते, सबसे बड़ी पुस्तक और शास्त्र जीवन की पुस्तक है। यदि उसे अच्छी तरह नहीं पढ़ा है और नहीं जाँचा है, तो मैं समझता हूँ कि बाहर में, संसार का जो विश्लेषण है, वह अन्दर की प्रगति में कुछ भी सहायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज का जीवन खोखला होता चला जा रहा है।

किसी आदमी के पास एक ऐसी लाठी है जो घुन लग जाने के कारण अन्दर से खोखला हो गई है। बाहर से उस पर सुन्दर रंग-रोगन और पालिश कर दिया गया है और कोई दुर्घटना हो जाती है। तो वह अन्दर से खोखला लाठी आत्मरक्षा करने में मदद दे सकेगी? नहीं, वह तो एक ही झटके में टूक-टूक हो जायगी। लाठी की चमक और पालिश रक्षा नहीं कर सकेगी।

इससे विपरीत, दूसरी लाठी है, जिस पर रंग-रोगन वग़ैरह की चमक नहीं है, परन्तु अन्दर से ठीक और मजबूत है। तो संभव है, वह आत्मरक्षा करने में मददगार हो सकती है।

तो हमारा चारित्रबल भी ठीक इसी प्रकार का होना चाहिए। ताकि वह हमारे जीवन की प्रगति बराबर बनाये रक्खे।

एक मनुष्य क्षमा रखता है। घर में भी और बाहर भी क्षमा रखता है। किन्तु जब तक क्रोध का निमित्त नहीं मिलता है, तभी तक वह क्षमावान् रहता है और क्रोध का निमित्त मिलते ही भड़क उठता है और क्षमा के आवरण में लिपटा हुआ क्रोध, आवरण को हटा कर बाहर आ जाता है। हम समझते हैं कि वह क्षमा तब तक के लिए ही थी, जब तक उसे आदर-सत्कार मिल रहा था। ऐसी क्षमा जीवन में बल एवं शक्ति नहीं देती।

हाँ, क्रोध के कारण मिलने पर भी, अपमान और तिरस्कार मिलने पर भी, यदि मनुष्य अपने आपको क्षमाशील बनाये रखता है और जीवन में कटुकता मिलने पर भी वह प्रेम और स्नेह की अमृत-वर्षा ही करता है, तो हम समझते है कि जीवन मे सच्ची क्षमा का आविर्भाव हुआ है।

जिसमें इतनी अहिंसा और क्षमा है कि अपनों में रहता है तब भी नम्र और अमृत का सागर रहता है और दूसरों में रहता है तब भी नम्र और अमृत का ही सागर बना रहता है, और इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर ऊँचाई पर ही आसीन रहता है, तो उसका महान् प्रकाश हमारे सामने आता है। उसका जीवन भीतर और बाहर से आलोकमय बन चुका है। वह अपने आलोक में अपने जीवन की प्रगति करेगा और दूसरों के भी पथ को प्रकाश परिपूर्ण बना देगा।

आज के युग के और पुरातन युग के जीवन का विश्लेषण करते हैं तो समझते हैं कि यह और वह दूसरा नहीं है। साधु और गृहस्थ सभी को उसी पगडंडी पर चलना है। हाँ, गति तीव्र या

मंद हो सकती है किन्तु राह दूसरी नहीं है। कोई कहे कि पहले की और आज की राह दूसरी है तो मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता हूँ. पहले के अनन्त-अनन्त जीवन थे और आज के भी हैं, पर यह नहीं कि पहले की और आज की राह अलग-अलग रही हो या भविष्य में अलग राह बनेगी। संसार भर के प्राणियों की एक ही अहिंसा और सत्य की अजर-अमर राह है और वह सब के लिए बराबर है।

हम देखते हैं कि उस पुराने युग के साधक साधु या गृहस्थ जब उस राह पर आये तो इतना चारित्रबल लेकर आये कि उन्होंने निर्दयता के ऊपर भी प्रभाव डाला और स्वयं को मारने वाले पर भी पछताए और रोते रहे।

मैं एक महान् पुरुष की बात करने जा रहा हुँ। सन्देह है कि हमें अभी तक हक् भी मिला है कि हम उस महापुरुष की जीवन गाथा को कह और सुन सकें? मनोरंजन के लिए जो गाथाएँ रक्खी जाती हैं, उनकी तो कोई बात नहीं, किन्तु जीवन निर्माण का पाठ सीखने के उद्देश्य से जो गाथाएँ कही और सुनी जाती हैं, उनके विषय में ऐसा महसूस होने लगता है कि हम उनको कहने-सुनने के अधिकारी हैं भी या नहीं? किन्तु वह चारित्र महान् आदर्श की चीज है। हम उनके आदर्श पर कितना भी चल सकें या न चल सकें, मगर उनकी गाथा को नहीं भूल सकते।

खंधक मुनि का चरित हम कितने वर्षों से गाते और सुनते आ रहे हैं? वे राजपुरुष थे और संसार का असीम वैभव उन्हें मिला था। हजारों मनुष्य उनके लिए जान देने को तैयार रहते थे और उनकी एक भृकुटि पर साम्राज्य भर में झटका आ सकता था।

वे भिक्षुक बनने चले तो पिता ने कहा—तुम भिक्षु तो बन रहे हो, परन्तु तुम्हारी यह गर्मी और यह क्षात्र तेज, संभव है, भिक्षु के चोले में फिट न बैठ सके। तुम्हारे अन्दर अहंकार है और क्रोध भी है। अहंकार और क्रोध ऐसा मैल है कि यदि हम जीवन को स्वच्छ और निर्मल रखना चाहते हैं तो सबसे पहले उसे दूर करना होगा। अहंकार मरेगा, तब क्रोध मरेगा। दोनों को मारे बिना साधुता प्रकट न होगी। हे पुत्र! क्या तुम इन्हें मार सकोगे?

पुत्र ने मुस्कराते हुए कहा—पिताजी, कोई असंभव साधना नहीं है जीवन में, यों तो शरीर को जरा-सी गर्मी और सर्दी का झोंका भी तिलमिला देता है, और एक मक्खी का बैठना भी अच्छा नहीं मालूम होता. किन्तु जिसे अपनी अहिंसा पर विश्वास हो चुका है और जिसे अपने अन्तःकरण से प्रेरणा मिल चुकी है, वह तो मिट्टी के पिंड में से भी, सोई हुई आत्मा को जगा लेता है। और फिर संसार के सारे बंधनों को तोड़ने के लिए एक ही झटका काफ़ी है।

हाँ, तो उस राजकुमार ने कहा—पिताजी, मैं इस मिट्टी के पिंड के लिए नहीं जा रहा हूँ, किन्तु उस सोई हुई आत्मा को जगाने के लिए जा रहा हूँ। बस, संसार के सारे बंधन एक मुस्कराहट में साफ़ हो गये।

राजकुमार भिक्षु बन कर दृढ़ संकल्प के साथ आगे चले और एक नगरी में भिक्षा के लिए आये। गलियों में गुजर रहे थे कि अकस्मात् महल में से राजा की दृष्टि इन पर पड़ती है। इन पर राज-द्रोह का अपराध लगाया जाता है और जल्लादों को हुक्म देता है कि श्मशान में ले जाकर भिक्षु के शरीर की खाल उतार लो।

मुनि की कहीं सुनवाई नहीं हुई। फरियाद ही उन्हें करनी नहीं थी तो सुनवाई कौन करता?

ज्यों ही वे रोटी का एक-एक टुकड़ा घर-घर से इकट्ठा करके, गली में से निकल रहे थे कि जल्लादों ने कहा—आपको मृत्युदण्ड का हुक्म हुआ है और आपकी खाल उतारी जायगी।

उन्होंने यह बात सुनी और देखने वालों ने देखा कि वे जिस प्रसन्न भाव से घर से निकले थे, वैसे ही प्रसन्न भाव से, यह बात सुन कर भी खड़े हैं।

फिर मधुर और मन्द ध्वनि में बोले—ऐसा है तो कोई बात नहीं है। इस चोले को तो छोड़ना ही है। दस दिन पहले छोड़ों तो क्या और पीछे छोड़ो तो क्या? मिट्टी के इस पिंड के फेर में पड़ कर मैं जीवन की राह नहीं भूल सकता।

और फिर शान्त भाव में वे आगे हो लिए। न चिन्ता, न शोक, न मोह, न ममता। जल्लाद चकित और विस्मित थे। अपने जीवन में पहली बार ही उन्होंने यह अनूठा दृश्य और ऐसा असाधारण व्यक्तित्व देखा था।

श्मशान भूमि में पहुंच कर मुनि संथारा कर लेते हैं।

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।

मुनि को जीवन के उस उच्चतर स्तर पर पहुँच जाना चाहिए कि अपने शरीर पर भी अपनेपन का खयाल न रह जाय।

खंधक मुनि, भगवान् महावीर की इस शिक्षा को अपने व्यवहार में चरितार्थ कर रहे हैं।

बरबस मुँह से निकल पड़ता है—अहो क्षमा! अहो त्याग! धन्य है उनकी परम साधना, धन्य है उनकी चरम आराधना।

इस घटना का वर्णन मात्र हमारे सामने आता है तो रोमांच हो आता है और थोड़ी देर के लिए हम भावावेश में बह जाते हैं। खंधक मुनि का बलिदान मर कर बलिदान देना नहीं है, यह तो जीते जी का बलिदान है।

सारे शरीर की खाल उतारा जाना और तिल-तिल करके मरना क्या आसान है? इसके आगे बड़े-बड़े वीर, भालों की नौकों पर चलने वाले भी लड़खड़ा जाते है। किन्तु वह महान्‌तम वीर पुरुष किसी समय का राजकुमार—फूलों की सेज पर सोने वाला अचल भाव से बैठ जाता है और बैठा रहता है। उसकी खाल उतारी जा रही है, रक्त के फौहारे छूट रहे हैं और मांस के लोथ के लोथ पड़ रहे हैं, मगर वह सुमेरु की तरह अकम्प, हिमालय की तरह अडिग और पृथ्वी की तरह अचल भाव से स्थित है। समभाव पूर्वक बैठे हैं। शस्त्र चल रहे हैं, जल्लाद खून बहा रहे हैं, किन्तु वे शान्त हैं। चेहरे पर एक सिकुड़न नहीं अन्तःकरण में क्रोध नहीं, आंखों में आंसू नहीं, अधरों में कम्पन नहीं।

जल्लादों की आंखों से पानी की धारा बह रही है और मुनि के हृदय से करुणा के अमृत की धारा बह रही है। जल्लादों के दिल पिघले जा रहे हैं और मुनि का दिल उनके दुःख को देख कर पिघल रहा है। मारने वाले मरने वाले की असीम और दुस्सह व्यथा से द्रवित हो रहे हैं और मरने वाला, मारने वालों की परेशानी देखकर द्रवित हो रहा हैं।

अचानक उन महान् सन्त ने कहा—मुझे तो मालूम नहीं कि खाल उतारने की प्रक्रिया कैसी होती है? तुम जैसे-जैसे कहते जाओगे, वैसे-वैसे करवट बदलता जाऊँगा, जिससे तुमको मेरे द्वारा कष्ट न होने पाय।

और जल्लादों ने जब दिल दहला देने वाली यह बात सुनी तो उनके मुख में एक दर्द भरी चीख निकल पड़ी।

जब मैं विचार करता हूँ तो हृदय कहता है—यह बात केवल जीभ से नहीं कही जा सकती। यह चमड़े की जीभ इतनी बड़ी बात नहीं कह सकती। जब तक अग्नि प्रज्वलित न हो और जगमगाती रोशनी न हो, तो बेचारी जीभ कब इतनी बड़ी बात कह सकती है?

हाँ, तो वह दया का सागर रक्त की अन्तिम बूंद रहते-रहते शान्त रहा। उसने सोचा—ये सब अज्ञानी जीव हैं और इनके जीवन की कितनी मंगल कामनाएँ हैं। यह जो कुछ भी कर रहे हैं, सब अज्ञानदशा में कर रहे हैं। इसमें इनका क्या दोष है? अज्ञानी आत्मा गड़हे में गिरती है। तो उसकी क्यों निन्दा की जाय? ये अज्ञानी हैं तो मैं क्यों इन पर आवेश लाऊँ मैं इनके साथ क्यों अज्ञानी बनूं? मुझे तो अपने निर्दिष्ट पथ पर ही चलना चाहिए।

आखिर अन्तिम घड़ी तक शुभ और शुद्ध भावनाओं में रमण करते-करते उन वीतराग सन्त ने निर्वाण प्राप्त किया।

तो मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की घटनाएँ, जिनकी उच्चता, भव्यता और पवित्रता साधारण जनता के मन से भी परे है, आन्तरिक प्रबल चारित्रबल के प्रताप से ही घटित हो सकती है। जब तक अन्दर में शक्ति नहीं आएगी, जीवन का महान् लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसी गृहस्थों की जीवनियाँ भी हमें याद आ रही हैं जो एक दिन वासनाओं से घिरे हुए थे, उनके जीवन के चारों ओर आवेश था और वह भी इतना तीव्र कि घर में रहना भी मुश्किल था; किन्तु उनके जीवन में जब क्षमा आई तो जीवन पवित्र बन गया।

त्वंकारी इसी प्रकार की एक नारी थी। वह अपने माता-पिता और सास-ससुर के घरों में दोनों जगह, सोने के सिंहासनों पर आई और जब आई तभी से उसने शासन करना सीखा। लाड-प्यार में पली हुई वह बहिन इतने ऊँचे जीवन में पहुँची कि अगर कोई उसे 'तू' कह दे तो उसकी खैर नहीं। त्वंकारी उसे हजार बार रुलाये बिना न माने। इसी विशेषता के कारण उसका 'त्वं-कारी' नाम पड़ गया था।

एक दिन त्वंकारी ने एक महान् सन्त के दर्शन किये। जब गई थी तो ज़हर भर कर गई थी और झुलसती हुई आग बन कर गई थी, मगर लौटी तो कुछ और ही बन कर लौटी। उसने सन्त की वाणी सुनी तो क्षमा धर्म सीखा। उसने अपना सारा ज़हर वहीं उगल दिया और क्षमा की मूर्त्ति बन कर लौटी।

उसके स्वभाव में एकदम परिवर्त्तन हो गया। अब नौकर कोई काम बिगाड़ देता है तो भी कुछ नहीं कहती। पति किसी इच्छा की पूर्त्ति नहीं करते तो उनके ऊपर भी उसके मन में जरा भी आवेश नहीं आता।

जिनका जीवन, जीवन होता है और जीवन में चेतना का विकास जाग उठता है, उसे जीवनगत दुर्बलताओं को दूर कर देने में और ऊँचाई प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होती।

और चेतना तो सभी में होती ही है, केवल उसे पहचानने वाला होना चाहिए। कुए में जल भरा होता है और हम उसे देखते हैं, परन्तु वह जल बाहर से आया हुआ नहीं होता—वह तो अन्दर से ही आता है। कुआ खोदा गया और सीर यदि अच्छी हुई तो झट से पानी आ जाता है, अन्यथा नहीं आता और जब पानी नहीं है तो जानकार कहता है—इधर से तोड़ो। और जब उधर से तोड़ा

जाता है तो दबादब पानी आ जाता है। पानी का झरना-सा बहने लगता है।

तो पानी तो पृथ्वी के अन्दर ही गरजता है। वह सुराखों के द्वारा बहता रहता है। वह ऊपर से नहीं भरा जा रहा है। किन्तु पता लगना चाहिए उस नाड़ीभेद का। जब पता लग जाता है तो कुआ पानी से लबालब भर जाता है और यदि पता न लगा तो पानी नहीं भरेगा।

इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में अहिंसा, सत्य, दया, करुणा और प्रेम की लहरें बाहर से नहीं आतीं। वे तो हजारों जीवन के अंदर ही बहती रहती हैं। जब उनके ऊपर वासनाओं और विकारों का पलस्तर जम जाता है तो वे अन्दर ही अन्दर बह कर रह जाती हैं, बाहर नहीं फूट पड़ती हैं। किन्तु कोई जीवन का कलाकार, चाहे वह तीर्थङ्कर के रूप में हो अथवा सन्त के रूप में, जब मिल जाता है, तो उन्हीं नाड़ियों को छेड़ लेता है।

रोगी दर्द से छटपटा रहा है, किन्तु दर्द को बता नहीं सकता। इधर-उधर उँगली घुमाता है, किन्तु दर्द की जगह उंगली नहीं पड़ती है। किन्तु जब विचारशील डाक्टर आता है और देखता है और दर्द के स्थान पर उंगली पड़ती है तो बीमार कहता है—हाँ यही दर्द है।

तो जो स्थिति उस बीमार की होती है, वही स्थिति साधक की भी होती है। जब तक ठीक वह नाड़ी नहीं पकड़ी जाती। तो वह अपनी भयंकर बीमारी भी नहीं बता सकता। किन्तु भगवान् महावीर ने जब एक महान् और कुशल चिकित्सक के रूप में ठीक जगह पर उंगली रक्खी और वासना के रोग पर उंगली रक्खी तब

विकारों के दर्द से कराहते हुए आदमी ने कहा—हाँ, हाँ, यही दर्द है। तब उसकी चिकित्सा हुई, गाँठें टूटीं, तो जीवन की धाराएँ बहने लगीं।

हाँ, तो वह त्वंकारी जब लौट कर आई तो क्षमा की मूर्त्ति बन कर आई। उसे जीवन का समस्त वैभव प्राप्त था, फिर भी वह अपने निज के परिवार में भी गलत थी। न वह दूसरों को सुखी कर सकती थी और न स्वयं सुख का स्वाद ले सकती थी।

जो लोग सुख के लिए धन संग्रह के फेर में पड़े रहते हैं, सोचते हैं कि जैसे-तैसे धन का संग्रह कर लूँ और फिर आनन्द में हो जाऊँगा, मैं समझता हूँ कि वे बड़ी भूल करते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि धन प्राप्त हो जाने पर वह आनन्द निकट होने के बजाय और भी दूर हो जाता है। वह धन आग में घी का काम देता है। आग में जितना घी डाला जाय, वह बढ़ती जाती है। उसे शान्त करने के लिए तो पानी चाहिए। आग से आग नहीं बुझती, घी से आग नहीं बुझती, वह तो पानी से ही बुझती है। त्वंकारी के पास धन की कोई कमी नहीं थी, फिर भी जीवन के आनन्द से वह वंचित ही थी। उसका हृदय ज्वालाओं से व्याप्त था न ?

मगर उसका जीवन सहसा पलट गया। उपदेश सुन कर वह लौटी तो उसका स्वभाव ही मानो लौट गया। कथाकार कहते हैं कि केवल कहने के लिए ही यह कहानी नहीं कही गई है और इतिहास के नाते इतिहास नहीं दोहराया गया है।

इसलिए तो जैन आदर्शवादी कहलाते हैं। जैन साहित्य की जितनी भी कड़ियाँ हैं, और इतिहास के रूप में या कथा के रूप में जो भी कुछ लिखा गया है, उसके पीछे अहिंसा, क्षमा आदि आदर्शों

का मूक संदेश होता है। जिस कथा के पीछे यह मूक संदेश नहीं है, कम से कम हमारे यहाँ उन कथाओं का कोई मूल्य नहीं है।

आज कुछ लोग कहते हैं, कला, कला के लिए ही है। मगर जैनाचार्य कहते हैं—कला जीवन के लिए है और इसलिए धर्मकला ही समस्त कलाओं में उत्तम है। कहा भी है।

सव्वा कला धम्मकला जिणइ।

हाँ, तो फिर मूल बात पर आ जाएँ। त्वंकारी जिस नगर में रहती थी. वहां कुछ सन्त आये। उनमें एक सन्त बीमार थे और उनकी चिकित्सा ठीक तरह नहीं हो रही थी। एक चिकित्सक ने उन्हें लक्षपाक तैल के मर्दन की सलाह दी। सन्त ने कहा—यह बहुमूल्य तैल कहां मिलेगा?

वैद्य ने कहा—राजा के मंत्री के यहां यह तैल है और मैंने ही उसे बनाया है। उनके यहां से आपको मिल जायगा।

सन्त पात्र उठा कर मंत्री के घर पहुँचे। ज्यों ही सन्त घर के अन्दर घुसे तो आगे त्वंकारी बैठी हुई थी। सन्त को आते देख वह खड़ी हो गई और कुछ सामने आई। पूछा—किस प्रयोजन से आपका आगमन हुआ?

सन्त ने कहा—लक्षपाक तैल चाहिए।

आपकी कृपा से सभी कुछ है। अभी लीजिए—

उसने पास में खड़ी हुई दासी से कहा—बेटी, वह तैल का घड़ा तो ले आ।

कथाकार कहते हैं—उस समय, उस जगह, कोई देवशक्ति चक्कर काट रही थी। त्वंकारी ने जब दासी को 'बेटी' शब्द से

संबोधित किया तो उसने विचार किया—इसने अपनी दासी के लिए 'बेटी' शब्द का प्रयोग किया है, तो यह केवल सभ्यता के नाते ही तो प्रयोग नहीं किया गया है ? ऐसा है तो क्या अन्त तक यह अपने भाव को कायम रख सकेगी ? दासी को बेटी बना कर इसने मातृत्व को स्वीकार कर लिया है, और मातृत्व की महिमा ऐसी है कि कितना ही विनाश और बिगाड़ क्यों न हो जाय, वह फीका नहीं पड़ता है। यही नहीं, वह और अधिक दयालु हो जाता है। क्यों न मैं त्वंकारी के मातृत्व की परीक्षा कर देखूँ !

दासी ज्यों ही लक्षपाक तैल का घड़ा ले कर आने लगी तो दैवी शक्ति की प्रेरणा से उसके पैर फिसल जाते हैं और घड़े के टुकड़े-टुकड़े हो जाते है। सारा तैल जमीन पर बिखर जाता है। कालीन वगैरह तैल से भर जाते हैं।

यह हानि एक बड़ी हानि थी। और जब यह हानि त्वंकारी के सामने आई तो उसने कहा—बेटी, यह क्या हुआ ? तैल गिर गया तो क्या हुआ। तुम दूसरा घड़ा ले आओ।

दासी दूसरा घड़ा लेने गई और जब लेकर लौटने लगी तो फिर गिर पड़ी दूसरा घड़ा भी फूट गया। यह हाल देख कर बेचारी दासी सहम गई, सकपका गई। तब त्वंकारी बोली—बेटी, कोई बात नहीं, तीसरा घड़ा ले आओ।

दासी गई उसने बड़ी सावधानी से घड़ा उठाया। मनुष्य के पास जितनी प्राणशक्ति होती है, सभी उसने लगा दी और सोचा—अब की बार नहीं गिरने दूँगी। मैं दो बार क्षमा प्राप्त कर चुकी हूँ। जो तिनके के लिए भी क्षमा नहीं कर सकती थी, उसने लाखों का नुकसान बर्दाश्त कर लिया है।

यह सोच कर दासी अत्यन्त सावधानी के साथ घड़ा ला रही थी। फिर भी अचानक पैर फिसल ही गया और दासी गिर पड़ी। गिरते के साथ ही वह फूट-फूट कर रोने लगी। त्वंकारी ने यह देखा तो मुनि को छोड़ कर उसके पास आई और उसे उठा कर कहा—बेटी, तुझे चोट तो नहीं लगी है? रोती क्यों है? तेरे आंसूओं से क्या तैल की कीमत ज्यादा है? तैल तो फिर भी प्राप्त किया जा सकता है। तुम पुत्री बन कर भी इस घर में रोने लगीं? यह घर इतना बड़ा है कि तैल तो क्या, सर्वस्व भी बर्बाद हो जाय, तो भी तेरा कोई अनिष्ट नहीं होगा। त्वंकारी ने यह कला सीखी है कि वह सभी कुछ बर्दाश्त करेगी और आंसू नहीं बहाएगी और न बहाने देगी।

यह कह कर उसने दासी को उठाया तो उसके कपड़े भी तैल से भर गये। परन्तु उस क्षमामूर्त्ति त्वंकारी ने इस बात की भी परवाह नहीं की।

यह हाल देख देवशक्ति सामने आ गई और हमारी कहानी समाप्त हो गई।

हम अपने श्रोताओं के सामने इस कथा को रखते हैं। त्वंकारी की कथा का आदर्श यही है कि जिसमें न्याय और अन्याय को सहन करने की शक्ति नहीं है, उसमें महान् चेतना का जागरण नहीं है। वहाँ अन्दर में धर्म का सच्चा स्वरूप जागा नहीं है। वह तो संकट और विनाश की घड़ियों में ही जागता है, कम से कम ऐसे विकट प्रसंग पर ही उसकी परीक्षा होती है। तभी पता लगता है कि मनुष्य की क्षमा सच्ची क्षमा है और वह विकास की ओर अग्रसर हुआ है।

यह ठीक है कि आज ही खंधक मुनि और त्वंकारी नहीं बना जा सकता। परन्तु मैं कह चुका हूँ कि हमारी चाल भले धीमी या

तेज हो, परन्तु मार्ग तो वही होना चाहिए। अगर हम धीमे-धीमे भी उसी मार्ग पर चले तो किसी न किसी दिन लक्ष्य पर पहुंच ही लेंगे। और यदि बीच में भटक जाते हैं तब तो वह महान् लक्ष्य प्राप्त ही नहीं होगा।

तो मैं विचार करता हूँ कि स्वंकारी के अन्दर जीवन का बल गहरा था और इसी कारण वह क्षमा कर सकी। बल की गहराई न होती तो दूसरा और तीसरा घड़ा फूटने पर वह कह देती—तुझे मालूम नहीं है ? क्या अंधी हो गई है ? दिखाई नहीं देता ?

हम घर-घर में जाते हैं तो देखते हैं कि बच्चों के हाथ से कोई नुकसान हो जाता है तो माताएँ उन्हें कहती हैं—'क्या सूझता नहीं है ? आंखे फूट गई हैं ?' किन्तु ऐसा कहने के बजाय यदि यह कह दिया करें—'देखो, ठीक देख कर चला करो। ठोकर खा जाओगे तो तुम्हें लग जायगी।'

इस प्रकार प्रेम और स्नेह से उनके हृदय को जीतें तो मैं समझता हूँ, बालकों को ज्ञान हो सकता है। किन्तु जब बालक को अंधा कह दिया जाता है तो वह दिन भर उसी शब्द को याद किया करता है उसे भूलता नहीं कि मुझे अंधा कह दिया गया है।

इसी प्रकार अकसर सासू अपनी बहू को बात-बात पर झिड़कती है। जरा-सा काम बिगड़ जाने पर वह बिगड़ जाती है और कटुक शब्दों की झड़ी लगा देती है। अड़ौस-पड़ौस में दुखड़ा रोती फिरती है। और जो-जो कुछ होता है, उसे मेरी अपेक्षा यह बहिनें अच्छी तरह जानती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार का बर्त्ताव आखिर किसी बीमारी का इलाज है भी या नहीं ? इससे रोग मिटता है या बढ़ता है ? इससे तो पारस्परिक वैमनस्य, क्लेश, अशान्ति

और द्वन्द्व बढ़ता है और बढ़ते-बढ़ते सारे परिवार की शान्ति को स्वाहा कर देता है।

बहिनें इस तथ्य को न समझती हों, ऐसी बात नहीं है। यह कोई गुप्त रहस्य नहीं है। इस प्रकार के वर्त्ताव से सैंकड़ों परिवार तहसनहस हो गये हैं। सभी इस बात को भलिभाँति जानती हैं, सुनती हैं और देखती हैं। फिर भी बहुत कम बहिनें इस बुराई से बचने का प्रयत्न करती है। आखिर इसका कारण क्या है?

इस प्रश्न का एक ही उत्तर है—चारित्रबल का अभाव।

जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बातों में, सब जगह, चारित्रबल की आवश्यकता है। चारित्रबल के अभाव में न गार्हस्थ्य जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है और न आध्यामिक जीवन में ही। अतएव गृहस्थ और साधु दोनों के लिए एक ही राह है—चारित्रबल को प्राप्त करना। चारित्रबल जितना मजबूत होगा, हम बुराइयों से संघर्ष करने में उतनी ही सफलता पा सकेंगे। और चारित्रबल ऊँचा न हुआ तो छोटी से छोटी घटनाएँ भी हमें झटका देंगी और हम अपनी राह भूल जाएँगे।

मामूली सा पात्र फूटने पर मैंने साधुओं को भी हल्ला मचाते देखा है। आपके यहां भी नित्य महाभारत मचा रहता है। आखिर इन बुराइयों को जब तक हम सोचेंगे नहीं और गहराई से नापेंगे नहीं, हम बन नहीं सकेंगे।

आपको मालूम होगा कि आगरे में बनारसीदासजी बड़े विचारक हो गये हैं। वे आध्यात्मवादी कवि थे। उनके आध्यात्मिक ग्रन्थ बड़े विलक्षण हैं। अब से करीब चार सौ वर्ष पहले की बात है

आगरा में एक साधु आ गये जो शरीर पर एक तार भी नहीं रखते थे। जनता की भीड़ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी और वे इतने शान्त और महान् मालूम होते थे कि कुछ पूछिए नहीं। लोगों ने पूछा तो मालूम हुआ—उनका नाम शान्तिसागर था।

पण्डित बनारसीदास भी वहाँ पहुंचे और बैठ गये। वे आध्यात्मिकवादी थे मगर परीक्षावादी भी थे।

भक्त दो तरह के होते हैं। एक तो झटपट प्रभाव में आ जाते हैं और दूसरे परीक्षा करने के पश्चात् किसी के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। पण्डितजी दूसरी श्रेणी के थे। वे अपने जीवन को जाँचते थे और वैसे ही दूसरों के जीवन को भी जाँचते थे।

वार्त्तालाप के सिलसिले में बनारसीदासजी ने पूछा—क्या नाम है?

मुनि ने कहा—शान्तिसागर।

फिर कुछ देर बातें करने के बाद पूछा—क्या नाम है?

मुनि ने फिर कहा—शान्तिसागर।

जरा-सी देर बात करके फिर वही प्रश्न किया गया—क्या नाम है?

अब मुनिजी चिढ़ पड़े। बोले—बता तो दिया है। तुम्हारे दिमाग में क्या गोबर भरा है?

कवि ने सोचा—आग प्रज्वलित होने लगी है।

कुछ ही देर बाद उन्होंने फिर पूछा—क्या नाम है? ....

मुनि ने झल्लाकर कहा—शान्तिसागर ! शान्तिसागर ! शान्तिसागर !

मगर कविजी सहज टलने वाले नहीं थे। चुपचाप रहे और इधर-उधर की बातें करने के बाद फिर वही प्रश्न कर बैठे—क्या नाम है ?

अब तो महाराज की आंखों से अंगारे बरसने लगे। बोले—भागेगा या पिटेगा ? मूर्ख कहीं का।

कवि फिर भी डटे रहे। और फिर थोड़ी देर में पूछ बैठे—क्या नाम है ?

इस बार मुनिजी मारने दौड़े। तब बनारसीदास ने कहा—आप नाम से तो शान्तिसागर हैं, मगर स्वभाव से ज्वालासागर हैं। नाम रखने से कुछ नहीं होगा। अन्तर में शान्ति को जगाइए। रगड़ लगने पर चन्दन की तरह विशेष खुशबू पैदा होनी चाहिए। आप तो जरा-सी बात में क्रोध करने लगे।

अभिप्राय यह है कि जब तक अन्दर में रचना नहीं होती—चारित्रबल पैदा नहीं होता, तब तक अच्छा नाम रख लेने से अथवा क्रियाकाण्ड का प्रदर्शन कर देने मात्र से कोई लाभ नहीं होने वाला।

तुम अपना जीवन नीचे से या ऊपर से बनाना शुरु कर रहे हो ? स्मरण रक्खो, वह नीचे से बनना शुरु होगा। चार मंजिला भवन बनने के लिए पहले नीचे की नींव में ईंटें रखनी होंगी फिर दीवार नीचे से उठ कर ऊपर आएगी तो आप ऊपर के सिरे पर भी ईंट रख सकते हैं।

जो लोग ऊपर से जीवन बनाने की तैयारी करते हैं, वे शिष्टाचार और सभ्यता का दिखवा कर सकते हैं, किन्तु जीवन का

निर्माण जिसे कहते हैं, वह नहीं कर सकते और वह भी जीवन में और आगे नहीं निभ सकता। अतएव जीवन का निर्माण करना है तो आन्तरिक चारित्रबल पैदा करो। तब जीवन इतना विशाल बनेगा कि इसी जीवन में महान् होते हुए ऊपर चढ़ते जाओगे और फिर समस्त बंधनों को तोड़ कर मोक्ष भी प्राप्त कर लोगे। मगर पल भर के लिए भी न भूलो कि—

आचरः प्रथमो धर्मः।

३०-१०-५०

(१३)

राष्ट्रीय चेतना

●

आज हम अपने श्रोताओं से राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में बात चीत करना चाहते हैं, जो आज का विषय निर्धारित किया गया है।

एक युग था जब व्यक्ति अपने आपमें ही सीमित था और अपने आपको ही सब कुछ समझता था और उसके समस्त विचार और प्रयत्न अपने लिए ही होते थे, उसकी सारी तैयारियाँ अपने आपके लिए ही होती थीं।

इसके बाद व्यक्ति ने अपने आपमें से बाहर निकल कर बाहर बहना शुरु किया और परिवार के रूप में अपने को फैलाया। वह परिवार के रूप में एक इकाई को लेकर बैठ गया। जब परिवार की इकाई को लेकर बैठा तो उसका ममत्व, स्नेह और सुख-दुःख भी परिवार की सीमाओं तक फैल गया। वह पहले अपने आपके संबंध में ही विचार करता था, अब उसने परिवार के संबंध में सोचना शुरु किया। इस प्रकार मनुष्य को पारिवारिक रूप में विराट जीवन प्राप्त हुआ।

मगर धीरे-धीरे मनुष्य इस से भी आगे बढा उसने अपने आसपास के परिवारों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित किये और बाद में हजारों परिवारों को मिला कर समाज का रूप दिया गया। उस समय अपने सम्बन्ध में सोचने की जो स्थिति थी, वह परिवार के साथ में भी सोचने की हुई और फिर सारे समाज के सम्बन्ध में उसी दृष्टि से सोचा जाने लगा। मनुष्य में यह विचारशक्ति उत्पन्न हुई कि समाज के जो भी सुख-दुःख हैं, वही परिवार के और मेरे सुख-दुःख हैं। अर्थात् समाज के साथ परिवार का और परिवार के साथ मेरा सुख-दुख अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। समाज सुखी है तो परिवार सुखी है और परिवार सुखी है तो व्यक्ति सुखी है। इस रूप में अपने सुख-दुःख और परिवार के सुख-दुःख और हजारों परिवारों के सुख-दुःख आपस में जुड़ गए, एक रूप हो गये।

इस प्रकार मनुष्य ने समाज के साथ रोना और हँसना सीखा। जब समाज के साथ रोने की आवश्यकता पड़ी तो उसके आंसुओं के साथ अपने आंसू बहाने गया और समाज को खुशी हुई तो वह भी खुशी मनाने लगा—समाज की मुस्कराहट के साथ व्यक्ति भी मुस्कराने लगा। इस रूप में समाज खड़ा हो गया और समाज के विकास के साथ मानवीय भावनाओं का भी विकास आरंभ होगया।

जब तक परिवार और समाज का विकास नहीं हुआ था, व्यक्ति अपने आपमें पूरा था—जो कुछ भी हुआ था, अपने आपमें ही परिसमाप्त था। अब वह समाज एक अंग बन गया। जब समाज का अंग बन गया तो उसने अपने और अपने परिवार के सम्बन्ध में ही सोचना बन्द करके समाज के सम्बन्ध सोचना शुरु किया।

किन्तु मनुष्य का चिंतन यहीं आकर समाप्त नहीं हो गया। उस समय के चिन्तनशील मनुष्यों ने कहा—यहीं तेरे विस्तार और

विकास की समाप्ति नहीं है। तू चलते-चलते यहाँ तक आया है, किन्तु यहीं तेरे जीवन की भूमिका समाप्त नहीं हो रही है।

और तब अनेकों समाजों को मिलाकर एक राष्ट्र बनाने की कल्पना मनुष्य के सामने खड़ी थी। राष्ट्र कायम हुआ और मनुष्य ने छोटे-मोटे समाजों से निकल कर एक राष्ट्र के सम्बन्ध में सोचना शुरु किया और सारे राष्ट्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख और राष्ट्र के अभ्युदय को अपना अभ्युदय समझना शुरु किया। इस प्रकार हजारों परिवार और समाज राष्ट्र के रूप में एक हो गए।

किस प्रकार मनुष्य व्यष्टि से समष्टि के रूप की ओर अग्रसर हुआ, यह उस इतिहास की सामान्य-सी रूपरेखा है। इसके आधार पर हम आपसे आगे की बात कहना चाहते हैं।

यह जो राष्ट्रीय चेतना है, क्या कहीं बाहर से आई है? राष्ट्रीय चेतना की हवा कहीं दूसरी जगह से उड़ कर हम तक पहुँची है? या भारत की यह चेतना स्वतन्त्र चेतना रही है? अगर हम पुराने भारतवर्ष के इतिहास को देखते हैं, उस पर विचार करते हैं और अपनी पुरानी परम्पराओं को नहीं भूले हैं और पुराने इतिहास की कड़ियों को छूते रहे हैं, तो हम पाते हैं, कि भारतवर्ष ने आज नहीं दो सौ चारसौ वर्षों पहले भी नहीं, किन्तु हजारों-लाखों वर्षों पहले के युग में भी राष्ट्र के विषय में मनन और चिंतन करना शुरु कर दिया था और इस तथ्य को समझ लिया था कि राष्ट्र के अभ्युदय में व्यक्ति का अभ्युदय है और राष्ट्र के विनाश में व्यक्ति का विनाश है। हमारे पुराने आदर्शों में से एक आदर्श हमारे पास इस रूप में आया है—

संगच्छध्वं, संवदध्वं, सह वो मनांसि जानताम्।

हे मनुष्यो! एक साथ चलो, एक साथ बोलो और तुम्हारे मन एक साथ ही सोचना शुरु करें।

एकाकी दौड़ लगाने से जीवन की प्रगति पूरी नहीं हो सकती। जीवन का आनन्द अकेले में प्राप्त नहीं किया जा सकता। सब से कट कर अकेले-अकेले रहने से मानव-जीवन विकसित नहीं हो सकता। दया, क्षमा, सहानुभूति, समवेदना, करुणा आदि मानवीय उच्च भावनाओं का विकास अकेले-अकेले में नहीं हो सकता।

बड़ी बात तो यह है कि भारत के जो ईश्वरवादी दर्शन हैं, वे भी ईश्वर को विराट स्वरूप ही प्रदान करते रहे हैं। उपनिषद् में हमें एक भावना मिलती है—

एकोऽहं बहु स्याम्।

अर्थात्—मैं एक हूँ और बहुत होता हूँ।

इस रूप में भारत ने ईश्वर के विषय में भी यही चिन्तन किया है। भारत का ईश्वर भी यही सोचता है कि मैं एक हूँ और अनेक बनूँ क्योंकि आज अकेले काम नहीं चल रहा है।

हम देखते हैं, हमारे जो पड़ौसी दर्शन हैं और विचारधाराएँ हैं, जो हमारी अगल-बगल में हजारों वर्षों से बहती चली आती हैं, उन्हें भी इस संसार के कदम को एक साथ नापने का मार्ग बतलाया है। उन्होंने भी प्रयत्न किया है कि मनुष्य अपने आपमें सीमित न रहे अपने भीतर ही बंद न हो जाय, अपने से निकल कर बाहर फैलना शुरु करे और अपने को एक से छूटा कर बहुत बनाए।

भारत के दर्शन, जिनमें जैनदर्शन भी सम्मिलित हैं, मनुष्य को छोटा बनाने की हिमायत नहीं करते। अर्थात् मनुष्य समाज में है तो परिवार में और परिवार में है तो अपने आपमें बंद होने को नहीं कहते हैं। किसी भी दर्शन की यह प्रेरणा नहीं है कि मनुष्य की फैली हुई जिंदगी अपने आपमें बंद हो जाय। यही नहीं, हमारी सारी साधनाएँ विराटता की ओर ही बह रही हैं और भारत के दर्शन और धर्म मनुष्य को क्षुद्र एकत्व के दायरे में से निकाल कर उसको विराट रूप में देना चाहिए।

भारतीय दर्शन एक को अनेक बनाने की हिमायत करते हैं अथवा अनेक को एक रूप बनाने का आदर्श उपस्थित करते हैं? इस प्रश्न पर जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि भारत में ऐसे भी दर्शन हैं जो एक की बात करते हैं और ऐसे भी दर्शन हैं जो अनेक की बात करते हैं। अनेक की बात कहने वाले भी क्षुद्र पिंड की बात नहीं करते और मिट्टी के इस ढेले को महत्त्व नहीं देते। वे अनेक को अपने जीवन में घुल कर और प्रेम का रस छिड़क कर एक बना लेने की बात कहते हैं उनका कथन है कि आत्मीयता के साँचे में सारे विश्व को इस तरह ढाल लो कि सारा संसार इकाई के रूप में तबदील हो जाय।

जैसा तू अपने लिए सोचता है, वैसा ही पड़ौसी के लिए सोच, और जैसा पड़ौसी के लिए सोचता है, वैसा ही सारे संसार के लिए भी सोच।

इस प्रकार अनेकता में एकता घुल गई या नहीं? सैंकड़ों दवाइयों को कूट कर एक गोली बना ली गई तो अनेकता में एकता का रूप मिला या नहीं?

और जिन दर्शनों ने एकता को महत्त्व दिया है, उनका चिन्तन भी इसी प्रकार का है। वे कहते हैं कि एकता से अनेकता की ओर चलो, अपने सुख-दुःख की वृत्तियाँ और जीवन की धाराएँ, जो एक रूप में बह रही हैं, उन्हें अनेक बना दो।

अभिप्राय यह है कि अनेकता में एकता और एकता में अनेकता की भावनाओं में से परिवार का जन्म हुआ, समाज का जन्म हुआ और राष्ट्र का भी जन्म हुआ।

आज जो राष्ट्रीयता की बातें कर रहे हैं, मैं पूछता हूँ कि वे भारतवर्ष को क्या बनाना चाहते है? भारत की राष्ट्रीयता का क्या रूप है? भारत में जो अलग-अलग वर्ग और टुकड़े हैं, वे राष्ट्र हैं या भारत की जो समष्टि है, वह राष्ट्र है? भारत हिन्दुओं और मुसलमानों के रूप में रहता है। हिन्दुओं में जैन भी हैं और वैष्णव भी हैं और मुसलमानों में शिया भी हैं और सुन्नी भी हैं। इस रूप में भारतीय राष्ट्र के भी अनेक रूप हैं। तो फिर भारत की राष्ट्रीयता हिन्दुओं के रूप में है या मुसलमानों के रूप में है? भारत तो सदियों से अनेक जातियों का एक राष्ट्र बना हुआ है। यहाँ अनेक धाराएँ आई हैं और भारत के मैदानों में बहती रही हैं। हमारी पाचनशक्ति प्रबल रही है और उसने यह काम किया कि जो भी दुखी आए और जिनके कदम कहीं नहीं जमे, उनका भारत ने स्वागत किया। एक दिन हमारे यहाँ पारसी आए और रोटियों की तलाश में आए। और भारत-माता की गोद के बालक बन गए। भारत ने उनको भी स्थान दिया। वे भी भारत-माता की गोद में बच्चों की तरह फले-फूले।

और यह सब तो आज की पीढ़ियाँ हैं। इनकी बात छोड़ दीजिए। जो शक और हूण आदि भारत में आक्रमणकारी बन कर

आए और भारत को रौंदने के लिए आए, वे क्या रौंद कर चले गए ? नहीं। आपका इतिहास में विश्वास है तो आपको मानना पड़ेगा कि भारत के आध्यात्मिक चिन्तन और राष्ट्रीय भाव की बदौलत उन सब को घुला कर अपने अन्दर मिला लिया गया। वे शक थे तो कोई बात नहीं और हूण थे तो भी चिंता नहीं। और आज वे सब यहीं मौजूद हैं। क्या आप बता सकते हैं कि वे कौन हैं ? आज के भारतीयों में कौन शक और कौन हूण हैं ?

और जो ग्रीक आए थे वे भी कहाँ हैं ? वे भी हमारे अन्दर घुलमिल कर एकमेक हो गए हैं।

भारत तो यह बहती हुई नदी है कि जो भी नाले उसमें आकर मिले उसने अपने ही रूप में सब को ढाल लिया। गंगा में जमुना मिली तो वह भी उसी रूप में हो गई और आपके शहर का गंदा नाला मिल गया तो वह भी कुछ दूर चलते ही गंगा बन गया। भारत की संस्कृति गंगा की धारा है कि जो भी उसमें पड़ा, गंगा बन गया।

तो जब तक हमारा चिन्तन इस रूप में रहा और हमारे हाजमे में शक्ति रही, हम पचाते रहे और और जीवन में घुलाते रहे और एक रूप देते रहे। किन्तु दुर्भाग्य से जब हमारा चिन्तन गड़बड़ में पड़ गया और हमारा हाजमा दुरुस्त नहीं रहा और गंगा की धारा में वह तेज शक्ति न रह गई, तब जो विदेशी आए वे अलग पड़े रहे। उनका हाज़मा बढ़ता गया और हमारा हाजमा दिनों दिन कम होता गया। विदेशियों को अपने में विलीन कर लेने की हमारी ताकत खत्म हो गई। हमने उनसे नफ़रत की, उन्हें गले से नहीं लगाया। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारे महान् देश का अंग-भंग हो

गया। भारत, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में दो टुकड़ों में बंट गया।

इस दर्दनाक इतिहास से हमें शिक्षा लेनी चाहिए और भारत की राष्ट्रीयता के स्वरूप को सावधानी के साथ निश्चित करना चाहिए। अगर हम उदार भाव से राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित करेंगे और भारत-माता के प्रत्येक बालक को राष्ट्रीयता का अधिकार देने में कंजूसी न करेंगे और इस क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के ज़हर को प्रवेश नहीं करने देंगे तो हम उन महान् आत्माओं के प्रति, जिन्होंने भारत का सही दिशा में नेतृत्व किया है, वफादारी जाहिर करेंगे और श्रद्धाञ्जलि अर्पित करेंगे। और यदि हम गलत राह पर चले गए तो वह दिन दूर नहीं कि यह खंडित देश और भी अनेक खंडों में बंट जाएगा।

मैं उन गांवों में भ्रमण करता रहा हूँ, जहाँ अधिकांश बस्ती जाटों की है। वे सोई हुई चिनगारियां जाटिस्तान बनाने की मांग कर रही हैं। और उन्हीं गाँवों मे सिख भी रहते है और उनमें से कुछ को छोड़ कर सारे के सारे आवाज़ बुलन्द कर रहे हैं कि सिक्खिस्तान बनाना चाहिए।

यही हाल रहा तो भारत की राष्ट्रीयता किस प्रकार पनप सकेगी? जाटिस्तान, सिक्खिस्तान और द्राविडिस्तान आदि की जो भावनाएँ चल रही हैं, वे क्या देश को पनपने देंगी? क्या इस प्रकार बंट-बंट कर और कट-कट कर हम कभी पनप सकेंगे? कट-कट कर पनप सकते होते तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ही पनप जाते। मगर मालूम तो ऐसा होता है कि बंटवारे के बाद दोनों में से कोई भी सुखी नहीं हैं।

अभिप्राय यह है कि भारत का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत उदार और इस कारण उज्जवल रहा है और आज हमें उस इतिहास से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है।

आज लाखों आदमी, मुसीबतों के पहाड़ लेकर, भारत में आये हैं। वे सब आपके भाई हैं। आपकी और उनकी संस्कृति एक है। किन्तु आज भी वे बम्बई जैसे शहरों में, बुरी तरह, सड़कों पर सोकर अपने दिन बिता रहे हैं। उन्हें घास के तिनके भी सिर पर छाने को नहीं मिले हैं। रोटी का सवाल तो विकट है ही। आपने सुना होगा कि अमुक रेल के नीचे आकर कट कर मर गया और चिट्ठी में लिख गया कि मैं अपने परिवार के लिए खाना मुहय्या न कर सका और इसलिए मर रहा हूँ।

मैं समझता हूँ, यह वक्त आपकी परीक्षा का है। ऐसे अवसर पर ही किसी देश के निवासियों की राष्ट्रीय भावनाओं की परीक्षा होती है। हम जानना चाहते हैं कि जिन्हें अपनी सामाजिक और धार्मिक भावनाओं का अहंकार है और जो सोने के महलों में बैठे हैं और जिनके यहाँ कुत्ते मिठाइयाँ खा सकते हैं, और मिठाइयां नालियों में बहाई जा सकती हैं, वे लोग उन अतिथियों के प्रति जो अपने राष्ट्र प्रेम और संस्कृति प्रेम के कारण यहाँ आए हैं, क्या करना चाहते हैं? उनके साथ कैसा सलूक करते हैं? प्रत्येक देशवासी को अपने कलेजे पर हाथ रख कर सोचना है कि वह क्या कर रहा है?

जो मुसलमान भाई यहाँ से पाकिस्तान पहुँचे हैं, उनकी भी वहाँ बुरी हालत है। उनमें से बहुत-से लौट कर यहाँ आ जाना चाहते हैं। वहाँ उनकी रोटी का सवाल हल नहीं हो रहा है।

मैं सोचता हूं, इस बंटवारे के कारण हिन्दुस्तान और पाकिस्तान कितनी विकट समस्याओं में उलझ गए हैं। किन्तु जो होना था, हो गया, अब और बंटवारे की क्या बात है? क्या हिन्दू और सिक्ख एक साथ नहीं बैठ सकते? क्या हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ नहीं रह सकते? हिन्दुओं और जैनों में भिन्नता का भाव क्यों पैदा हो रहा है? जैनों के मन में यह बात आ रही है कि जैन, जैन हैं—हिन्दू नहीं हैं, और हिन्दुओं के मन में भी यही बात घुसी है। तो क्या हम समष्टि के रूप में नहीं सोच सकते? क्या हममें इकाई के रूप में सोचने, समझने और बातें करने की शक्ति नहीं रह गई है? अगर हम इन्हीं विचारों में उलझे रहे तो भारत की राष्ट्रीयता किस प्रकार कायम रह सकेगी?

आप देखते हैं कि संसार किस ओर कदम बढ़ाये जा रहा है? चारों ओर एक आग जल रही है। अशान्ति की आग सुलग रही है। उसमें कभी कोरिया जल उठता है, कभी इंडोनेशिया और कभी चीन जलने लगता है। ऐसी स्थिति में, जिस देश में पार्थक्य की भावनाएँ जोर पकड़ती जा रही हों, वह देश कैसे सुरक्षित रह सकता है? सारी दुनिया में भूकम्प आवे तो क्या भारत सुरक्षित बच जायगा? आज सारा संसार एक इकाई का रूप ग्रहण करता जा रहा है। कोरिया में कोई गड़बड़ होती है तो सारा संसार चौकन्ना हो उठता है। आपके खाने-पीने पर उसका असर होता है, व्यापार पर असर पड़ता है और आपके तमाम व्यवहारों पर उसका असर होता है। दुनिया के किसी भी कोने में युद्ध सुलगता है तो आप उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते।

ऐसी स्थिति में अगर आप भारत को जिन्दा रखना चाहते हैं और संसार के मैदान में अपकी राष्ट्रीयता कायम रखना चाहते हैं

तो आपको तमाम इकाइयों को मिला कर एक रूपता लानी होगी और अलग-अलग जातियों के रूप में सोचना बंद कर देना होगा। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अमुक-अमुक वर्ग के रूप में सोचना बंद किये बिना भी आपका त्राण नहीं है। मजदूर, व्यापारी, किसान आदि के जो विभिन्न वर्ग हैं, उनके रूप में सोचने पर भी आप नहीं पनप सकते हैं।

इसके लिए यह आवश्यक है कि जिनको रोटी मिल रही है, उन्हें मिलती रहे और जिन्हें नहीं मिल रही है, उनके लिए रोटी की समुचित व्यवस्था की जाय। एक तरफ महल है और दूसरी तरफ झौंपड़ी है। आप विचार करें कि झौंपड़ी को महल के रूप में तबदील करने से झौंपड़ी सुरक्षित रहेगी या महल को झौंपड़ी बनाने से झौंपड़ी सुरक्षित रहेगी? मैं समझता हूँ, जब तक झौंपड़ी महल के रूप में तबदील न होगी तब तक देश में शान्ति नहीं होनी है।

किसी ने दस अंधों को निमंत्रण दिया और भोजन केवल एक के लिए बनाया। जब दसों अंधे आ कर बैठ गये तो एक थाली में भोजन लाया गया। एक अंधे के सामने थाली रक्खी गई। उससे पूछा—भोजन आ गया? अंधे ने टटोल कर कहा—हाँ, आ गया। और इसके बाद वही थाली दूसरे के सामने रख दी गई और फिर तीसरे, चौथे, और बारी-बारी से सब के सामने रख दी गई। इसके बाद वह उठाली गई और चौके में रख दी गई। तब मालिक ने कहा—अच्छा, अब जीमना शुरु करो।

अंधों ने थाली की तरफ हाथ बढाया तो थाली गायब। इधर-उधर टटोला, मगर थाली का कहीं पता न लगा। जब थाली न मिली तो एक अंधा दूसरे पर अविश्वास करने लगा। सोचने लगा—

अभी तो थाली टटोली थी और अभी-अभी कहाँ नदारत हो गई ? नतीजा यह हुआ कि वे आपस में लड़ने लगे। मुक्के बाजी होने लगी तो घर मालिक ने कहा—तुम सब नालायक हो, निकल जाओ यहाँ से।

तो क्या देश की समस्या भी इसी रूप में हल होनी है ? एक से छीना और दूसरे के सामने रख दिया और दूसरे से छीन कर तीसरे को दे दिया। समस्या का यह स्थायी हल नहीं है। अंधों की थालियों की हेरफेर से भूख बुझने वाली नहीं है।

संभव है, आपके और मेरे विचारों में भेद हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि आज देश गरीब है और चारों ओर हाहाकार है। हजारों-लाखों आदमियों को भरपेट भोजन नहीं मिल रहा है। वे सुबह उठते हैं और दिन भर घूमने के बाद रात्रि में भूखे सो जाते हैं। हजारों-लाखों बहिनों को तन ढाँकने को वस्त्र नहीं है। बच्चों को शिक्षा और औषध नहीं मिल रही है। लोग एक किनारे से दूसरे किनारे तक कुत्तों की तरह भटकते फिरते हैं। यही हालत कायम रहती है तो देश की समस्या हल नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक देशवासी को एक के रूप में सोचना बंद करना होगा और समष्टि के रूप में सोचना शुरु करना होगा।

एक युग था जब राजा, राजा था और प्रजा, प्रजा थी। हजारों-लाखों वर्षों तक इस प्रकार की हुकूमत रही है कि जिसमें राजा, राजा के रूप में और प्रजा, प्रजा के रूप में रही है। किन्तु अब भारत में प्रजातन्त्र की लहर आई है। यों तो भगवान् महावीर के युग में भी प्रजातन्त्र की प्रणाली थी और भगवान् महावीर स्वयं वैशाली के प्रजातन्त्र राज्य के एक राजकुमार थे, किन्तु भारत में जब

साम्राज्यवाद का रूप आया तो प्रजातन्त्र-राज्य मिट-मिट कर साम्राज्यों में शरीक कर लिये गये। मगर अब फिर प्रजातन्त्र आया है, यों कहना चाहिए कि अभी उसकी नींव पड़ी है।

जब तक साम्राज्यवाद रहा, तब तक राजा मन चाही हुकूमत करता रहा और प्रजा को बोलने का अधिकार नहीं रहा। मगर अब वह बात नहीं है। प्रजातन्त्र का मतलब है, शासक और शासित के बीच में किसी प्रकार की दीवार न रहना। प्रजातन्त्र भी एक प्रकार का शासन है और प्रजा की शान्ति और सुविधा के लिए किसी न किसी प्रकार का शासन अनिवार्य है। बिना शासन के क्षण भर भी काम नहीं चल सकता। और जब शासन होगा तो उसका संचालन करने के लिए शासक भी होंगे। मगर प्रजातन्त्र की विशिष्टता इस बात में है कि शासक प्रजा की इच्छा के अनुसार अर्थात् प्रजा के द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों के द्वारा बनाये हुए विधान और कानून के अनुसार ही शासन करते हैं। इस रूप में आज जो सरकार है वह भी प्रजा है और प्रजा तो प्रजा है ही। वर्त्तमान में राष्ट्रपति भी प्रजा है और नेहरू तथा पटेल भी प्रजा है। इन पर कोई अलग लेबिल नहीं लग गया है। यह बात नहीं है कि वे राजा हो गये हैं और प्रजा नहीं रहे हैं।

किसी को किसी के विवाह में जाना होता है तो घर के सारे लोग नहीं जाते हैं। किन्तु घर का एक व्यक्ति घर की तरफ से चला जाता है और यह समझ लिया जाता है कि सारा ही घर विवाह में शामिल है। इसी प्रकार हुकूमत करने के लिए कुछ व्यक्तियों को भेज दिया जाता है और उन व्यक्तियों को ही सरकार कहते हैं। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति हुकूमत नहीं करता है। और करे भी तो किस पर करे? अतएव प्रजा योग्य व्यक्तियों को नियुक्त कर देती है और फिर उनकी

हुकूमत में रहती है। इस प्रकार शासक भी प्रजा है और शासित भी प्रजा ही है।

किसी युग में तो तोपों से फैसला होता रहा है, किन्तु आज बड़ी से बड़ी हुकूमत के फैसले भी कागज के पुर्जों से होते हैं। जो आगे पहुंचे हैं, आपके कागज के पुर्जों के बल पर तो पहुँचे हैं। और जब वे आपको पसंद नहीं होंगे, तब भी आपके कागज के पुर्जे कुर्सी पर से हटा देंगे। अतएव आज की प्रजा और सरकार अलग-अलग नहीं है। यह नहीं है कि प्रजा के हाथ कुछ और हैं और सरकार के हाथ कुछ और हैं। सरकार को प्रजा के हित में और प्रजा को सरकार के हित में सोचना है। एक दूसरे के सहयोग से ही काम चला सकता है। हाथ धोते हैं तो एक अकेला हाथ अपने आपको नहीं धो सकता। दोनों हाथ आपस में मिलेंगे और दोनों धुल सकेंगे। इसी प्रकार सरकार की समस्या प्रजा को और प्रजा की समस्या सरकार को हल करनी है। समझ रखना चाहिए कि अब दोनों अलग नहीं हैं प्रजा और सरकार दोनों एक हैं।

वर्त्तमान में जो सरकार है, उसकी तरह-तरह से आलोचना की जाती है। शासन में आलोचना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकार की आलोचना करने से सरकार बहुत बार गलत रास्ता अख्तियार करने से बच जाती है। किन्तु वह आलोचना सदुद्देश्य से प्रेरित होनी चाहिए और निःस्वार्थभाव से, केवल प्रजा के हित और राष्ट्र के कल्याण से की जानी चाहिए। आलोचना करने वालों को भूल नहीं जाना चाहिए कि सरकार के सामने भी कठिनाइयाँ हैं और बहुत बड़ी-बड़ी कठिनाइयां हैं। आपको सोचना चाहिए कि अगर मैं उस जगह होता तो क्या करता? मैं उस जगह पहुंच जाता तो मेरी

क्या परिस्थिति होती ? घर में चौधरीपन की बातें बघार लेना सरल है, किन्तु जब पंचायत में चौधरीपन का काम करना पड़ता है, तो उसे भी संभालना कठिन हो जाता है।

एक बात और है। आज भारत का नवनिर्माण हो रहा है किन्तु वह पाश्चात्य विचारधारा से नहीं हो सकता। पश्चिम की संस्कृति लेकर रहन-सहन लेकर और पाश्चात्य जगत् की आग लेकर क्या भारत का महल खड़ा किया जा सकता है ? सदियों से भारत पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में रहा है और उनके द्वारा शासित होता रहा है। पाश्चात्य सस्कार भारतीयों के मन में घर कर गये हैं। मगर भारत की समस्याएँ उनसे हल नहीं हो सकतीं। भारत की अपनी संस्कृति है, अपने आदर्श हैं और अपने सोचने-विचारने के तरीके हैं। उन्हीं उज्ज्वल विचारों और पुराने आदर्शों के आधार पर हम भारत का निर्माण कर सकते हैं। पाश्चात्य संस्कृति के भरोसे भारत का निर्माण करना चाहेंगे तो नहीं होगा, क्योंकि भारत के हृदय में वह चीज ही नहीं है। जो चीज भीतर में नहीं है, वह ऊपर से डाली जायगी तो पनप नहीं सकेगी। हम जो बना सकते हैं, वही बना सकते हैं और जो नहीं बना सकते, उसे अपनी अधिक से अधिक ताकत खर्च करके भी नहीं बना सकते।

क्या भारत के अन्दर एक दूसरे के सुख-दुःख को समझने की कला नहीं है ? क्या भारत के पास अपनी रोटी तलाश करने का कोई ढग नहीं रहा है ? क्या भारत में अपना मकान खड़ा करने की कला नहीं है ? क्या हम भाई को भाई समझने की कला बाहर से लाएँगे ? अजी नहीं, यह सब कलाएँ तो हमें लाखों वर्षों से प्राप्त हैं और उस समय से प्राप्त हैं, जब कि शेष संसार जंगलियों का जीवन बिता रहा था।

इसी भारत में एक समय उच्च श्रेणी की राष्ट्रीयता था, जब कि सम्राट् विक्रमादित्य यहा मौजूद थे और जिन्हें हुए दो हजार वर्ष बीत चुके हैं। जब सम्राट् विक्रमादित्य दरबार में बैठते थे तो सोने के सिंहासन पर हीरे जवाहरात के मुकुट पहन कर बैठते थे और ऐसे मालूम होते थे, जैसे कोई देवता या इन्द्र स्वर्ग से उतर कर आया हो। किन्तु वही सम्राट् जब व्यक्तिगत जीवन में होते तो ससार भर के दूत उन्हें देख कर हैरान हो जाते थे। उस समय वे एक साधारण चटाई पर बैठते थे। उनके सामने प्रश्न आया कि आप तो भारत के सम्राट् हैं और सोने के सिंहासन पर बैठने वाले हैं, फिर इस साधारण-सी चटाई पर क्यों बैठे हैं? तब उन्होंने कहा—सोने का सिंहासन प्रजा का सिंहासन है और यह चटाई मेरा व्यक्तिगत आसन है। जब प्रजा-कीय जीवन गुजारता हूँ तब सोने के सिंहासन पर बैठता हूँ और जब पारिवारिक जीवन में होता हूँ तो चटाई का व्यवहार करता हूँ। मेरे निजी जीवन में, मेरे भाग्य में यही चटाई है।

चन्द्रगुप्त के काल में चाणक्य भी, जो भारत का प्रधान मंत्री था, साधारण-सी झोंपड़ी में रहता था और उसमें मामूली-सी चटाई बिछा कर बैठा करता था। वह उसी झोंपड़ी से साम्राज्य का संचालन भी करता रहा और एक पाठशाला के अध्यापक के रूप में देश के नौनिहालों को ज्ञान भी देता रहा।

भारत की राष्ट्रीयता का यह उज्जवल स्वरूप है। यहां व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं दिया गया बल्कि प्रजा की समष्टि को महत्त्व दिया गया था।

किन्तु आज सदियों की पराधीनता के कारण प्रजा के मानस में राष्ट्रीयता की भावना धुंधली पड़ गई है। आज का व्यापारी क्या

सोचता है ? वह सोचता है—आज दस हजार रोकड़ में जमा हैं तो कल एक हजार की वृद्धि और करनी हैं। वह नहीं सोचता कि पहले मनुष्य अपने लिए कमाता था, एक युग आया कि वह अपने परिवार के लिए कमाता रहा और फिर समाज के लिए कमाता रहा। किन्तु आज व्यापारी जो कमाई कर रहा है, जिसे वह अपनी निजी कमाई समझता है, वह तो वास्तव में राष्ट्र की कमाई है। मुझे उससे चिपक नही जाना चाहिए। आज व्यापारी को यही तथ्य समझना है और भारत के कृषकवर्ग को तथा दूसरे वर्गों को भी यही सोचना है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति आज राष्ट्र के रूप में लानी है और राष्ट्र में जब तमाम वर्गों की शक्तियां पूंजीभूत हो जाएँगी तब ही देश का अभ्युदय होगा।

कौन राष्ट्र बलवान् है ? जिस राष्ट्र की प्रजा बलवान् है। कौन देश ऊँचा है ? जिसकी प्रजा ऊँची है।

हिन्दुस्तान जमीन को नहीं कहते हैं। जमीन तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक है। राष्ट्र का वास्तविक अर्थ उस भूमि पर रहने वाली प्रजा है। अतएव प्रजा बलवान् है तो राष्ट्र भी बलवान् बनेगा यदि प्रजा स्वयं दुर्बल है और अपनी रोटी के लिए दूसरों का मुंह ताकती है तो उसका राष्ट्र कभी ऊँचा नहीं उठ सकता।

देश क्या है ? और राष्ट्र क्या है ? इस सम्बन्ध में तो सारी जिंदगी सोचना होगा। एक दिन और एक घड़ी का सोचा हुआ काम नहीं आता है। जैसे मनुष्य सोते और जागते अपने व्यक्तित्व को लिए फिरता है और ५०–६० वर्षों के जीवन में भी अपना व्यक्तित्व नहीं टूटता है, इसी प्रकार राष्ट्र में भी जीवन इस प्रकार घुल-मिल

जाना चाहिए कि उसका सम्बन्ध विच्छिन्न न हो सके और जब यह बात होगी तो देश का कल्याण होगा।

एक भाई ने मुझे याद दिलाया है कि पश्चिम के जितने भी देश हैं, वे किसी को देवता और किसी को संरक्षक नजर आते हैं। इस सम्बन्ध में कोई कुछ भी सोचता हो, मेरा विचार तो यह है कि जब भी कोई पश्चिमी देश आपका सहायक या संरक्षक बन कर आता है तो वह कभी निःस्वार्थ भाव से नहीं आता, वह आता है तो अपने निजी स्वार्थ से ही आता है। एक उदाहरण लीजिए। कश्मीर का प्रश्न आता है तो उसका फैसला करने में इतना समय लगाया जाता है और उसे टालने की ही निरन्तर कोशिश की जाती है, किन्तु कोरिया का प्रश्न आता है तो आनन-फानन फैसला किया जाता है और फैसला ही नहीं किया जाता, उसे बचाने के नाम पर अपनी सारी शक्तियाँ लेकर वे कोरिया के मैदान में जूझ पड़ते हैं। क्या आप सोच सकते हैं कि अमेरीका ने परोपकार के लिए कोरिया के युद्ध क्षेत्र में अपनी सेना कटवाई है? नहीं अमेरिका इतना भोला नहीं है।

आशय यह है कि कोई भी पश्चिमी देश आपकी सहायता के लिए आने वाला नहीं है। वह आएगा तो अपने स्वार्थ के लिए आएगा। और अपना उल्लू सीधा करने के लिए आएगा। अतएव देशवासियों को मै चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे अपने उद्धार के लिए परमुखापेक्षी न बनें। दूसरों के भरोसे हमारे देश की गाड़ी चलने वाली नहीं है। दूसरे चलाएँगे तो उस रास्ते पर नहीं चलाएँगे, जिस पर हम चलना चाहते हैं और जिस पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है। दूसरों का मुंह ताकना ही गुलामी है। किसी स्वाधीन देश को इस प्रकार की गुलामी शोभा नहीं देती।

सच पूछो तो भारत को किसी का मुँह ताकने की आवश्यकता ही नहीं है। भारत स्वयं विशाल देश है और उसके पास प्रभूत साधन-सामग्री हैं। किसी देश को उन्नत और आत्मनिर्भर बनाने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता है, वह सब यहीं पैदा की जा सकती हैं केवल समुचित व्यवस्था की आवश्यकता है। अगर भारत का प्रत्येक नागरिक अपने देश का ध्यान रखे और देशहित को अपने जीवन में प्रथम स्थान दे तो यह देश निःसन्देह शीघ्र ही उच्च स्थिति पर पहुँच सकता है और देश के कल्याण के साथ-साथ आप सब का भी कल्याण हो सकता है।

१५-१०-५०

(१४)

जैनसंस्कृति का संदेश

●

मैं एक जैन भिक्षु हूं। अतएव आपका यह आशा रखना और मॉंग करना कि मैं जैन धर्म और जैन संस्कृति का आपको परिचय दूं, स्वाभाविक ही है। किन्तु आज तो मैं आपके साथ प्रारंभिक और छोटा-सा परिचय प्राप्त करने के लिए यहां आया हूँ। जैनधर्म, जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक—दोनों पहलुओं पर परिपूर्ण प्रकाश डालना है और जैनसंस्कृति का दायरा भी बहुत विस्तृत है। अतएव थोड़े से समय में इन विषयों पर यथेष्ट प्रकाश डालना संभव नहीं है। फिर भी जिन प्रश्नों का, हमारे जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, उन पर जैनधर्म का क्या कहना है, ऐसी कुछ छुटपुट बातों को, मैं स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

जीवन के सम्बन्ध में जैनधर्म क्या कहता है? जैनसंस्कृति की क्या कोई अलग बात है? इन प्रश्नों के उत्तर में, जैनशास्त्रों के चिन्तन और मनन के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका कोई निराला संदेश नहीं है। जो मनुष्य जीवन का चिरन्तन संदेश है वही जैनसंस्कृति का संदेश है।

मनुष्य-जीवन का निर्माण किस प्रकार किया जाय ? हमारे भीतर मनुष्य का सोया हुआ जो भाव है, वह किस प्रकार जागृत हो ? और हमारे अन्तरतर में छिपी हुई अहिंसा और सत्य की दैविक शक्तियाँ किस प्रकार प्रकट हों ? इन सब तथ्यों को जान लेना जीवन-कला की आत्मा को पहचान लेना है। जैनधर्म जीवन की इसी कला का संदेश लेकर आया है। धर्म के पीछे कोई भी विशेषण क्यों न लगा हो, यदि उसके पास कोई अनूठा एवं मंगल मय आदर्श है, मनुष्य की सोई आत्मा को जगाने का संदेश है, अथवा द्वन्द्वभाव को दूर करके सोये हुए ईश्वर भाव को जागृत कर देने की प्रेरणा है, तो मैं कहूँगा कि वह वास्तव में धर्म है। इस प्रकार की प्रेरणा यदि किसी धर्म में नहीं है और वह हमारे जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट-सी कल्पना या विचार नहीं दे सकता, तो दार्शनिक क्षेत्र में उसका स्थान कितना ही ऊँचा क्यों न रहा हो, मैं उसे जनकल्याण की दृष्टि से स्वीकार नहीं करूँगा। उपयोगी धर्म तो मानवता की बातें कहेगा।

आर्यावर्त के इतिहास के पन्ने पलटेंगे तो आपको संस्कृति की विभिन्न धाराएँ बहती दिखलाई देंगी। स्मरण रहे, वह धाराएँ, धाराएँ हैं, दीवारें नहीं। दो पड़ौसी जैसे आपस में एक दूसरे से प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार पड़ौसी धर्म या संस्कृतियाँ भी एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं। अलबत्ता, एक की दूसरी के द्वारा रक्षा और पोषण का कार्य होना चाहिए। भारतवर्ष के मुख्य धर्म तीन थे—जैन बौद्ध और वैदिक धर्म। इन तीनों के जो भी संदेश हैं, वे आपको मिलते-जुलते से मिलेंगे। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होगा कि जीवन की समस्याओं को हल करने में वे एक दूसरे के पोषक है। कहा है:—

"रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव"

—महिम्न स्तोत्र (महाकवि पुष्पदन्त)

भूमंडल पर बहने वाली संसार की नदियों के बहाव के मार्ग अलग-अलग हैं और हमें अलग-अलग रूप में बहती दिखाई दे रही हैं, किन्तु उन सब की विश्रान्ति कहां है ? सभी समुद्र की ओर बह रही हैं, समुद्र से भिन्न किसी अन्य स्थान की ओर नहीं ?

इसलिए मैं कहता हूँ कि संसार के जितने भी धर्म हैं, वे सब हमें यदि महान् शक्ति की ओर ले जा रहे हैं और जीवन के ईश्वरीय भाव की ओर ले जा रहे हैं, तो वे हमारे आदर की वस्तु हैं। यदि वे हमें महाशक्ति की ओर नहीं ले जा रहे हैं, बल्कि किसी विरुद्ध दिशा में भटका रहे हैं और जीवन को महत्त्वपूर्ण संदेश नहीं दे रहे हैं तो हमें उनके विषय में सोचना होगा।

जैनसंस्कृति क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'जैन' शब्द कैसे बना है ? आप विद्यार्थी हैं, अतः विद्यार्थी की भाषा में ही मैं आपसे बातें करूँगा। 'जैन' शब्द लिखने के लिए 'जन' शब्द में दो मात्राएँ लगा देनी होती हैं। इन मात्राओं का अभिप्राय क्या है ? अपनी वासनाओं और विकारों को जीतना और पशुत्वभाव एवं राक्षसी भाव को कुचल-कुचल कर बाहर निकाल देना तथा अपनी आत्मा पर अधिकार रखना। प्रायः हम देखते हैं कि मनुष्य का अपनी आत्मा पर अधिकार नहीं रहता। जब मनुष्य की आत्मा पर अपना अधिकार नहीं रहता और इन्द्रियों का नियंत्रण हो जाता है तो मनुष्य अपनी बातें भूल जाता है और विकारों

की ओर झुक जात है। वह इन्द्रियों का आदेश सुनने लगता है और आत्मा की आवाज अनसुनी कर देता है। ऐसी स्थिति में आसपास का भोग-विलासमय वातावरण मनुष्य को जकड़ लेता है। फल यह होता है कि आत्मा की शक्तियाँ दबती चली जाती हैं और भोग-विलास के वातावरण का स्वर जीवन में प्रधान बनता जाता है। अतएव जैनधर्म प्रधानतया एक ही बात सिखलाता है कि तुम अपने शरीर, मन, परिवार या राष्ट्र में, जहाँ कहीं भी वासना है, विकार है, बुराइयाँ हैं, उनसे लड़ो और डट कर उनका मुकाबिला करो। जिसने सम्पूर्ण विकारों पर विजय प्राप्त कर ली वह 'जिन' है, विजेता है। जो राग-द्वेष आदि आन्तरिक रिपुओं को पूरी तरह पछाड़ चुका है, वह 'जिन' है और उसके मार्ग पर चलने वाले 'जैन' कहलाते हैं।

इस प्रकार जब 'जन' के विचार और आचार पवित्र बन जाते हैं, अर्थात् उसके जीवन में विचार और आचार की दो मात्राएँ बढ़ जाती हैं, तब वह 'जन' से जैन बनना प्रारंभ करता है। इस प्रकार पवित्र विचार और प्रशस्त आचार जैनत्व के प्रतीक हैं।

जैनसंस्कृति की महत्त्वपूर्ण भावनाएँ दो रूप में जनता के सामने आई हैं—अनेकान्तवाद के रूप में और अहिंसावाद के रूप में। अहिंसावाद को आप जल्दी समझ लेते हैं किन्तु अनेकान्तवाद को समझने में कुछ देर लगती है। जो लोग अपने आपको जन्म जात जैन मानते हैं, उनका भी इस युग में, अनेकान्त के सम्बन्ध में कोई खास चिंतन-मनन नहीं हो सका है। लेकिन अनेकान्त को समझ लेना आवश्यक है। अनेकान्त को भली-भाँति समझे और व्यवहार में लाये बिना अहिंसा भी अधूरी-लंगड़ी ही रहेगी। आज जैनधर्म की अहिंसा में अनेकान्त के दृष्टिकोण का सम्मिश्रण होने के कारण ही वह लंगड़ी बन गई है। रोशनी देते हुए भी वह हीन मालूम होती

है। थोड़े शब्दों में कहा जा सकता है कि अहिंसा के दो रूप हैं—विचारों की अहिंसा और आचार की अहिंसा, अहिंसावाद है। हमारे मन में जब तक विचार और आचार के बीच एक गहरे सामंजस्य की प्रेरणा न होगी और मन मे समता का भाव उदित नहीं होगा, आचार की अहिंसा हमें महत्त्वपूर्ण संदेश नहीं दे सकती। पहले विचारों का क्षेत्र साफ होना चाहिए। उसके बाद ही आचार का क्षेत्र साफ हो सकता है। कोई मनुष्य अपने विचारों का विश्लेषण न करे, उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश न करे और विचारों में दुनिया भर का कूड़ा-कर्कट भर रक्खे और फिर जीवन-व्यवहार में अहिंसा को लेकर चले तो वह अहिंसा क्या रूप ग्रहण करेगी? निस्सन्देह उसका रूप शुद्ध और परिपूर्ण नहीं होगा। मैं जिस अनेकान्तवाद के संबंध में कह रहा हूँ, वह विचारों की अहिंसा है और आचरण की अहिंसा से पहले विचार क्षेत्र में उसका आ जाना अत्यावश्यक हैं।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर उस युग में जब आये तो एक ओर मनुष्य अपने स्वार्थों के लिए, अपनी वासनाओं के लिए, सघर्ष कर रहा था, दुनिया में तलवारें चमक रही थीं, जनता का संहार हो रहा था और दूसरी ओर धर्म भी आपस में लड़ रहे थे। जो धर्म संसार की आग बुझाने के लिए चले थे, वह पानी के बदले स्वयं ही आग उगल रहे थे। जो जनता का संताप मिटाने आये थे, वे उलटा संताप बढ़ा रहे थे और जो संघर्ष दूर करने का दम भर कर आये थे, वे स्वयं संघर्ष में उलझ गये थे। एक दूसरे को समझाने में दुर्बल साबित हो रहे थे। इस प्रकार भगवान् महावीर के सामने दोहरा कर्त्तव्य उपस्थित था। उन्हें रोगी और वैद्य—दोनों की बीमारी दूर करनी थी। अर्थात् जनसमाज के साथ ही साथ धर्मों को भी स्वास्थ्य प्रदान करना था। भगवान् ने उस बीमारी का निदान समझ कर कहा—अनेकान्त ही सब बीमारियों की अमोघ औषधि

है। उसे नहीं समझोगे तो संसार को संदेश नहीं दे सकोगे। अनेकान्तवाद का आश्रय लिये बिना संसार शन्ति नहीं पा सकता और धर्म संसार को शान्ति नहीं दे सकते।

अनेकान्त की विरोधी भावना एकान्तवाद है। अपने सोचे और समझे हुए किसी विचार के प्रति आग्रहशील होना, यह मानना कि मेरा विचार ही सत्य है और संसार के समस्त विचार असत्य और तुच्छ हैं, एकान्तवाद का परिणाम है। जब कोई भी धर्म इस प्रकार एकनिष्ठ आग्रहशील हो जाता है और अपने आपमें पूर्णता का दावा करता है तो अहंकार की आग सुलगने लगती है। वह आग अपने तक सीमित नहीं रहती। जहाँ उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी मिला कि वह लड़ने-मरने को तैयार हुआ। इससे संघर्ष का जन्म होता है। इसी संघर्ष का उग्र रूप हम वर्त्तमान में देखते हैं, जिसकी बदौलत आज हजारों-लाखों हिन्दू और मुसलमान मुसीबतों के पहाड़ अपने सिरों पर उठाये हुए हैं। एकान्तवाद जन्य असहिष्णुता की एकांगी विचार-धारा ने ऐसे गहरे घाव किये हैं जो लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं भर पा रहे हैं और एक विकट समस्या राष्ट्र के सामने मुँह फैलाये खड़ी है। इसके मूल मे देखेंगे तो विचारों की टक्कर ही दिखाई देगी। हमने एक दुसरे के प्रेम के भाव को, एक दूसरे के दृष्टिकोण को अपने दृष्टिकोण में स्थान नहीं दिया है। उस युग में भी इसी प्रकार के झगड़े और संघर्ष थे। तब महावीर ने कहा—मतभेद हो सकता है। तेरा कोई दृष्टिकोण हो सकता है और उसका कोई दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है। पर दृष्टिकोण की विभिन्नता को झगड़े की जड़ मत बनाओ। मतभेद होना और चीज है, विरोध होना दूसरी बात है और वैर होना तीसरी बात है। भाई-भाई में भी पहनने और खाने के सम्बन्ध में मतभेद होता है, मगर इसमें वैर-विरोध या लड़ाई-झगड़े

का क्या कारण है ? मुझको यह चीज पसंद है और उसको वह वस्तु रुचिकर है, तो यह कोई लड़ने की बात तो नहीं है। तो जैनधर्म कहता है कि सत्य एक, अखण्ड और सर्व व्यापक है। वह असीम भी है। इसलिए वह साधारणतया समग्र कोण में उपलब्ध नहीं होता। उसके विभिन्न कोण या खण्ड ही साधारण जनों को दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि सत्य के जिस कोण-भाग-को एक देखता है, दूसरा उसी कोण को न देखे और वह किसी दूसरे ही कोण को देखे। ऐसा होने पर उनके दृष्टिकोण एक दूसरे से मेल नहीं खाएँगे, बल्कि परस्पर विरोधी भी प्रतीत होंगे, मगर वास्तव में वे दोनों उस असीम सत्य के ही भाग हैं, उन्हें सर्वथा मिथ्या या असत् नहीं कहा जा सकता। उन्हें सर्वथा मिथ्या कहना सत् के अश को मिथ्या कहने के कारण मिथ्या है। यही बात मार्ग के सम्बन्ध में हैं। सत्य के मार्ग अलग-अलग हैं। सभव है कोई सीधा और कोई इधर-उधर घूम-घूमा कर पहुँच सके। अगर कोई मतभेद है तो उसे प्रेम के साथ-आत्मीयता के साथ तू दूसरे के सामने रख। वह न माने तो दोबारा मिल। फिर प्रेम के साथ अपनी बात पेश कर और इस प्रकार संघर्ष लड़। तेरे जीवन का यही संदेश होना चाहिए।

एक प्रसिद्ध जैन आचार्य हो गये है। उनसे पूछा गया कि मुक्ति कैसे मिलेगी ? किस धर्म का अनुसरण करने से मिलेगी ? तब वे बोले—

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्ववादे
न पक्ष सेवा श्रमणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥"

—रत्नमन्दिर गणि

न दिगम्बर बन जाने से मोक्ष मिलता है और न श्वेताम्बर बन जाने से ही। दुनिया भर के और भी जो तत्त्ववाद हैं, उनसे भी मोक्ष

नहीं है। ऐ मनुष्य ! जब तेरा छुटकारा क्रोध, मान, माया, लोभ से हो जायगा, तू वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेगा, उनके मैल को दूर कर देगा, जब तू अपने भीतर की पशुत्व भावना और आसुरी भावना को निकाल बाहर कर देगा, जब तेरे अन्तर में पवित्र-ईश्वरीय भावना जाग उठेगी। इस प्रकार जब तू कषाय से पूरी तरह छुटकारा पा जायगा तभी तुझे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा, क्योंकि कषायमुक्ति ही वस्तुतः मुक्ति है।

जैनाचार्य हरिभद्र जैन परम्परा में एक महान् दार्शनिक आचार्य हो गये हैं। कहते हैं, उन्होंने १४४४ ग्रन्थों का निर्माण किया है। आज दूसरे साथी भी आदर और सन्मान के साथ उनका नाम स्मरण करते हैं। उनसे भी यही प्रश्न किया गया है—मुक्ति कब होगी ? तब उन्होंने कहा—

सेयंबरो वा आसंबरो बुद्धो वा तह व अन्नो वा।
समभाव भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो॥

—हरिभद्र

तू श्वेताम्बर है तो क्या और दिगम्बर है तो क्या ? मैं यह नहीं पूछता। तू 'शैव' विशेषण वाले धर्म को मानता है या 'वैष्णव' विशेषण वाले को मानता है या 'जैन' विशेषण वाले धर्म को मानता है, यह भी मैं नहीं जानना चाहता। मै सिर्फ एक ही बात पूछता हूँ कि तेरे मन में समभाव कितना जागा है ? तू अपने विरोधी के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है ? जब तू वाद करता है तो स्नेह देकर स्नेह लेता है या आग देकर आग लेता है ? विरोध की भावना देकर विरोध की भावना लेता है अथवा प्रेम और स्नेह के भाव लेता और देता है ? अगर तेरे जीवन में समभाव आ गया है, तेरे जीवन में कषाय की

कलुषता नहीं रह गई है, यदि तू मनुष्य की उच्चतम श्रेणी में पहुंच चुका है, और राग-द्वेष की अग्नि को कुचल चुका है. तो समझ ले कि मोक्ष तेरे सामने खड़ा है। जिस मनुष्य ने सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्राप्त कर ली, उसने मुक्ति प्राप्त कर ली, फिर भले ही वह किसी भी जाति का, किसी भी देश का और किसी भी वर्ग का हो। मुक्त अवस्था प्राप्त होने पर कोई भी जाति-पाँति या देश नहीं रह जाता है। जीवन की जो अपनी पवित्रता है, वही मोक्ष में जाती है।

यह अनेकान्तवाद की विचारसरणी का नमूना है। विचार करने पर विदित होगा कि अनेकान्तवाद उस युग में जितना आवश्यक था, उससे भी बढ़ कर आज आवश्यक है। आज आप देखते हैं कि चारों ओर धर्म के नाम पर कितने अन्याय हो रहे हैं? एक दूसरे की बात को सुनना भी पसन्द नहीं करता। हम गहराई में पैठने की कोशिश नहीं करते और एक दूसरे को चिढ़ाने की बातें ध्यान में रखते हैं। संसार में शान्ति का पीयूष-प्रवाह बहाने का दावा करने वाले धर्म जब एकान्त के चक्कर में पड़ कर घृणा और विरोध का विष फैलाने लगे तो अनेकान्त की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। और यह आवश्यकता केवल धर्म के लिए नहीं, वरन् जीवन के लिए भी है।

आप किसी दूसरे से मिले। आपस में बात-चीत की और संघर्ष हो गया। क्यों? इसीलिए कि आप अपने मत के प्रति अत्यधिक आग्रहशील हैं। आपके दिमाग में दूसरे के मत की युक्तियुक्तता को समझने की गुंजाइश नहीं। यही हाल उस दूसरे का है। ऐसी स्थिति में संघर्ष के सिवाय और हो ही क्या सकता है? इसी प्रकार अगर अध्यापक, विद्यार्थी के दृष्टिकोण को और विद्यार्थी, अध्यापक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास न करे तो परिणाम क्या होगा? इसी नासमझी के कारण विभिन्न धर्म भारत के लिए सिर-दर्द साबित

हो रहे हैं। आप एक गज रखते हैं और केवल अपने विचारों के गज से ही सारी दुनिया को नापने चलते हैं। दूसरा दूसरी भूमि पर बातें कर रहा है। आप उसकी बात नहीं समझना चाहते और वह आपकी बात नहीं समझना चाहता। बस, संघर्ष की सामग्री तैयार है। अनेकान्तवाद इस प्रकार के संघर्षों को न पैदा होने देने का और यदि कहीं पैदा हो गये हों तो उन्हें मिटाने का एक सबल और अहिंसात्मक तरीका है, जिसमें दुर्बलता नहीं दृढ़ता है, मिथ्या के साथ समझौता नहीं, सत्य के विविध बाजुओं की संकलना की अपेक्षा है, जिसमें संकीर्णता नहीं, विशालता है, जिसमें अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने की क्षमता है।

जब विचारों में कोमलता आयगी, दूसरे के भावों को समझने की कोशिश की जायगी और गहराई से तत्त्व को परखने की वृत्ति उत्पन्न हो जायगी, तब जीवन अनेकान्त के आलोक से आलोकित होगा और विश्व की रहस्यमय शक्तियों को पूरी तरह समझने की एक अपूर्व दृष्टि उत्पन्न हो जायगी।

मैं खास तौर से नवयुवकों से कहूँगा कि भारत का भविष्य आप लोगों से ही चमकने वाला है। अब तक जो हुआ सो हुआ, पर जो आगामी है, उसके विधाता आप हैं। देश को बनाना और बिगाड़ना आपके ऊपर निर्भर है। आपके अन्दर जोश है, वीरता की भावना है, लड़ने की शक्ति है, तो हम आपकी कद्र करेंगे। मगर जोश के साथ होश भी आना चाहिए। इसके बिना काम नहीं चलेगा। मुझे कांग्रेस के एक अन्तरंग सज्जन ने बतलाया था कि एक बार गांधीजी ने कहा—'तुम्हारे भीतर जोश है। तुम देश का निर्माण करोगे। पर इस बूढ़े के होश की भी तो जरूरत पड़ेगी न ?' जब जोश और होश—दोनों का सामंजस्य होता है, तभी जीवन का सही तौर पर निर्माण

होता है। होश हो पर जोश न हो, काम करने की क्षमता न हो, जीवन लडखड़ाता हो—हँसता हुआ न हो तो देश का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जोश तो हो मगर होश न हो, काम करने की शक्ति हो मगर उचित समझदारी न हो तो वह कोरा जोश आपको और आपके देश को भी ले डूबेगा। जोश आगे बढ़ने वाला कदम है तो होश रास्ता दिखलाने वाला नेत्र है।

जोश के साथ होश किस रूप में आना चाहिए? आप अपनी और साथ ही दूसरों की भी भूमिका में समझने की कोशिश कीजिए। बच्चे की, बूढ़े की, विद्यार्थी की और अध्यापक की अलग-अलग भूमिका है। उन सब भूमिकाओं को मिटा कर एक मंच नहीं बनाया जा सकता। जीवन व्यवहार में कदम-कदम पर झुक कर चलना होता है। आप दूसरों को झुकाना चाहेंगे तो आपको भी झुकना पड़ेगा। जीवन में यह लचक आनी ही चाहिए। इसी लचक से जीवन का निर्माण होगा। जिस जीवन में लचक नहीं वह भंग हो जायगा। पर लचकने वाला लचक कर फिर ज्यों का त्यों हो जायगा। लचकीले जीवन में अवसर आने पर लचक आ जाती है और वह पुनः स्प्रिंग की तरह अपनी सतह पर आ जाता है। अनेकान्तवाद का यही संदेश है कि इस विशाल विश्व में एकमात्र अपनी ही सत्ता सर्वोपरि न समझो। दूसरे भी प्राणी हैं, मनुष्य हैं। उनकी भी सत्ता है। उनके साथ सामझौते की भावना रक्खो। देश में और जातियाँ भी हैं, उनसे भी समझौता करो।

जैनधर्म की एक और मान्यता है, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण है। मैं कहता हूँ कि एक ओर मनुष्य है और दूसरी ओर ईश्वर है। कुछ लोग आक्षेप करते हैं—जैनधर्म ईश्वर को नहीं मानता। वह नास्तिक है और उसके पास जगत् को कुछ भी देने को नहीं है। मगर इस

प्रकार का कथन पारस्परिक घृणा का ही परिणाम है। जैनधर्म ईश्वर की सत्ता इंकार नहीं करता। तब प्रश्न होता है कि मनुष्य और ईश्वर में क्या संबंध है? हम ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके किस प्रकार अपने जीवन का निर्माण कर सकते है? यह दार्शनिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर ठीक तरह से विचार किया जाना चाहिए।

मैंने सांख्य और वेदान्त के बड़े-बड़े आचार्यों की रचनाएँ पढ़ी हैं। उन सब पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि भारत में एक परम्परा ऐसी रही है, जिसने ईश्वर सम्बन्धी बातों को गहरे विचार के साथ साफ करने का प्रयत्न किया है।

एक ओर मनुष्य का अपना व्यक्तित्व है और दूसरी ओर ईश्वर का व्यक्तित्व है। मगर मनुष्य अपने व्यक्तित्व की ऊँचाई को ईश्वर के चरणों का दास बना देता है और जब अपनी बात आती है तो वह भूल जाता है कि उसको भी अपने जीवन का निर्माण करना है और ऊँचाई तय करनी है। जो जाति या समाज उसे मिली है, उसे उसका ईश्वर बनना है और अपनी समस्याओं को हल करके आगे बढ़ना है। वह अपने प्रचण्ड सामर्थ्य को, तेजोमय व्यक्तित्व को और असीम क्षमताओं को भूल जाता है और इस प्रकार की हीन भावनाओं से दब जाता है कि आखिर वही होने वाला है जो ईश्वर ने तय कर रक्खा है। इस प्रकार की हीन भावना जीवन को स्फूर्तिहीन और निर्माल्य बना देती है। अतएव भारत के प्रमुख दार्शनिकों ने आत्मा में ही परमात्मा की ज्योति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—मनुष्य, तू अपने क्षेत्र में महान् है। तेरे भीतर ईश्वर की ज्योति विद्यमान है, जो दबी हुई तो है, मगर है और जाग सकती है। मेरे खयाल से, मानव-जीवन के लिए यह एक महान् से महान् संदेश और उद्बोधन है। जिन दार्शनिकों ने इस प्रकार का

महत्त्वपूर्ण संदेश दिया, वह जैन-दार्शनिक थे। कुछ लोग समझते हैं कि जैनधर्म ईश्वर को नहीं मानता, मगर बात ऐसी नहीं है। वह तो प्रत्येक से परमात्मा बनने की बात कहता है। वह कभी यह नहीं कहता कि मनुष्य, ईश्वर नहीं बन सकता। जैनधर्म घोषणा करता है कि प्रत्येक प्राणी अनन्त प्रकाश का पुंज है। उस प्रकाश पर छाये हुए धुंधलेपन को हटाओ, सोये हुए ईश्वरभाव को जगाओ और उसी प्रकाश की ओर अग्रसर होते चलो। महावीर ने कहा—'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है।

जब आकाश में बादल छा जाते हैं तो सूर्य का प्रकाश धुंधला हो जाता है। यहाँ तो प्रकाश धुंधला पड़ जाता है मगर बादलों के ऊपर क्या है? वहाँ भी क्या सूर्य के प्रकाश में धुंधलापन रहता है? नहीं, वहाँ वह अपने असली रूप में चमकता रहता है। इस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सम्बन्ध में जो काम बादलों का है, वही काम हमारी आत्मा के सम्बन्ध में अहंकार और वासना आदि विकारों का है। इन विकारों ने ही हमारी आत्मा की ज्योति को धुंधला कर दिया है। अब यह हमारा काम है कि हम आत्मा के बादलों, विकारों को दूर कर दें, जीवन को साफ कर लें। विकारों के दूर होने पर और जीवन के स्वच्छ बनने पर, ईश्वरीय ज्योति, जो हमारे भीतर विद्यमान है, चमक उठेगी।

मैं जो बात कह रहा हूँ, किसी दूसरे दृष्टिकोण से नहीं कह रहा हूँ। दूसरे पड़ोसी भी यही कहते हैं। आचार्य शंकर की वाणी हमने पढ़ी है। वह भी यही कहते हैं कि आत्मा, परब्रह्म है।

संसार में ब्रह्म ही सत्य है। प्रत्येक प्राणी ईश्वर का रूप है। कोई भी तत्त्वचिन्तक जब गहराई में उतर कर विचार करेगा तो वह

इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा। संत तुलसीदासजी, जो प्रेम की वाणी लेकर चले, जब देवताओं को नमस्कार करने लगे तो प्रत्येक को नमस्कार करते-करते उन्होंने एक ही बात कही—

सिया-राममय सब जग जानी।
करहु प्रणाम जोरि जुग-पाणी॥

अर्थात्—संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन सब को मैं सीता और राम के रूप में देखता हूँ। सभी प्राणी सीता-राम स्वरूप हैं और मैं इन सब आत्माओं को नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार प्रत्येक आत्मा को निसर्गतः परमात्मस्वरूप कहने की जैनसंस्कृति की जो धारा है, उसी धारा में दूसरे संतों की विचार-धारा भी आ मिलती है। संत कबीर ने भी कहा है—

घट घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारियां, जा घट परगट होय॥

घट-घट में उसका वास है। हृदय में उस प्रभु की सेज बिछी है और कोई कोना उससे सूना नहीं है उस हृदय की बलिहारी है जिसमें वह ज्योति प्रकट हो जाती है।

संक्षेप में मेरा आशय यह है कि जैनधर्म ईश्वरवादी धर्म है और प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनाने का उसका संदेश है। कोई मनुष्य कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह अपने आपको जगाए तो उसमें भी ईश्वरीय ज्योति प्रकट हो सकती है। और वह ईश्वर बन सकता है। मनुष्य के लिए यह संदेश कितना महत्त्वपूर्ण है? इसमें प्रेरणा है, स्फूर्ति है, सान्त्वना है और सच्चाई भी है।

सर्वसाधारण जनता में अक्सर हम दुर्बल भावना देखते हैं। उनमें अपने को हीन और तुच्छ समझने का भाव मौजूद रहता है। खास तौर से भारत में यह भावना व्यापक रूप में पाई जाती है। कोई आपसे मिलने आया। आपने पूछा—'कहिए, क्या हाल है ?' वह उत्तर देता है—'बस, कुछ न पूछिए, बुरा हाल है। जीने को जगह नहीं है। मर जाएँ तो अच्छा।' आप कहते हैं—'कुछ काम कीजिए।' वह कहता है—'क्या करें ? कुछ करने की हिम्मत ही नहीं। अक्ल काम नहीं देती। विचार कोसों दूर भागते हैं। शरीर भी साथ नहीं दे रहा है। मैं तो कुछ भी करने योग्य नहीं रहा।' चारों ओर यही निराशा और नामर्दी की भावना काम कर रही है। विद्यार्थी-जीवन की ओर दृष्टिपात करें तो देखते हैं कि कभी-कभी विद्यार्थियों में भी जीवन को हीन समझने की वृत्ति आ जाती है। वे कहते हैं—'यह काम तो हम से नहीं हो सकेगा।' किन्तु याद रखना चाहिए कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, हीन नहीं है, केवल हीनता की दुर्भावना ही उसे हीन बनाती है। जो इस दुर्भावना को अपने पास नहीं फटकने देता, समस्त शक्तियाँ, सफलताएँ, और सिद्धियाँ उसका वरण करने के लिए उत्सुक रहती हैं। इसी दुर्भावाना ने, इसी हीनता की मनोवृत्ति ने, भारतवर्ष के अधःपतन में प्रधान भाग लिया है। भारत की गिरावट के मूल में एक ही मुख्य चीज मिलती है—'यह हमसे नहीं हो सकेगा,' की जड़तामय भावना। विद्यार्थी से प्रश्न किया जाता है तो वह कहता है—यह हमसे हल नहीं होने का। इस प्रकार जो पहले से ही हल न होने की बात कहता है वह जीवन की मोहर में 'न' लगाता है इस 'न' ने ही देश को नीचे गिराया है। अतएव इस हीनता की भावना के स्थान पर 'मैं करूँगा, क्यों नहीं कर सकूंगा' की पुरानी प्रेरणा आनी चाहिए जो भारत में से निकल गई है। जैनधर्म यही संदेश देता है कि आप अपने जीवन को कभी हीन

और हीन न समझें। जब आत्मा में परमात्मा बन जाने की शक्ति है तो फिर कौन ऐसी शक्ति है जो आत्मा में विद्यमान न हो? साथ ही, जीवन में कभी कैसी भी कठिनाई क्यों न आ जाए, आप जीवन को झुकने न दें। आपकी अटलता देख कर सारी कठिनाइयाँ टल जाएँगी। अगर नहीं टलेंगी तो आप उनके साथ संघर्ष करेंगे और वह संघर्ष आपको जो नूतन शक्ति प्रदान करेगा, उसका सामना करना कठिनाइयों के लिए भी कठिन हो जायगा। संसार भर में जो भी ईश्वरीय शक्तियाँ हैं, वे सब मेरे अन्दर मौजूद हैं, इस प्रकार की दृढ़ मनोभावना के साथ मनुष्य को ऊँचा ही ऊँचा चढ़ना चाहिए और अपने में महान् ज्योति जागृत करनी चाहिए। जैनधर्म के द्वारा यह मनोभावना उत्पन्न की जा सकती है।

एक आचार्य ने कहा है—

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

हम अपने मार्ग पर चल रहे हैं। जीवन की ओर बढ़ रहे हैं। उस समय हमारे एक तरफ हजार-हजार निन्दा करने वाले हों तो क्या, और प्रशंसा की बात कहने वाले हों तो क्या? हमें उस सत्य के पथ पर चलते जाना है। निन्दा और प्रशंसा उस पथ के रोड़े नहीं बन सकते। न हम फूलों से रुकेंगे, न काँटों से रुकेंगे। मनुष्य कभी फूलों से रुक जाता है और कभी शूलों से रुक जाता है। कठिनाई या विघ्नबाधा उपस्थित होने पर लौट पड़ता है या प्रशंसा के फूल मिलने पर फूल जाता और भूल जाता है। मगर निन्दा और प्रशंसा से

जीवन की मंजिल तय नहीं होती है। संसार में एक ओर वैभव है और संभव है, किसी युग में धनवान् बनना बड़ी बात मानी गई हो, किन्तु आज धन-वैभव मनुष्य को ऊँचा नहीं बनाएगा, सोने के सिंहासन मनुष्य को महत्ता प्रदान नहीं कर सकेंगे। आज तो चरित्र से मनुष्य का मूल्य आंका जाने वाला है। जिस मनुष्य का चरित्र-निर्माण ऊँचा होगा और बुराइयों से लड़ कर जो उच्च श्रेणी की मनुष्यता प्राप्त कर लेगा, उसे सोने के सिंहासन नहीं खरीद सकेंगे। दुनिया भर के प्रलोभन और लालच उसे नहीं खरीद सकेंगे। वही अपने आपको बड़ा बना सकेगा। लक्ष्मी है या नहीं, और खाने के लिए रोटी का टुकड़ा है या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं। मृत्यु आ जाय, तो भी परवाह नहीं मगर उच्च चरित्रवान् व्यक्ति अपने पथ से विचलित नहीं होगा।

भारत में सबसे बड़ा भय माना जाता है मौत का। जब कभी महामारी, प्लेग या हैजे का प्रकोप हो जाता है तो उस समय क्या बूढ़े और क्या बच्चे, सभी भाग खड़े होते हैं। उस बीमारी के शिकार बने हुए लोगों की सेवा के मार्ग पर भी भय के कारण लोग नहीं जा सकते। मनुष्य के भीतर जो भगोड़ी मनोवृत्ति है, वह उसे भागने को प्रेरित करती है। मगर मृत्यु के सम्बन्ध में जैनधर्म कहता है:—

'नत्थि जीवस्स नासोत्ति इइ पेहेज्ज संजए'

—उत्तराध्ययन

मनुष्य ! तू समझता है कि मैं मर जाऊँगा। पर तू कहाँ मरता है। तेरा शरीर भले अनन्त बार मरे, तब भी तू तो अजर-अमर ही है। गीता में भी यही कहा है कि आत्मा अजर और अमर है। वह न तलवार से काटी जा सकती है, न आग से जलाई जा सकती है और न वायु से सुखाई जा सकती है। संतों की अमर वाणी अजर-

अमर के रूप में आत्मा को स्वीकार करती है तो, हे मनुष्य, तू यहाँ भी अमर है और जायगा तो वहाँ भी अमर ही रहेगा। इस प्रकार जब आत्मा की अमरता शाश्वत है तो रोना और भागना क्यों? जीवन में ऊँचाई का संदेश आना चाहिए। कितनी ही मुसीबतें क्यों न आएँ, किन्तु भगवान् महावीर और पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की भाषा में यही ध्यान रहना चाहिए कि मेरा कदापि विनाश नहीं हो सकता।

जीवन में कई बातें गड़बड़ पैदा करती हैं। मुझे एक सज्जन से मिलने का प्रसंग आया। उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। वार्तालाप के सिलसिले में मैंने उनसे कहा—'आपको किसी फर्म या कारखाने में नौकरी करके क्या करना है? आप तो देश की नौकरी करना। जीवन तो कहीं भी और कैसे भी चल जायगा। पेट पाल लेना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।'

भारतवर्ष की संतान जहाँ भी खड़ी होगी, उसके लिए पेट की समस्या साधारण बात है। आप विद्यार्थी अभी अध्ययन कर रहे हैं, मनन कर रहे हैं। इसके बाद आप कहाँ जाएँगे और क्या करेंगे, इस सम्बन्ध में मैं कोई भविष्यवाणी तो नहीं कर सकता, फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आपमें से जो भी अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण निर्माण कर सकेगा, प्रधान मंत्री की कुर्सी और राष्ट्रपति का सिंहासन तक भी उसकी प्रतीक्षा में रहेगा। आप के सामने काम करने के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा है। कला और विज्ञान का क्षेत्र है, साहित्य और संस्कृति का क्षेत्र है, इतिहास और पुरातत्त्व का क्षेत्र है, दर्शन और आध्यात्मिक चिन्तन का क्षेत्र है। भारतवर्ष के हजारों-लाखों भौतिक साधन, प्रतीक्षा कर रहे हैं कि भारत के वैज्ञानिक छात्र आएँ और अनुसन्धान करें ताकि हम सोना उगल सकें, भारत को समृद्ध कर सकें। भारत के पुरातन स्थापत्य की एक-एक ईंट राह देख

रही हैं कि कोई नौजवान आए और भूले हुए इतिहास को फिर स्मरण कराए। हल्दी घाटी आदि ऐतिहासिक स्थानों का एक-एक रजकण मानों कह रहा है कि कोई नवयुवक आए और हमारा पुराना इतिहास अद्यतन छानबीन के साथ और अच्छी नई कलम से लिखे। क्या महावीर, क्या बुद्ध और क्या आचार्य शंकर और क्या हर धर्म का इतिहास, इन्तजार कर रहा है कि देश के मनीषी नौजवान अपनी उमड़ी हुई जवानी और तेजस्वी लेखिनी से नये नये इतिहास लिखें, ताकि हम अपने असली चमते हुए रूप में फिर संसार के सम्मुख आ सकें। बन्धुओ! इन सब की प्रतीक्षा का आपको उत्तर देना है।

हमारे यहाँ शिक्षा का स्तर चाहे ऊँचा हो, पर विचारों का स्तर ऊँचा नहीं है। विद्यार्थी से पूछा जाता है—पढ़ कर क्या करोगे? वह कहता है—मेट्रिक कर लिया, एम० ए० कर लेंगे और फिर नौकरी कर लेंगे। व्यापारी से पूछते हैं—लाला, क्या कर रहे हो? वह कहता है—एक दुकान और एक हवेली बना लेनी है। लड़का और लड़की का विवाह कर देना है। फिर प्रश्न किया जाता है—फिर क्या करोगे? तब वह उत्तर देता है—मौज! इसके सिवाय और कुछ करना बाकी नहीं है।

यह स्थिति कितनी शोचनीय है? हमारे जीवन का गज कितना छोटा बन गया है। हम कितनी तुच्छ विचार भूमिका पर खड़े हैं। किसी एक ही क्षेत्र में यह बात हो तो कुछ संतोष भी किया जाय, मगर यहाँ तो कुएँ में ही भांग पड़ी है। छात्रों और यहाँ तक कि नेता कहलाने वालों के भी विचार तुच्छ और संकीर्ण बन गये हैं।

जिस सज्जन का जिक्र मैंने अभी किया था, उस बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण नौजवान की समझ में मेरी बात नहीं आई। वह एक दिन फिर मेरे पास आकर बोला—कहीं नौकरी नहीं मिल रही है।

हताश हो गया हूँ। एक नई दुनिया आ रही है। शादी हो गई है और भाई-बहन आदि का बड़ा परिवार पहले ही मौजूद है। सब जगह धक्के खा आया हूँ, मगर कहीं भी दाल नहीं गली।

मैंने पूछा—आखिर कहीं कोई जगह तो मिलती होगी?

तब वह कहने लगा—यों जगह तो मिल रही है। और वह हवाई जहाज के चालक के रूप में अच्छी भी है, किन्तु डर लगता है। क्या करूं!

मैंने कहा—भले मानुस, डर क्यों लगता है? तुम्हीं मानते हो कि तुम्हें अपना और परिवार का पेट पालना है, कपड़ों-लत्तों की व्यवस्था करना है। नौकरी करना और वह कहाँ करना, यह तुम्हारा अपना व्यक्तिगत प्रश्न है। मुझे इस सम्बन्ध में हां, या ना कुछ नहीं कहना है। परन्तु मृत्यु से डर कर भागना तो तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। क्या घर और दफ़्तर में बैठे, मृत्यु नहीं आएगी, इसका कुछ निश्चय है?

आशय यह है कि हमारे देश के नवयुवकों में साहस-हीनता और भीरुता भर गई है और जब तक वह दूर नहीं हो जाती, उसका और देश का उत्थान नहीं हो सकता। जिस देश के नवयुवक साहसी हैं, निर्भय हैं, जान पर खेलने को तैयार रहते हैं, वह देश धन्य हैं। उस देश की ओर कोई आँख उठा कर नहीं देख सकता। मैं आपको परामर्श दूंगा कि आप निर्भीक बनें, समाज के जीते-जगाते पुतले बनें, उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र में आगे बढ़ें और अपने जीवन को सफल और देश को समुन्नत बनाएँ। मैं समझता हूँ, यही मानव-संस्कृति का संदेश है, यही भारतीय संस्कृति का संदेश हैं और यही जैन संस्कृति का भी संदेश है।

(१९)

रक्षाबन्धन

●

अभी-अभी मुझे एक पर्चा मिला हैं। उसमे लिखा है कि 'आज रक्षा बन्धन है।'

मैं पूछता हूँ—रक्षा बन्धन आज के लिए ही है या कल के लिए भी है? परसों के लिए भी है या नहीं? हमें देखना चाहिए कि हमारी परंपरा में त्यौहार और पर्व किस रूप में आते हैं? वास्तव में हमें एक बड़ी सूचना देने के लिए आते हैं। आप उन्हें किस रूप में मनाते हैं। खाने-पीने को उत्तमोत्तम वस्तुएँ हों और पहनने के लिए बढ़िया वस्त्र और आभूषण हों। आज के दिन वस्त्र और आभूषण संदूक में से निकल आते होंगे और उन्हें बाहर की हवा लगती होगी।

किन्तु भारतवर्ष के पर्व यहीं तक सीमित नहीं हैं। इन त्यौहारों और पर्वों के साथ सहस्रों वर्षों पूर्व का हमारा इतिहास जुड़ा हुआ है। अतएव इसमें हमारी प्राचीन साधना, संस्कृति या 'कल्चर' झलकना चाहिए। पर्व और त्यौहार में अगर हमारी संस्कृति नहीं

झलकती है, तो मै कहता हूँ, वहाँ भारत की आत्मा नहीं झलकेगी और वहाँ भारत का हृदय नहीं है।

अच्छा खा-पी लेना बुरी बात नहीं है और अच्छा पहन लेना भी कोई बुरी बात नहीं है, यदि उसके पीछे उच्च विचार और उच्च संस्कार हों। अगर पर्वों के साथ ऊँची भावनाएँ भी आती हों तो उन्हें मनाने से लाभ हो सकता है।

त्यौहार के दो रूप हैं। अच्छा खाना, अच्छा पीना और अच्छा पहन लेना त्यौहार का शरीर है—बाह्य रूप है। और त्यौहार की पृष्ठ भूमिका में अन्तर्निहित भावना को जीवन में स्थान देना उसका आन्तरिक रूप है।

प्रत्येक वस्तु के यह दो रूप होते हैं। एक मैं हूं अर्थात् शरीर रूप में दिखाई देने वाला यह पिण्ड है और दूसरा मेरा आत्मा है। शरीर का मूल्य तो है, पर आत्मा के पीछे ही। आत्मा है तो शरीर मूल्यवान् है। आप हजार बार वन्दना करेंगे, सुख-दुःख हो जायगा तो फिक्र करेंगे, व्यवस्था करेंगे, किन्तु जिस क्षण इस शरीर में आत्मा नहीं रहेगी, उस क्षण आप क्या करेंगे? इस शरीर के साथ क्या सलूक करेंगे? फिर तो चाहे आचार्य का हो, उपाध्याय का हो, मुनि का हो या साक्षात् तीर्थंङ्कर का ही शरीर क्यों न हो, उसे आग की भेंट करना ही पड़ेगी।

फिर भी शरीर अपने आपमें महत्त्वपूर्ण वस्तु है। उसे झूठा नहीं बना सकते और उसके विषय में अरुचिविरचित टीका-टीप्पणी करके उसके गौरव को समाप्त नहीं कर सकते। शरीर या शरीर के रूप में भले कोई महत्त्व न हो, आत्मा के अधिष्ठान के रूप में अवश्य उसका महत्त्व है।

यही बात प्रत्येक क्रियाकाण्ड के विषय में भी है। आप आते हैं और कपड़े उतारते हैं, आसन बिछाते हैं और मुखवस्त्रिका बाँध लेते हैं। फिर सामायिक का पाठ बोलते या बुलवाते हैं। यह सब क्या है? यह सामायिक का शरीर है। इसके बाद जब आपके मन में क्षमाभाव आता है, ऊंचे संकल्प और पवित्र विचार आते हैं, राग-द्वेष की परिणति कम होती जाती है और आपका समग्र जीवन समभाव की लहरों में बहने लगता है तो आपको सामायिक की आत्मा भी मिल जाती है। इसी को भारत की भाषा मे द्रव्यसामायिक और भावसामायिक कहते हैं।

तपस्या के सम्बन्ध में भी यही बात है। कुछ भी न खाना और किसी भी भोगोपभोग की वस्तु का उपयोग न करना तो तपस्या का शरीर है। उसके साथ जब भूख लगे और द्वन्द्व आएँ तो आत्मशक्ति के द्वारा उन्हें हटाने की कोशिश करना और शुचि विचारों में व्यस्त एवं लीन रहना तपस्या की आत्मा है। उस समय आपको विचार आना चाहिए—देखो, श्रमण भगवान् महावीर ने छह-छह महीने की तपस्या की। तपस्या के अन्तराल में कष्टों के कितने विकराल बवण्डर आये। परीषहों के कैसे-कैसे भूकम्प आये। क्या प्रभु रंच मात्र भी डिगे? इस प्रकार की भावना आपको मिल गई तो समझ लीजिए कि आपको तपस्या की आत्मा मिल गई।

और यही बात हमारी भी भाई! हम दुनिया से न्यारे थोड़े ही हैं। एक दिन गुरु के चरणों में पहुँचे। कपड़े उतारे और पात्र ले लिए। यह बाना ले लिया। तो यह क्या है? यह संयम का शरीर है। जब संयम के इस शरीर में पूर्ण अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, की तथा तपस्या, अनाशक्ति और त्याग-वैराग्य की भावना रूप प्राणों का प्रादुर्भाव होता है, तब संयम की आत्मा मिलती है।

संयम की यही आत्मा तारने वाली है। खाली वेष तो शरीर है और वह तारने वाला नहीं है। अनन्त काल बीत चुका और अनन्त बार वेष भी पहन लिया, पर उसने एक बार भी तो नहीं तारा। संयम के शरीर में पड़ी हुई आत्मा-भावना-ही तार सकती है और जो तिरे हैं, इसी की बदौलत तिरे हैं। वेष के बिना तिरा जा सकता है, परन्तु भावना के अभाव में कोई नहीं तिर सकता।

तो त्यौहार और पर्व के भी इसी प्रकार दो रूप हैं। चाहे वह रक्षाबन्धन हो, दशहरा हो या दीपावली हो या और कुछ हो, प्रत्येक के साथ भारतवर्ष की संस्कृति चली आ रही है। वही संस्कृति त्यौहार की आत्मा है। अच्छा खाना-पीना और पहनना त्यौहार का शरीर है और मैं नहीं कहता कि इस शरीर को ठुकरा दो या नष्ट कर दो, मैं यह कहता हूँ कि शरीर मिला और आत्मा नहीं मिली तो कुछ भी नहीं मिला। उस त्यौहार को मुर्दा त्यौहार ही कहना पड़ेगा। जिस त्यौहार में आत्मा नहीं डाली गई और हमारे जो संस्कार हैं वे नहीं डाले गये, उसको और क्या कहा जा सकता है?

इस रूप में हम कह सकते हैं कि त्यौहार दो प्रकार के हैं—मुर्दा त्यौहार और जिन्दा त्यौहार। मुर्दा त्यौहार वह है, जिनके पीछे संस्कृति की भावना नहीं है और ऊंचे विचार नहीं हैं। ऊंचे विचार का अर्थ यह विचार होना है कि इस त्यौहार को मैं जिन उच्च विचारों के साथ मना रहा हूँ, अगले त्यौहार को और कितने ऊंचे विचारों के साथ मनाऊंगा? और उससे भी अगले त्यौहार को और कितने ऊंचे विचारों से मनाऊंगा? जब यही त्यौहार फिर आएगा और जीवन का एक वर्ष और बीत जाएगा तो मैं कितनी अधिक ऊंचाई पर इस त्यौहार को मना सकूंगा? इन त्यौहारों के साथ

निरन्तर यह भावना जागृत नहीं रहेगी और प्रगति नहीं की जायगी तो वह त्यौहार मुर्दा होगा ।

आज त्यौहार मना लीजिए और हजार वार मना लीजिए । इससे क्या लाभ होने वाला है ? मुर्दा घर में रखने लायक नहीं होता । मुर्दा सड़ने के लिए होता है, लड़ने के लिए नहीं होता । घर में पड़ा हुआ मुर्दा आँख और कान से भी नहीं लड़ता, किन्तु एक बच्चा है और उसमें चेतना है तो वह रक्षा करने के लिए हाथ-पैर हिलाता है । एक बुड्ढा है और अशक्त है और उससे कुछ नहीं बन पड़ेगा तो कोसने ही लगेगा । किन्तु मुर्दा कुछ नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार जो त्यौहार मुर्दा हो जाता है, उसमें राष्ट्र को ऊँचा उठाने की योग्यता नहीं रहती । अतएव हमें सावधान होना चाहिए और त्यौहार में प्राणों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए । त्यौहार जब सप्राण बन जायगा तो ऐसा नहीं होगा कि वह आज है और कल नहीं है ।

आज का रक्षाबन्धन क्या कल का रक्षाबन्धन नहीं है ? क्या साल भर रक्षा बन्द रहेगी ? कल तोड़ देंगे रक्षा करने की प्रतिज्ञा को ? ऐसा हुआ तो रक्षाबन्धन का आना न आने के ही समान है । आज एक दूसरे से रक्षा का बन्धन बँध जाएगा, एक दूसरे को बाँधेगा और एक दूसरे का सहयोगी और साथी बनने की प्रतिज्ञा करेगा और जीवन भर का साथी बनने का संकल्प प्रकट करेगा, और कल ही इन सब बातों पर पानी फेर देगा ? कल अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर देगा ?

अरे, उस पतले से धागे का क्या मूल्य है ? वह टूट जायगा वह कब तक चलने वाला है ? वह रंग-बिरंगा है, खूब सूरत है और

खास तौर से राजस्थान में बड़ा सुन्दर बनाया जाता है, परन्तु उसका रंग ठहरने वाला नहीं है। उसे फीका होना है, मिनट-मिनट में फीका पड़ता है। जो आज है कल नहीं रहेगा और जो कल होगा वह परसों नहीं रहेगा। वह गन्दा हो जायगा तो आप ही उसे तोड़ कर फैंक देंगे।

तो उस धागे का अपने आपमें क्या महत्त्व है ? वह तो प्रतीक है, एक स्मृति है, यादगार है और निशानी है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि वह भावनाओं का केन्द्र है।

असली रक्षाबन्धन को आज भी नहीं और कल भी नहीं टूटना चाहिए। वह साल भर भी नहीं टूटेगा। आज जो स्नेह का बन्धन बाँधा गया है और प्रण किया गया है, वह कल या परसों टूट गया तो वह स्नेह ही कैसा ? वह प्रण ही क्या ? मेरा अभिप्राय यह है कि खून के धागे के साथ जो स्नेह का धागा बाँधा गया है, वह सूत के धागे के समान ही टूट नहीं जाना चाहिए। उस प्रतीक के द्वारा स्नेह के बन्धन को हम भीतर तक अन्तरतर तक पहुँचा दें और यही सोचें कि हमने जिससे रक्षाबन्धन बन्धवाया है या जिसे बाँधा है, उसके साथ अपने स्नेह बन्धन को जीवन पर्यन्त किस प्रकार निभाएँ ? हाथ आगे कर दिया और रक्षाबन्धन बंधवा लिया और दो-चार पैसे या दो-चार रुपये दे दिये तो उसकी क्या गिनती है ? उसके पीछे तो हमारे मन का सिक्का होना चाहिए। प्रेम का सिक्का बाँटा जाना चाहिए। तभी रक्षा की अच्छी कीमत अदा हो सकेगी।

आत्मरक्षा का प्रश्न भी विचारणीय है। मनुष्य में दोनों प्रकार की शक्तियाँ हैं। वह अपनी रक्षा भी कर सकता है और अपनी हत्या भी कर सकता है। साधारण बोलचाल की भाषा में जिसे आत्मरक्षा

और आत्महत्या कहते हैं, वह तो शरीर की रक्षा और हत्या है। वास्तव में जो आत्मा की हत्या है वह इतनी साधारण चीज बन गई है कि उसकी ओर लोगों का ध्यान ही नहीं जाता। शरीर की हत्या को जो महत्त्व दिया जाता है, उसका शतांश भी आत्महत्या को नहीं दिया जाता। यही कारण है कि लोग पल-पल पर आत्महत्या करते रहते हैं और उसमें कोई बुराई नहीं समझते। यह कितने परिताप का विषय है। इसीसे अन्दाज लगाया जा सकता है कि आज के लोग कितने बहिर्मुख हो गए हैं। जिसके कारण शरीर का महत्त्व है, उसे कोई महत्त्व ही नहीं देते और शरीर को ही महत्त्व देते हैं।

इसी प्रकार शरीर की रक्षा को महत्त्व दिया जाता है, परन्तु आत्मा की रक्षा की ओर विरले ही ध्यान देते हैं। अधिकांश लोग यही नहीं जानते कि आत्मा कि रक्षा किस प्रकार हो सकती है? बढ़िया वस्त्र धारण करने से, दुनिया भर की सम्पदा इकट्ठी कर लेने से अथवा छप्पन भोजन कर लेने से आत्मा की रक्षा होती है? नहीं, आत्मा की रक्षा का यह उपाय नहीं है।

आपको क्रोध आता है और बेभान हो जाते हैं। तब न अपने प्रति और दूसरे के प्रति आप विवेकयुक्त व्यवहार करते हैं। आपका मन अपावन हो जाता है और आपका मुख, जिस मुख से भगवान् महावीर की वाणी बही थी, गालियों का वमन करने लगता है। इस प्रकार जब क्रोध आता है और आग के शोले उठते हैं और जब एटमबम से ज्यादा व्यथाजनक बम निकलते हैं, तब आत्मा की रक्षा होती है या आत्मा की हत्या होती है? उस समय आपका कदम आत्मरक्षा की ओर होता है या आत्महत्या की ओर?

इसी तरह जब आपके दिमाग पर धन का, बल का, परिवार का अथवा इज्जत का नशा छा जाता है, जब अहंकार की आग मन

में प्रज्वलित हो उठती है, तो जरा-सा भी अपमान बर्दाश्त नहीं होता है और मरने तथा मारने को भी तैयार हो जाते हैं। और जब नाक का सवाल आ जाता है तो परिवार का सम्बन्ध भी धूल में मिल जाता है। महाभारत किस लिए हुआ था ? इस नाक ने ही तो अगणित योद्धाओं के सिर कटवाये थे। तो जब मन में अभिमान की वृत्ति जागृत हो तो साधक अपने मन से प्रश्न करे कि वह आत्मा की हत्या कर रहा है या रक्षा कर रहा है ?

सेठजी कहलाते हैं। लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति है। सोने के महल खड़े हैं। फिर भी दूसरे बनवाये जा रहे है और इच्छा है कि दुनिया की सारी जगह मेरे ही महल खड़े हों। दूसरे के पास सर्दी-गर्मी से बचने की जगह है या नहीं, वे भूख से बिलबिला रहे हैं, हाहाकार मच रहा है और भूख रूपी पिशाची अपने नौनिहालों को दो-दो रुपयों में बिकवा रही है, परन्तु इस ओर सेठजी का ध्यान ही नहीं है। वे भरे जा रहे हैं अपनी तिजोरियाँ। ठीक है सेठजी, जब परलोक की यात्रा करो तो उन्हें साथ लेते जाना। आज तक तो किसी के साथ धन-सम्पदा गई नहीं है, किन्तु आपके साथ जरूर चली जायगी। धन की बदौलत आपको बड़ी दीर्घदृष्टि प्राप्त हो गई है।

इस प्रकार की लोभवृत्ति आत्महत्या है, आत्मरक्षा नहीं। अभिप्राय यह है कि आत्मारक्षा का सच्चा और ठीक तरीका पररक्षा है, धर्म की रक्षा करना है। आप अपने धर्म की रक्षा करेंगे तो आपकी रक्षा होगी—

धर्मो रक्षति रक्षितः।

तो आप यदि सचमुच ही रक्षाबन्धन का पर्व मनाना चाहते हैं तो आज इस बात पर विचार करें कि आपका अपने प्रति और दूसरों के

प्रति क्या धर्म है ? अगर आपने अपने प्रति धर्म का यथोचित निर्वाह कर लिया तो दूसरों के प्रति भी आप धर्म का निर्वाह कर सकेंगे। क्योंकि यह ध्रुव सत्य है कि पररक्षा में ही आत्मरक्षा है और पर की उपेक्षा में आत्मा की उपेक्षा है।

मगर आप तो दूसरे ही रूप में रक्षाबन्धन मनाते हैं। अच्छा खा लिया, अच्छा पी लिया और गहनों की आवाज गुंजा दी और बस, रक्षाबन्धन मन गया। वास्तव में यह रक्षाबन्धन नहीं है। जब देश में हाहाकार हो, भुखमरी का ताण्डव नृत्य हो रहा हो, बालक और वृद्ध और अबलाएँ अकाल के गालों में समा रही हों, भीषण स्थिति उपस्थित हो, उस समय मनुष्य अपने आपमें बंधा रह जाय और सीमित रह जाय और दया की भावना को लेकर बाहर न निकले, पड़ौसियों और देशवासियों के आर्त्तनाद को न सुने और केवल स्वार्थ में ही तत्पर रहे। यह जिन्दा त्यौहार मनाना नहीं है। यह मुर्दा त्यौहार मनाया जा रहा है और इसके मनाने से आत्मरक्षा नहीं होगी, आत्महत्या होगी, क्योंकि यहाँ धर्म की रक्षा नहीं की जा रही है।

दूसरों की बात जाने दीजिए। आप केवल अपने ही सम्बन्ध में विचार कीजिए। आपने अपने जीवन में आत्मा की रक्षा की है या आत्मा की हत्या की है ? मैं समझता हूँ—जिसके अन्तःकरण में तिरने की भावना उत्पन्न हुई है, जिसने अपनी वासनाओं को कम किया है, जिसने अपनी आवश्यकताओं की उपेक्षा करके भी दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति की है, दूसरों के हित के लिए अपनी बुद्धि, शक्ति और समय को अर्पण किया है, उसने अपनी आत्मरक्षा की है। और जो लक्ष्मी की पूजा करता रहा है, धन का गुलाम बना रहा है, अपनी वासनाओं का दास रहा है, जिसने अपने जीवन को

हीन भावों में गुजारा है, उसने आत्मा की रक्षा नहीं की है। उसने आत्महत्या की है, क्योंकि उसने अपने धर्म की हत्या की है।

आप गम्भीर भाव से विचार कीजिए कि जो मनुष्य नरकगति और तीर्यञ्च में जाने के कार्य कर रहा है, मनुष्यता से हाथ धोने के काम कर रहा है और चिन्तामणि को लुटा रहा है, जो छल-कपट, ठगी और प्रपचों पर चल रहा है, जो एक-एक पैसे के लिए अपने जीवन को और देश की इज्जत को बेचने के लिए तयार है, वह अपनी आत्मरक्षा कर रहा है या आत्महत्या कर रहा है ?

इस आत्मा ने कितनी बार नरक-लोक की यात्रा की है ? और वहाँ कैसी-कैसी दुस्सह यातनाएँ भुगती हैं ? अनन्त-अनन्त बार यह नरक में गई और सागरोपमों तक रही और अकथनीय यातनाएँ भोगी कितनी बार कीड़ा-मकोड़ा बनी है ? कितनी बार मक्खी-मच्छर के रूप में जन्म ग्रहण कर चुकी है ? पक्षी बन कर कितनी बार आकाश में उड़ चुकी है ? जब कभी ऐसा हुआ तो उसका कारण आत्मा की अवज्ञा करना ही था—आत्मा की हत्या करने से ही वह भयानक स्थितियाँ प्राप्त हुई थीं। आत्मदेवता का जब हम अपमान करते हैं तो ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। जब हम क्रोध, अभिमान छल-कपट और लोभ-लालच करते हैं तो आत्म देवता का अपमान होता है। आत्मदेव की अवज्ञा करना ही आत्महत्या है।

कोई भी धर्म क्यों न हो, जिसमें पाप की धारा बहती है, जो इन्सानियत का संदेश लेकर आया है, जो मारने के भद्दे गीत नहीं गाता बल्कि करुणा की मधुर रागिनी सुनाता है, वह कोई भी धर्म क्यों न हो, वह आत्मरक्षा का भव्य संदेश देता है। वह इंगित करता है कि न अपनी आत्मा का अपमान करो, न दूसरे की आत्मा का

अपमान करो। कोई भी धर्म ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करने की हिम्मत नहीं करता कि—'प्रभो ! मुझे अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा देना, ताकि मैं दूसरों की आँखों में चुभता रहूँ। भगवान् ! मुझे ऐसी लक्ष्मी देना जो मेरे ही काम आवे और दूसरे का कोई झगड़ा-झंझट न रहे। मुझे इतने ऊँचे महत्त्व देना, जहाँ दीन-दुखियों का करुण चीत्कार न पहुँच सके, और दूसरा उनकी छाया में भी न बैठ सके।' प्रभु के चरणों में ऐसी प्रार्थना करना आत्महत्या की प्रार्थना करना है।

संसार में जो भी अच्छी चीजें हैं, वह मेरी है और मेरे लिए ही है, यह नारा रावण का रहा है, और यह नारा दुर्योधन का रहा है। और दुनिया की अच्छी चीजें दुनिया की हैं, यह नारा राम का रहा है, युधिष्ठिर का रहा है यही आदर्श भगवान् महावीर का रहा है। प्रभु के चरणों में यही नारा होना चाहिए—

खुश रहना खुश रखना जीना और जिलाना।
नाथ ! मेरे जीवन का बस एक यही हो गाना॥

आकाश से बिजलियाँ गिरें और चारों तरफ से आग बरसने लगे, देवता आकर हमारा प्रतिरोध करें, किन्तु हम अपनी प्रतिष्ठा को भंग न होने दें और आग में खेलते हुए भी अपने चेहरे से मुस्कराहट पैदा करें, संसार की ताकत जड़ वैभव को नष्ट कर सकती है, किन्तु कोई ताकत नहीं दुनिया में जो आत्मा की ताकत को नष्ट कर सके। प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरीय तत्त्व मौजूद है। इस प्रकार की भावनाओं को ज्यों-ज्यों ऊँचा उठाया जाता है, त्यों-त्यों आत्मा में भागवत अंश की वृद्धि होती जाती है और जैसे-जैसे आत्मा को नीचे गिराया जाता है, भागवत अंश कम होता जाता है, तो भागवत चेतना या ईश्वरत्व की प्रेरणा हमारे अन्दर से आती है और प्रकाश के रूप में आती है।

किन्तु वह चेतना या प्रेरणा आती कब है ? जब आत्मा की हर्ष और विषाद से, राग और द्वेष से रक्षा की जाती है। प्रत्येक परिस्थिति में समभाव से रहने की वृत्ति जाग जाती है। अच्छा संयोग मिला तब भी प्रसन्न और बुरा संयोग मिला तब भी प्रसन्न ! सुख मिला तो उसे भी उसी भाव से ग्रहण किया और दुख मिला तो उसे भी उसी भाव से ग्रहण किया ! आचार्य अमितगति कहते हैं—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्त्वबुद्धेः,
समं मनो मे ऽस्तु सदापि नाथ।

प्रभो ! मैं नहीं चाहता कि दुःखों का वज्र कभी मेरे सिर पर न गिरे और सुख ही सुख में सारा जीवन व्यतीत हो जाय। किन्तु इतना अवश्य चाहता हूँ कि मुझे ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त हो कि मैं सुख और दुःख को समान भाव से स्वीकार कर सकूं। सुख में जैसी प्रसन्नता होती है, दुःख में भी वैसी ही प्रसन्नता रहे—दोनों में समभाव रहे। इसी प्रकार वैरी पर और बन्धुजन पर संयोग के समय और वियोग के समय, और सुन्दर से सुन्दर महल में और सुनसान भयावने वन में भी मेरा समभाव स्थिर रहे। नाथ ! मुझे इतनी क्षमता दो।

इस प्रकार की समभावना जब अन्तरंग में उत्पन्न हो जाती है, तभी दिव्य चेतना का आविर्भाव होता है और तभी आत्मा की वास्तविक रूप में रक्षा होती है।

जो जरा-सा दुःख उपस्थित होने पर कातर हो जाता है, हाय-हाय करने लगता है और हथियार डाल देता है और जीवन के संघर्ष

से विरत हो जाता है, वह महावीर का पुत्र कैसा ? उसे महावीर का अनुयायी होने का अधिकार नहीं है।

तो आवश्यक यह है कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में खुश रहे और दूसरे को भी खुश रक्खे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मिला और दोनों की मुस्कराहट का लेन देन हुआ। आप उसे देखकर हर्षित हुए और वह आपको देख कर हर्षित हुआ और हर्ष के साथ ही दोनों अलग-अलग हुए तो हम समझेंगे कि दो इन्सान मिले थे। और यदि दो मिले और चहरे पर सिकुड़न डाल कर मिले और रोते हुए विदा हुए और दोनों कड़वापन लेकर विदा हुए तो क्यों न समझा जाय कि दो इन्सान नहीं कोई और मिले थे।

जीवन का लक्ष्य क्या है ? खुश रहो और खुश रहने दो। जीवन खुश रहने को है, रोने को नहीं है। आंसू आएँ तो उनके जहर को पी जाओ और दूसरों को अमृत बाँटो। शिव ने जहर पिया और अमृत दिया। दुनिया है भाई, दुनिया ! यहाँ सब जगह फूलों की सेज नहीं है, शूलों के मार्ग पर भी चलना पड़ता है। कभी फूलों और कभी शूलों से निबटना पड़ता है। पर प्रत्येक स्थिति में तुम खुश रहो और दूसरों को खुश रक्खो और ऐसा मनोभाव पाने की प्रभु से प्रार्थना करो।

और जिंदा रहो और दूसरों को भी जिंदा रक्खो। प्रत्येक को हक है कि जिंदा रहे और बहुत दिनों तक रहे, मौत से लड़े और उसे ठुकराए। कोई कहीं खड़ा हो, अगर उसका जीवन संयम, सदाचार और सेवा का जीवन है, अगर उसके जीवन का एक-एक क्षण त्याग और वैराग्य की भावनाओं में गुजर रहा है, तो वह अधिक से अधिक दिन जिंदा रहेगा और उसे जिंदा रहने का हक है। वह दूसरों को भी जिंदा रक्खेगा।

किन्तु दूसरों की लाश पर जिंदा रहना जीवन का अर्थ नहीं है। दूसरों के रोने पर, दूसरों की बर्बादी पर और दूसरों की पनपती हुई जिंदगी को रौंद कर जिंदा रहना, जिंदा रहना नहीं है। स्वयं जीवित रहना और दूसरों को जीवित रहने देना, यही नहीं बल्कि दूसरों के जीवित रहने में सहायक होना ही जीवन का वास्तविक अर्थ है।

आज के रक्षाबन्धन के अवसर पर मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ। इसमें भारतवर्ष की संस्कृति का निचोड़ आ गया है। जीवन में कितने ही सघर्ष आएँ, फिर भी अगर आप खुश रहते हैं तो आत्मा का अपमान नहीं होता। और जब दूसरों को खुश रक्खेंगे और उन्हें जिन्दा रखने का प्रयत्न करेंगे तो दूसरों का भी अपमान नहीं होगा।

तो आत्मा का सन्मान करना आत्मा की रक्षा है, और आत्मा का अपमान करना आत्मा की हत्या करना है। और आत्मा में स्वकीय और परकीय आत्माओं का समावेश हो जाता है। अतएव पर का अपमान करना भी आत्महत्या और सन्मान करना रक्षा है। पर प्रत्येक को समझ लेना चाहिए कि इन्सान को, किसी को भी मारने का अधिकार नहीं मिला है। कोई किसी के जीवन पर नियंत्रण नहीं कर सकता।

हाँ, मनुष्य एक बात कर सकता है। वह अपने जीवन के उपहार दूसरों को अर्पण कर सकता है और अपने शुभ संकल्प समर्पित कर सकता है। हमारे जो पवित्र विचार हैं और पवित्र भावनाएँ हैं, उन्हें हम संसार को अर्पित कर सकते हैं और ले भी सकते हैं।

इस प्रकार दूसरे की रक्षा करना और रक्षा करने की भावना रखना अपनी ही रक्षा करना है। भारत ने किसी भी प्रकार के अनुचित भेदभाव का कभी समर्थन ही नहीं किया है। भारत की संस्कृति तो यही कहती आई है—

अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

जिनका हृदय क्षुद्र है, वही गिनती लगाया करते हैं यह मेरा है और यह पराया है। किन्तु विशाल हृदय वाले, विराट भावना वाले तो सारे संसार को अपना परिवार समझते हैं।

जहाँ यह विराट भावना होगी, वहीं सच्चा रक्षाबन्धन होगा। जहाँ यह भावना नहीं है और केवल अच्छे वस्त्र और भोजन से ही त्यौहार मना लिया जाता है, वहां त्यौहार का दिखावा मात्र है। उस त्यौहार में त्यौहार की आत्मा नहीं है, केवल शरीर मात्र है।

जहां 'रक्षा' का नाम आता है, मुझे लगने लगता है कि जैनधर्म की आत्मा बोलने लग गई है। लेकिन वह बोलेगी कब? जब हृदय में रक्षा की तमन्ना होगी, उच्च विचार और उच्च चारित्र होगा। वह केवल धागे से बोलने वाली नहीं है। अपनी आत्मा रूपी बहन की रक्षा के लिए जब आप प्राणप्रण से तैयार होंगे, रक्षा के लिए धन की आहुति करने का अवसर आने पर भी पीछे न हटें, तभी आप रक्षा का सच्चा महत्त्व समझ सकेंगे।

हमें एक युवक मिला। वह हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय पश्चिमी पाकिस्तान से भाग कर आया था। वह हमें सुनाने लगा कि अमुक परिवार में इतने मारे गये और अमुक कुटुम्ब की बहनों

का अपहरण कर लिया गया। मेरे घर वालों में से भी बहुत से मारे गये। अपनी माता और बहन का किस्सा कहते २ उसकी आँखों से आँसू टपकटने लगे।

दुःख और दर्द से भरी इस घटना को सुन कर मैंने कहा—तुम क्यों आये? तुम्हारे अकेले आने का क्या अर्थ है? भाई के सामने बहिन का शील टूट जाय तो उसे भाई होने का अधिकार ही नहीं है। तुमने अपनी जिंदगी बचा कर क्या अधिक कमा लिया!

वास्तव में रक्षाबन्धन पर्व का यही प्रधान और एकमात्र संदेश है। तुम्हारे सामने कहीं भी अनीति हो रही हो, बुराई फैल रही हो और गलती हो रही हो तो तुम उससे लड़ो—जहाँ तक तुम्हारे मन में बल हो जहाँ तक लड़ो। लड़ाई केवल शरीर से ही नहीं होती। वह लड़ाई ऊँचे चरित्र बल की होनी चाहिए, न्याययुक्त होनी चाहिए।

जैन आगमों में धर्मिष्ठ श्रावक चेड़ा और कोणिक का संग्राम प्रसिद्ध है। चेड़ा अपने शरणागत की रक्षा के लिए कोणिक से लड़े थे। वे अन्याय को हटाना चाहते थे। उनकी माँग न्याय की मांग थी। कोणिक सम्राट् होते हुए भी अनीति की राह पर था, अतः नरक का अतिथि बना और चेड़ा रण में खेत होकर भी वीर गति पाया—स्वर्गवासी हुआ।

भूल और बुराई दूसरों की हो और उससे लड़ा जाय, यही पर्याप्त नहीं है। अपनी भूल और अपनी बुराई, जो बाहर से दिखाई नहीं देती और अन्दर ही छिपी रहती है, उससे भी लड़ना चाहिए। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि पहले अपनी भूल और बुराई से लड़ना चाहिए और उसके बाद दूसरों की से। जो अपनी भूलों और

बुराइयों से नहीं लड़ता, उसे दूसरों की भूलों और बुराइयों से लड़ने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर भी यदि कोई लड़ता है तो सफलता मिलने की पूरी संभावना नहीं है क्योंकि उसकी आत्मा अपनी ही भूलों और बुराइयों के कारण दुर्बल बनी हुई है। इसके अतिरिक्त आखिर भूल तो भूल ही है और बुराई आखिर बुराई ही है। वह अपनी हो या परायी हो, यदि उसे आप हानिकारक समझते हैं तो फिर अपनी भूल और बुराई से भी क्यों नहीं जूझते ? दूसरों की भूल बुरी है और बुराई बुरी है और आपकी नहीं ? क्या दूसरों की बुराई और भूल हानिकारक हे और आपकी बुराई या भूल हानिकार नहीं है ? ऐसा तो नहीं है। और हानि की बात सोचो तो आपकी भूल और बुराई ही आपके लिए अधिक हानिकर हो सकती है, दूसरे की उतनी नहीं। अतएव अपनी बुराइयों और भूलों से जब आप जूझ लेंगे और उन्हें दूर कर देंगे तो आपकी आत्मा सबल और प्रभावशाली बन जायगी और तभी आप दूसरों की भूलों को दूर कर सकेंगे। ऐसे करके आप आत्मा की रक्षा कर लेंगे और फिर दूसरो की भी रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे।

राजपूताना के रक्षाबन्धन की कहानियाँ इतिहास में प्रसिद्ध हैं। जब-जब राजस्थान की बहिनों की आन का प्रश्न उपस्थित हुआ, उनकी इज्जत लुटने की नौबत आई, तब-तब वीर राजपूतों ने अपनी असहाय बहिनों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे डाली।

यह है सच्चा रक्षाबन्धन। इसे कहते हैं निःस्वार्थ त्याग। किसी बहिन ने छोटे-से पुर्जे में, सूत के कच्चे धागे भी, संकट के समय में भेजे तो जिस राजपूत के पास वे पहुँचे, उसने जलती आग में कूदने तक की प्रतिज्ञा की है। उसके पीछे स्वार्थ का एक भी काला धब्बा नहीं था। न मृत्यु का भय था, न शोक था। मृत्यु का तो उन

वीरों ने हंसते-हंसते आलिंगन किया है। वह निःस्वार्थ उत्सर्ग भारतवर्ष की पवित्र से पवित्र गाथा है।

धर्मवीर विष्णुकुमार मुनि ने कितने कष्ट से धर्म की रक्षा की थी? नमूची प्रधान के द्वारा साधुओं पर किये हुए भीषण अत्याचार के सामने विष्णुकुमार मुनि ने घुटने नहीं टेक दिये। उन्होंने अत्याचार का डट कर प्रतीकार किया और साधुओं की रक्षा की।

विष्णुकुमार मुनि ने यह एक महान् आदर्श उपस्थित किया है।

आज का दिन यही संदेश देता है कि, दूसरों की रक्षा के लिए, अनीति का प्रतीकार करने के लिए जुट पड़ो। दूसरों के प्रति स्नेहमय प्रवृत्ति करो। आज का दिन स्नेह और आत्मीयता बढ़ाने का दिन है। यह विराट बनने का त्यौहार है।

२७-८-५०

(१६)

कृष्ण जन्माष्टमी

●

आज का दिन जन्माष्टमी का दिन कहलाता है। अष्टमियाँ तो और भी आती हैं और हर महीने में दो आती ही हैं, और उनमें भी मनुष्यों का जन्म हुआ ही होगा और एकम, दूज, तीज आदि कोई भी तिथि क्या ऐसी बीतती है जिसमें कोई न कोई जन्म न लेता हो ? जन्म तो मिनिट २ में होते ही रहते हैं। अज्ञात दुनिया की बात छोड़ दीजिए और वैज्ञानिकों ने जिस दुनिया का पता लगाया है, उसी दुनिया की बात लीजिए। कहते हैं, जाती हुई छोटी सी दुनिया में प्रति मिनिट साठ हजार मनुष्य जन्म लेते हैं। इस प्रकार हर मिनिट एक छोटा सा नगर भूमण्डल पर उतर आता है। एक नवीन नगर खड़ा हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि इस पृथ्वी पर मनुष्य जन्म लेते ही रहते हैं और मरते ही रहते हैं। किन्तु और महीनों की अष्टमियों को जन्माष्टमी नहीं कहते। इसका क्या कारण है ? क्यों यही अष्टमी जन्माष्टमी कहलाई ?

कारण यह है। जो जन्म लेता है और चला जाता है, किन्तु जिसका जन्म संसार के कल्याण के लिए नहीं है, जिसका जन्म दूसरों की आंखों में नहीं चमका, जो यह नहीं बतला सका कि हमने जन्म लेकर क्या किया है और जब चला गया तो संसार को अपनी याद नहीं करा सका, उसका जन्म, जन्म, नहीं है।

हजारों कीड़े-मकोड़े जन्म लेते हैं और संसार से विदा होते हैं। जब जन्म लिया तो किसी को मालूम नहीं हुआ और विदा हुआ तो उठ कर एक कोने से दूसरे कोने में चला गया, किसी को पता ही न चला। और फिर किसी ने स्मरण नहीं किया। ऐसा जन्म लेना भी कोई जन्म लेना है।

जन्म उसका सार्थक होता है जो किसी महान् उद्देश्य को पुरा करता है, जो जगह खाली है उसे भरने की कोशिश करता है और इस प्रकार भरता है कि जब वह उसे खाली करके जाता है तो जनता को वह जगह खाली ही मालूम पड़ती है और हजारों वर्षों तक जनता महसूस करती है कि यह जगह खाली है और भरी नहीं गई है। उसी का जन्म सार्थक होता है।

किसी महापुरुष के जन्म लेने के कारण यह अष्टमी जन्माष्टमी कहलाई उसने जन्म लेकर एक खाली जगह को भरा और इस रूप में भरा कि आज भी हम उसे स्मरण करते हैं। उस जगह को भरने में उस महापुरुष को क्या-क्या प्रयत्न करने पड़े, कितना पुरुषार्थ करना पड़ा कहाँ-कहाँ और कितनी बार प्राणों की बाजी लगानी पड़ी और कहाँ-कहाँ जिंदगी की कुर्बानी करनी पड़ी और कितने कष्ट उठाने पड़े, आज यही सब याद आ जाता है।

जैनधर्म के माने हुए भारतवर्ष के इतिहास के अनुसार ८६ हजार वर्ष का पुराना इतिहास हमारी आंखों के सामने चमकने लगता है। और न चमके तो वह जन्माष्टमी ही क्या आई?

अष्टमी यों ही आती थी और चली जाती थी। इस रूप में उसका कोई महत्त्व नहीं था। किन्तु कर्मयोगी कृष्ण ने जन्म लेकर इस अष्टमी को महत्त्व प्रदान किया और हमारे लिए एक महत्त्व-शाली पर्व बना दिया।

तिथियाँ यों ही आती और जाती रहती हैं, किन्तु किसी महापुरुष का प्रसग जिस समय के साथ हो जाता है, जिस तिथि के साथ उनका संबंध जुड़ जाता है, वही अजर-अमर और स्मरणीय हो जाती है। जैसे चैत्र सुदि तेरह भूतकाल में कितनी ही आईं और चली गईं, किन्तु जिस तेरह को भगवान् महावीर ने जन्म लिया वह तेरह अजर-अमर हो गई। वैशाखी पूर्णिमा क्या एक बार ही आई थी? नहीं, कितनी ही आई और गई, किन्तु जिस वैशाखी पूर्णिमा के साथ संपर्क साधकर बुद्ध ने ससार को अहिंसा और दया का संदेश दिया, वह लाखों और करोड़ों के लिए अमर हो गई। इसी प्रकार भाद्रपद आया और अंधेरी आठम भी आई और चली गई, किन्तु कृष्ण ने जन्म लेकर और उस काल के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर, उस क्षणभंगुर काल को भी अजर-अमर बना दिया। वह सुनहरे पृष्ठों में जुड़ गया और हजारों वर्ष बीत जाने पर भी उसकी चमक कम नहीं हुई।

तो महापुरुष जिस दिन जन्म लेते हैं, उसे हम उनकी जयन्ती दिन कहते हैं। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वीर-जयन्ती कहते हैं, चैत्र शुक्ला नवमी को राम-जयन्ती कहते हैं और इस भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को कृष्ण-जयन्ती कहते हैं।

कोई भी जयन्ती क्यों न हो, 'जयन्ती' के भीतर से जय का स्वर सुनाई देता है। 'जयन्ती' शब्द सुनते हैं तो हृदय में विजय की रागिनी बजने लगती है और भैरवी राग की झंकार उठती है।

मनुष्य मात्र विजय का अभिलाषी है। पराजय कौन चाहता है? हार किसे पसन्द है? बच्चे भी जब संघर्ष करते हैं तो विजय के लिए छटपटाने लगते हैं। दो खिलाड़ी खेल खेलते हैं और यद्यपि उनकी विजय विनश्वर है, किन्तु उसके लिए भी जी-जान से संघर्ष करने लगते हैं। घर में या इधर-उधर बिरादरी में किसी ने कोई बात कह दी। उसकी बात मानी जाय तो उसकी विजय है और उस विजय के लिए वह सारी शक्ति खर्च कर देता है।

इस प्रकार संसार में, एक कोने से दूसरे कोने तक, जितने भी प्राणी हैं, सब विजय की ही राह पर चलने की कोशिश करते हैं। परन्तु सच्ची विजय प्राप्त करने वाले विरले ही होते हैं। वही विरले पुरुष महापुरुष कहलाते हैं और उन्हीं का जन्म दिवस 'जयन्ती' कहलाता है—विजय का दिन कहलाता है।

कृष्ण हमारे सामने एक महान् विजेता के रूप में आते हैं और जिन्दगी की आखिरी पीढ़ियों में भी उन्होंने अपनी विजय को पराजय के रूप में परिवर्तन नहीं होने दिया।

वे संसार में आये तो सुख और दुख दोनों को लेकर आये। वे काँटों पर भी चले और फूलों पर भी चले। सोने के सिंहासन पर भी बैठे और कंकर-पत्थर वाली जमीन पर भी बैठे। उन्होंने अपनी जिंदगी सुख में भी गुजारी और दुःख में गुजारी, मगर कभी हार नहीं मानी। वे जीवन भर संघर्ष करते रहे, कठिनाइयों से लड़ते भिड़ते रहे, किन्तु निराश और हताश होना किसे कहते हैं, यह उन्होंने कभी नहीं जाना। अपने जीवन-संग्राम में उन्होंने कभी थकावट का अनुभव नहीं किया। इसी कारण तो आज के दिन को हम जयन्ती-विजय का त्योहार कहते हैं।

कृष्ण का जन्म कहाँ हुआ ? वह महल में नहीं, जेलखाने में जनमे। और जेलखाना भी किसका था ? किसी ऐसे-वैसे का नहीं, कंस जैसे दैत्य का था, जिसके चारों ओर बड़ी शक्ति जमा थी। कंस का आदेश था—जो जन्म ले उसे उसी समय मार दो। इस प्रकार कृष्ण के जन्म से पहले ही मौत मुंह फाड़े खड़ी थी। आने से पहले ही विदा कर देने की तैयारियाँ हो चुकी थीं। जनमने से पहले ही कत्ल कर देने के सामान मौजूद थे। इस प्रकार कृष्ण को महल में जन्म लेने का अवसर नहीं मिला, जेलखाने में जन्म लिया और वह जेलखाना भी आजकल जैसा नहीं, मौत का जेलख़ाना था। वहां जन्म से पहले ही मौत का पहरा था।

फिर भी वह महान् आत्मा आती है और उस जेलखाने के द्वार में से भी पार हो जाती है और मौत का पहरा बैठा ही रह जाता है। किसी को पता नहीं चलता कि कब आये और कब पार हो गये।

उसके बाद कृष्ण का बचपन आता है। उनका बचपन का पालन-पोषण ग्वालों में हुआ, उन ग्वालों में जो एकदम अनपढ़ और गंवार जिनकी हजार पीढ़ियों में भी शायद किसी ने क़लम नहीं पकड़ी और जिन्हें जीवन की कोई जानकारी नहीं। जिनमें नागरिकता नहीं, साधना नहीं और संस्कृति नहीं। ऐसे वातावरण में पल-पुस कर भी उन्होंने अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से जीवन का उत्कर्ष किया। अनुकूल संयोग न मिलने पर भी उस महान् पुरुष का जीवन संसार के सामने आता है तो उन लोगों को चुनौती देता हुआ आता है, जो कहते हैं—हम कुछ नहीं कर सकते। साधन नहीं है, हम कुछ नहीं कर सकते। अनुकूल वायुमंडल नहीं है, इसलिए हम असमर्थ हैं। हमारा जीवन चारों ओर से अभावों में छिपा पड़ा है।

कृष्ण का जीवन ललकार कर कहता है—मेरे पास कौन से साधन थे ? किन साधनों को लेकर मैंने जन्म लिया था ? ग्वालों में पला तब कौन से साधन थे ? सम्राट बना तो कौन से साधन थे ? भारत के नेतृत्व करने के और भारत की संस्कृति का निर्माण करने के कौन से साधन थे ? मुझको क्या साधन प्राप्त थे ? फिर क्यों साधनों के नाम पर रोते और गिड़गिड़ाते हो ? तुम्हारे पास दृढ़ मनोबल नहीं है, आगे बढ़ने का संकल्प नहीं है और साधनों के लिए रोते हो।

वायुमंडल भी मिलता नहीं, बनाया जाता है। वातावरण का निर्माण करना पड़ता है। बने-बनाये वातावरण में आगे बढ़े तो क्या मर्दानगी दिखाई ? जो स्वयं वातावरण बनाता है और आगे बढ़ता है, वही सच्चा मर्द है और वही महान् आत्मा है। उसी की जन्म कहानी हमारे लिए आदर्श बनती है।

तो कृष्ण का जीवन उन बच्चों, जवानों और बूढ़ों के लिए एक बड़ी चुनौती है, उन्हें निराशा ने चारों ओर से घेर लिया है, जो कहते हैं कि हमारे पास कोई साधन नहीं हैं, हमारे सिर पर किसी की छत्र-छाया नहीं है और अनुकूल वातावरण नहीं है। हम क्या करें ? हम कर ही क्या सकते है ? हमारा जीवन तो अंधकार में जा रहा है।

कृष्ण मानों पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—मेरी ओर देखो। मुझे कौन-सा सुनहरी महल मिला था ? अरे, वह तो बनाया जाता है। मुझे क्या वातावरण मिला था ? कौन बना-बनाया जीवन मिला था ? महल नहीं मिला है और वातावरण भी नहीं मिला है, तो निराशा की क्या बात है ? तुम्हें अगर प्रचण्ड जीवनशक्ति प्राप्त है, तो वही बहुत है, वही तो सब कुछ है। प्रचण्ड जीवनशक्ति है तो सभी साधन मिल जाएँगे। और वह न होगी तो मिले हुए साधन भी

नष्ट हो जाएँगे और जीवन बर्बाद हो जायगा, वही साधन जीवन को नष्ट कर देंगे।

बीज में यदि जीवनशक्ति है और जमीन में गड़ कर भी वह उभरना जानता है, तो मिट्टी में दबा देने पर भी वह दबा नहीं रहता। नया जीवन लेकर वह बाहर आता है। उसे मिट्टी भी कहती है—उभर, उभर, बढ़, बढ़! और पानी की धारा भी कहती है—मैं भी सेवा में उपस्थित हूँ। आपको बढ़ाने में सहायता करने आई हूं। सूर्य की किरणें भी कहती हैं—हम आपको बढ़ाने आई हैं। हवा का झौंका कहता है—बढ़े जाओ, मैं आपको सहलाने आया हूँ, आपको पंखा कर रहा हूँ।

मगर यह सब सहायक मिलते तभी हैं जब बीज में जीवन-शक्ति होती है। जीवनशक्ति के रहते प्रत्येक साधन बीज को ऊपर लाने और बढ़ाने में जुट जाता है। एक दिन वह ऊपर आता है और वृक्ष का रूप धारण करके फलता और फूलता है और सैकड़ों वर्षों तक संसार को अपने फल देता रहता है।

किन्तु बीज यदि सड़ा हो, उसमें जिदगी न हो और प्राण न हों, तो क्या होगा? उस बीज को जमीन में गाड़ोगे तो ऊपर आ जायगा? कभी नहीं, मिट्टी उससे कहेगी—मैं तुझे गलाती हूँ। पानी कहेगा—ले, मैं तुझे सड़ाता हूँ। हवा कहेगी—मैं तुझे सुखाती हूँ। सूर्य की गर्मी कहेगी— ठहर जा, मैं तुझे भून कर रख दूँगी।

वही की वही चीजें हैं, किन्तु जिन्दा बीज के लिए वे उपहार बन जाती हैं और मुर्दा-जीवन शक्तिहीन बीज के लिए वही संहार रूप हो जाती हैं। इस उदाहरण से हमें साधन के बल का पता लग जाता है। यह मत समझो कि जिसके पास साधन है, वही बनेगा।

नहीं, आपमें जीवन है तो सब कुछ बनेगा। जीवन नहीं है और शक्तियाँ नहीं है तो कुछ बनने वाला नहीं है।

दीपक की एक नन्हीं-सी लौ चमकने की कोशिश करती है, किन्तु हवा का झोंका आता है और बुझा कर भाग जाता है और जब वन में दावानल सुलगता है तो क्या होता है? वही हवा का झोंका उसे विराट रूप देता है और कहता है कि मैं तेरे साथ हूँ। कहो, जो हवा दीपक को बुझा गई थी, वही वन में लगी आग को एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला देती है। वह दावानल का सहायक बन जाती है।

अपने जगत् या इन्सानी दुनिया में भी यही बात है। यदि किसी में इन्सानी जिन्दगी जिन्दा है और वह अच्छाइयों के लिए जुट जाय तो ऊपर उठ सकता है, किन्तु जिसमें प्राण नहीं, उत्साह नहीं, साहस नहीं और संसार में जीवित रहने की कला नहीं, जो संसार में आया मुर्दार हो कर आया है, उसके लिए वही साधन और संसार की चीजें उलटा रूप ग्रहण कर लेती हैं और उसके विनाश का कारण बन जाती है।

तो कृष्ण में जीवनशक्ति के बीज मौजूद थे। वे जन्मे तो कंस ने कहा—मैं मार कर छोड़ूँगा। जब उसकी कैद से निकले और ग्वालों के यहाँ आये, तब भी कंस के षड्यंत्र चलते रहे। बड़े हुए तो जरासंध अकड़ने लगा और कहने लगा—मैं मार कर छोड़ूँगा। फिर शिशुपाल ने भी मारने की तैयारियाँ की। मतलब यह कि उसके जीवन को समाप्त करने के लिए एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी घातक तैयारियां होती रहीं, किन्तु ज्यों-ज्यों उन्हें बर्बाद करने की कोशिशें की गई त्यों-त्यों वे चमकने लगे।

कृष्ण सचाई और नीति के पथ पर थे। इसलिए वे किसी भी प्रसंग पर घबराए नहीं। जिसके पास सचाई है, उसे विरोध से घबराने की क्या आवश्यकता है ? सुनो, अगर आप सच्चे हैं तो आपके ऊपर जितने भी कष्ट और संकट आएँगे, आपकी सचाई दुनिया के सामने व्यक्त होती जायगी। जिसमें सचाई नहीं है, वह नष्ट हो जायगा। इसलिए अगर आप कोई भी छोटा-सा भी सिद्धान्त रखते हैं और उस सिद्धान्त के प्रति सच्चे हैं, तो विरोधों से मत घबराइए। संसार आपको हजार गालियाँ देता है तो भी मत घबराइए। आप अपने सत्य के सहारे चलते जाइए और एक दिन आपके जीवन में चमक आ जायगी। वह विरोध ही सहयोग के रूप में परिणत हो जायगा। इस भाव में कृष्ण के जीवन को देखें तो वह मंत्र के रूप में है। उनका जीवन समुद्र है, विराट समुद्र है।

कृष्ण के जीवन का गोपालन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कृष्ण का स्मरण करें और उनके आसपास खड़ी हुई गायों की कल्पना न आवे, यह सम्बन्ध नहीं मालूम होता। कृष्ण के नाम लेते ही जैसे मोरमुकुट और बांसुरी हमारी आँखों के सामने झूलने लगती है, उसी प्रकार गायें भी झूलने लगती हैं।

कृष्ण के जीवन का निर्माण कहाँ हुआ ? उनसे पूछो कि कहाँ पढ़े हो लाला ? कौन-से गुरुकुल में शिक्षा पाई है ? एक ही उत्तर मिलेगा—हमारा गुरुकुल गो-कुल ही है। हमारा विद्यालय या विश्वविद्यालय गायें ही रही हैं। उन्हीं की छाया में यह जीवन चला है और पला है। मैंने अपना जीवन कहाँ गुजारा है ? सुनो—

गावो मे पृष्ठतः सन्तु, गावो मे सन्तु चाग्रतः।
गावो मे पार्श्वतः सन्तु, गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

गायें मेरे पीछे हों, गायें मेरे आगे हों और गायें ही मेरे अगल-बगल में हों और गायों के बीच में मैं होऊँ, तो वहाँ अलौकिक आनन्द आता है। मैं उस आनन्द के आगे संसार के सभी आनन्दों को निछावर कर सकता हूँ।

गायों के झुण्ड के झुण्ड चल रहे हैं और आगे बढ़ रहे हैं, और उनके बीच में कृष्ण जब अपनी लकुटिया और कम्बल लेकर चलते थे, उन्हें अपूर्व आनन्द आता था। दर्शकों का चित्त भी मुग्ध हो जाता था। कवि रसखान ने मुसलमान होते हुए भी, कृष्ण भक्ति मे लीन होकर व्रज भाषा में अपने भाव व्यक्त किये हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूं पुर के तज डारूं।

गायों के झुंड के साथ चल रहें हैं। कभी आगे और कभी पीछे हो लेते हैं। कभी दाएँ और कभी बाएँ हो लेते हैं। गायों पर अपार स्नेह है, परम प्रीति है और वृन्दावन में घूम रहे हैं। उन्हें वह लकुटी और कम्बली इतनी प्यारी है कि उसके बदले तीनों लोकों का राज्य मिले तो उसे भी ठोकर लगा दें।

जैसे कृष्ण एक दिन अर्जुन के सारथी बने थे, उसी प्रकार वे उस समय गायों के भी सारथी बने थे।

आजकल लोग विश्वविद्यालयों से एम० ए० आदि की पदवियां लेकर निकलते हैं और बड़े-बड़े पुछल्ले लगा कर निकलते हैं, मगर उन्हें भी जीवन की वह कला नहीं सिद्ध होती, जो कृष्ण ने गायों में रहकर सीखी थी। ऊँची २ दीवारों के घेरे में रहकर दुनिया भर के इतिहास और भूगोल को रट लेना किताबी शिक्षण हो सकता है, किन्तु जीवन का शिक्षण नहीं हो सकता।

सूरदास ने कृष्ण की बचपन में गायों सम्बन्धी मनोवृत्ति का बड़े ही मधुर शब्दों में वर्णन किया है। ग्वालों के और-और लड़के गायें चराने जाते हैं। यह देख कर कृष्ण के मन में आता है कि मैं भी क्यों न जाऊँ? तब वे अपनी माता से कहते हैं:—

मैया ! मैं गैयां चरावन जैहों।
वृन्दावन के भांति-भांति फल, अपने करतें खैहो॥

जान पड़ता है, कृष्ण के चित्त में एक पीड़ा उत्पन्न हुई। वे कहते हैं—तुम गायों को दूसरे के साथ चरने भेजती हो तो मुझे दुःख होता है। जो गायें अमृत अर्पण करती हैं—दूध देती हैं, उन्हें दूसरों के भरोसे छोड़ देती हो। वह दूध अपने पुरुषार्थ का नहीं है। आज मैं स्वयं गायें चराने जाऊँगा और वृन्दावन के तरह-तरह के फल अपने ही हाथों तोड़-तोड़ कर खाऊँगा। दूसरों के तोड़े हुए और घर पर लाये हुए जो फल तुम मुझे देती हो, वे तो बासी हो जाते हैं। उनमें वह आनन्द नहीं है। आज मैं स्वयं जाऊँगा और स्वयं तोड़-तोड़ कर फल खाऊँगा।

माता ने कहा—तुम बहुत सुकुमार हो, धूप बर्दाश्त नहीं कर सकोगे। फिर पहले ही कुछ काले हो, धूप लगने से और भी काले पड़ जाओगे। और जब भूख लगेगी तो वहाँ घर कहाँ से आयगा?

कृष्ण कहते हैं—मुझे भूख लगती ही नहीं। तू तो जबर्दस्ती मेरे गले में ठुंसती रहती है। और तेरा मन रखने को मैं निगल जाता हूँ। मुझे भूख की और धूप की परवाह नहीं। मुझे जाने दो।

एक राजपुत्र स्वयं गायें चराने के लिए हठ करता है। उसे भेजा नहीं जाता तो गायों के पीछे-पीछे भाग जाता है। कभी पकड़ कर जबर्दस्ती लौटा लिया जाता है और कभी-कभी जाने दिया जाता है। मगर सवाल तो यह है कि वह क्यों जबर्दस्ती तैयार होता है? गायों के प्रति उसके हृदय में अपार करुणा है और स्वाभाविक प्रीति है। वह किसी काम को छोटा और किसी को बड़ा नहीं समझता। कर्त्तव्य, कर्त्तव्य है, उसमें छोटापन क्या और बड़ापन क्या? सोने के सिंहासन पर बैठ कर उसने पैर धुलवाये और पुजवाये, किन्तु वह पैर धोने को भी तैयार रहता है।

एक बार युधिष्ठर ने कोई उत्सव किया। उस प्रसंग पर बड़े-बड़े आदमी आने वाले थे। काम का बंटवारा हो रहा था किसी ने अपने जिम्मे उतारने की व्यवस्था ली, किसी ने भोजन की, किसी ने कुछ, किसी ने कुछ। अन्त में कृष्ण से पूछा गया—आप क्या करेंगे? कृष्ण ने कहा—पहले यह तो देख लो कि कौन-सा काम शेष रह गया है? उत्तर मिला—बड़े-बड़े सभी काम बंट चुके हैं। तब कृष्ण ने कहा—बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं है। महलों में बड़े-बड़े लोग प्रवेश करेंगे और हमारे यहां पैर धोने का रिवाज है। तो मैं यही काम करूँगा। पादप्रक्षालन का कार्य मुझे सौंप दो।

कृष्ण ने सहज भाव से पैर धोने का काम अपने जिम्मे ले लिया। उन्होंने कभी नहीं देखा कि कौन काम बड़ा और कौन छोटा है? अगर कोई काम छोटा है और उसमें जीवन का रस उंड़ेल दिया जाय, प्रेम और स्नेह का रस डाल दिया जाय, तो वही बड़ा हो जाता है। और किसी ने बड़ा काम ले लिया, किन्तु उसमें जीवन का रस, प्रेम और स्नेह न निचोड़ा गया और वह सूखा ही सूखा रहा और

उसको रोते-रोते और अहंकार में घुलते-घुलते किया, तो वह क्षुद्र है, वह बड़ा नहीं है।

कृष्ण के महान् जीवन का रहस्य अपनी समस्याओं को आप ही हल करने के उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त में निहित है। आपने गोवर्द्धनपूजा के विषय में सुना है? वह प्रसंग इस प्रकार है:—

गोकुल में और व्रजभूमि में इन्द्रपूजा का बड़ा महत्त्व था। लोग मिल कर हजारों दूध के घड़े, इन्द्र के नाम पर जमीन में उंड़ेल देते थे। उस समय के लोगों की ऐसी मान्यता थी कि इन्द्र हमारे लिए वर्षा बरसाएगा, घास पैदा करेगा और बीमारी से हमारी रक्षा करेगा। यह भ्रान्ति उनके जीवन में घुल-मिल गई थी। इन्द्र उस समय ऐसा देवता बन गया था कि उसके नाम से सब डरते थे। इस कारण अमृततुल्य दूध, जो मनुष्य जीवन के लिए परम उपयोगी है, इन्द्र के नाम पर तर्पण कर दिया जाता था, कहना चाहिए बर्बाद कर दिया जाता था।

तब कृष्ण ने कहा—इन्द्र है कहाँ? वह क्या करता है? जिस इन्द्र की पूजा कर रहे हो, उसे कभी किसी ने देखा भी है? तुमने उसके दर्शन किये हैं? और जब कभी बीमारी आई तो इन्द्र रक्षा करने को आया? वर्षा नहीं होती तब इन्द्र कहाँ चला जाता है? और जब अतिवृष्टि होती है तो कभी तुम्हें बचाने आता है? फिर क्यों उस इन्द्र के चक्कर में पड़े हो जिसे कोई जानता नहीं, पहचानता नहीं और जो हमारे काम कभी आता नहीं।

कृष्ण फिर कहते हैं—असली इन्द्र तो गोवर्द्धन पर्वत है। यही पहाड़ अच्छा है। यह हमारी गायों को चरने के लिए घास

देता है। और हमारे उपयोग के लिए लकड़ियाँ देता है। इस पर से गुज़रे हुए पानी से नदियाँ और तालाब भर जाते हैं। अतएव यही इन्द्र है। अतएव अतिवृष्टि होगी और गांव में पानी भर जायगा तो इस पर चढ़ कर हम अपनी रक्षा कर सकेंगे। यह गोवर्द्धन ही हमारा उपकारक है और इसी की पूजा करनी चाहिए।

जो लोग देवी-देवताओं की पूजा में अपनी बहुत-सी शक्ति खर्च कर देते हैं, उनके लिए कृष्ण ने वास्तविक यथार्थवाद के रूप में कहा है कि जीवन की समस्या तो पहाड़ों से और पृथ्वी से ही हल होती है। आकाश से रोटियाँ नहीं बरसेंगी। उन्हें तो पुरुषार्थ से और पहाड़ों और खेतों में से ही पैदा करना होगा। उन्होंने साफ शब्दों में कहा—

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्

—भागवत

अगर कोई ईश्वर है भी तो वह भी तुम्हारे कर्मों के अनुसार ही फल देगा। अतएव कर्म ही सर्वोपरि हैं और सबसे बड़े हैं।

मैंने जब इस अध्याय को देखा तो खयाल आया कि यहाँ जैन दार्शनिक ही बोल रहा है और देवी-देवताओं का आश्रय छोड़ कर कृष्ण अपने जीवन की समस्याओं को अपने आपसे ही हल करने की प्रेरणा कर रहे हैं।

इस फिलॉसफी को पढ़ कर ऐसा मालूम पड़ा कि भागवतकार ने जो रूप दिया है, उसका आशय यह है कि यदि कोई ईश्वर हमारा भाग्यविधाता है तो हमें कर्म करने की क्या आवश्यकता है? वह स्वेच्छा से हमारे भाग्य का निर्माण कर सकता था। किन्तु नहीं, हमारे भाग्य का निर्माण हमारे ही भले-बुरे कर्मों के अनुसार होता

है। ऐसी स्थिति में ईश्वर को भाग्य का निर्माता न मान कर अपने पुरुपार्थ पर ही भरोसा करना चहिए। इस प्रकार कृष्ण अपने जीवन समस्याओं को अपने द्वारा ही हल करने की बात कहते हैं। उन्होंने अपने जीवन में भी, अन्तिम समय तक, यही आदर्श रक्खा है।

जब कृष्ण आये तो उन्होंने अपने पुरुषार्थ से ही सारी समस्याएँ हल कीं। वे किसी दृश्य या अदृश्य शक्ति की सहायता की आशा में नहीं बैठे रहे। कृष्ण के जीवन में पुरुषार्थवाद की चमक स्पष्ट देखाई देती है। यह आदर्श आज भी हमारे लिए बड़ी महत्त्व की वस्तु हैं।

वे कहते हैं—इन्द्र से तो पाषाण भी अच्छा है। यह बात कहने में तो कटाक्ष-सी लगेगी, किन्तु जीवन का यथार्थवाद कभी-कभी कठोर रूप में ही हमारे सामने आता हैं।

वास्तव में कृष्ण का जीवन पुरुषार्थ और उद्योग का महान् संदेश देने वाला जीवन है। आदि से अन्त तक उनके जीवन में पुरुपार्थवाद की ही प्रेरणा लक्षित होती है। वे पुरुषार्थ और उद्योग के द्वारा ही उच्चतम श्रेणी पर पहुँचे और दूसरों को भी उन्होंने यही मार्ग बतलाया।

एक बार जरासध ने यादवों को चुनौती दी—या तो कृष्ण और बलराम को सौंप दो या लड़ने को तैयार हो जाओ। यादव लोगों ने मंत्रणा की। सोचा—जरासध जैसे दैत्य से लड़ना और विजय पाना सम्भव नहीं है। लड़ाई का परिणाम यही हो सकता है कि सुरक्षित व्रजभूमि बरबाद हो जाय और अन्त में कृष्ण और बलराम भी सुरक्षित न रहे।

उस समय कृष्ण ने कहा—सारी यादव जाति ब्रजभूमि को छोड़ दे और रहने के लिए कोई दूसरी भूमि तलाश करले तो क्या हानि है ?

यह सुन कर कुछ बुढ़े लोग, जिन्हें मातृभूमि का मोह था, छटपटाने लगे और कहने लगे हजारों वर्षों से हमारे पूर्वज यहाँ रहते आये हैं। आज हम इस भूमि को कैसे छोड़ दें ? और छोड़ दें तो कहाँ जाएँ ? इस कथन के उत्तर में कृष्ण ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है—

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्,
स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।
तातस्य कूपो ऽयमिति ब्रुवाणा,
क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति ॥

जिनके पुरुषार्थ में ताकत है, वे संसार में जहाँ भी जाएँगे। वहीं अपना कदम जमा लेंगे। जो संसार में जीने के लिए आये हैं, मरने के लिए नहीं आये हैं, और जो उठने-बढने-लड़ने के लिए आए हैं, सड़ने लिए नहीं आए हैं, वे मातृभूमि के वृथा मोह में पड़ कर क्यों अपना सर्वनाश होने देंगे। घर में पड़े-पड़े क्यों सड़ेंगे ? वे तो जहाँ जाएँगे, आनन्द मंगल करेंगे। जहाँ भी जाएँगे, सोने के महल खड़े कर लेंगे। तो यादवों का भाग्य जहां कहीं पहुँचेगा, अपने उत्थान का निर्माण कर लेगा। और ब्रजभूमि छोड़नी है तो छोड़ दो, उसका मोह तज दो। स्वर्ग का राज्य मिला हो और वह अनुकूल न हो तो उसको भी छोड़ देने में क्यों हिचकना चाहिए ? यादव जहां कहीं पहुँचेंगे, सब कुछ तैयार कर लेंगे। जब जन्म लिया तो कौन क्या लेकर आया था ? आखिरकार तो बाद में ही सब कुछ बनाया गया है।

कृष्ण कहते हैं--किसी के बाप ने कुआ खुदवाया और उसका पानी खारा निकल गया? लड़के पुरुषार्थी नहीं हैं। और वही खारा पानी पीते हैं और बीमारी भोगते हैं। दूसरे जगह से मीठा पानी नहीं मंगवाते और कोई मगवाने की सलाह देता है तो कहते हैं--यह कुआ हमारे बाप का खुदवाया हुआ है। यदि हम ही इसका खारा पानी नहीं पीएँगे तो दूसरा कौन पीएगा? कृष्ण ने कहा--यह कौनसी बुद्धिमत्ता है कि बाप के नाम पर खारा पानी पीते रहना और मरते रहना, किन्तु पास ही मीठे जल का कुंआ हो तो उसका मीठा पानी नहीं पीना। जीवन मीठा पानी पीने के लिए है, खारा पानी पीने के लिए नहीं।

कृष्ण की बात लोगों की समझ में बैठ गई। यादवों का बहुत बड़ा काफला मीठे पानी की तालाश में चला। ओह, सारी यादव जाति का हिजरत करना जीवन की कितनी बड़ी परीक्षा है? उस काफले में दुधमुँहे बच्चे भी थे, बहिनें भी थीं, बूढ़े भी थे और नौजवान भी थे। इतना बड़ा काफला हिज्र करता हुआ चला। बीच-बीच में लड़ाइयां होती है, जरासंध की फौज धमकती हुई आती है और दूसरे राजा लोग भी शान्ति से गुजर ने नहीं देते। संघर्ष होते हैं और लड़ाइयां होती हैं। आज हम उन अज्ञात और अपरिचित नौजवानों को याद करते हैं, जिन्होंने अपने भाइयों और बहिनों की रक्षा के लिए और काफले की रक्षा के लिए अपने जीवन की कुर्बानी की होगी। उन्हीं की हड्डियों और खून से भरी हुई जमीन पर से काफला गुजरा होगा और द्वारिका पहुँचा होगा। याद आ जाता है-

मृगेन्द्रास्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ?
विक्रमार्जित राज्यस्य, स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥

सिह को मृगेन्द्र कहते हैं। सिंह पशुओं का राजा कहलाता है। किन्तु राजा के रूप में कब उसका अभिषेक किया गया था?

किसने उसे राजा बनाया था ? कौन-सा मुहूर्त्त निकलवाया गया था ? और कौन-से सगी-साथी उसे मिले थे ? किन्तु उसमें पुरुषार्थ जागा और पराक्रम जागा, वह स्वयं राजा बन बैठा। राजा बनाया नहीं जाता राजा बना जाता है।

काफला चलता रहा, बीच-बीच में लड़ता रहा और शान्ति के साथ आगे ही आगे बढ़ता रहा। आखिर पश्चिम समुद्र के तट पर जाकर खड़ा हो गया। उस समय यादव जाति के नेताओं ने कहा—कृष्ण ! आज तक तो हमने निभाया है, अब यह राजमुकुट तुम्हारे सिर पर है। जिन यादवों के पास रहने को एक झोंपड़ी भी नहीं थी, उन्होंने अपना राज्य कृष्ण को दिया। आगे महासमुद्र गरज रहा है और पीछे जाएँ तो कहाँ जाएँ। ऐसे विराट अवसर पर समुद्रविजय ने अपना मुकुट उतारा और कृष्ण के सिर पर रख दिया। कहा—तो, आज से तुम राजा हुए।

कृष्ण ने मुस्करा कर कहा—यह ठीक रहा। आज तक तो आप राजा रहे और सूने जगल का राजा मुझे बना दिया।

समुद्रविजय बोले—तुम्हारे अन्दर शक्ति है, पुरुषार्थ है। तुम सूने जंगल में भी मंगल कर सकते हो।

दुनिया में कई प्रकार के जीवन होते है। कोई माई के लाल होते हैं जो जंगल में भी मंगल कर देते हैं। कई ऐसे भी जन्मते हैं जो मंगल में जंगल का निर्माण कर देते हैं। कोई-कोई जंगल को जंगल ही रहने देते हैं और कोई-कोई मंगल को मंगल ही बनाये रहते हैं। कृष्ण जङ्गल में मङ्गल करने वाले महापुरुष थे।

कृष्ण ने जब राजमुकुट धारण किया तो क्या स्थिति थी ? रहने को एक झोंपड़ी नहीं, खाने को अन्न का दाना नहीं। खुले

आकाश के नीचे उन्होंने राजमुकुट धारण किया। किन्तु अपने प्रबल और अथक पुरुषार्थ से उन्होंने विपुल वैभव और विशाल साम्राज्य हस्तगत किया। कृष्ण के जीवन की महान् सफलता का यह एक उज्जवल उदाहरण है।

वास्तव में कृष्ण का जीवन समुद्र की तरह विशाल और हिमालय की भाँति ऊँचा है। इस प्रकार का स्पृहणीय जीवन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? इसके लिए आपको एक मंत्र याद करना होगा—पुरुषार्थ, पुरुषार्थ, प्रयत्न और फिर प्रयत्न। जीवन में विजय और फिर विजय है। विनाश नहीं, निराशा नहीं अन्धकार नहीं है। जब तुझे एक भी किरण चमकती दिखाई दे तब तू कह कि मुझे तो महान् प्रकाश दिखाई देता है।

कृष्ण के समग्र जीवन का आदर्श विजय है। जहाँ जितना प्रकाश है, जितना उत्साह है, आशा की लहर है और पुरुषार्थ है, वहाँ उतनी ही विजय निश्चित है। वातावरण कितना ही प्रतिकूल क्यों न हो, घबराओ मत, निराश और हताश मत होओ, प्रयत्न करते जाओ। अन्धकार को प्रकाश के रूप में पलट देने की शक्ति तुम्हारे भीतर है।

बस, महान् संकल्प रक्खो, संकल्प के अनुसार बन जाओगे। जो जैसा संकल्प करता है, वैसा ही बन जाता है। गीता में कृष्ण कहते हैं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

सफलता चाहे व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक श्रद्धा के बिना प्राप्त नहीं होती। श्रद्धा या दृढ़ संकल्प सफलता और विजय के लिए पहला कदम है।

४-६-५०

(१७)

विजयपर्व (विजया दशमी)

आज भारतवर्ष के मैदानों में और जहाँ कहीं भी भारतवासी हैं और भारत की संस्कृति है वहाँ, सर्वत्र एक बड़ा त्यौहार और राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है, जिसे हमने 'विजयादशमी' का प्रेरणा प्रद और अर्थसूचक नाम दिया है। विजयादशमी को मैं केवल एक सामाजिक त्यौहार नहीं, राष्ट्रीय पर्व कह रहा हूँ। ऐसा क्यों कह रहा हूँ? इस बात को समझने के लिए हमें भारत के इतिहास पर नजर डालनी होगी। उस पुराने इतिहास पर जब हम नजर डालते हैं तो एक महान् आदर्श और एक महान् प्रेरणा हमारे सामने खड़ी हो जाती है।

आप इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि विश्व के इस विराट रंगमंच पर अनेक प्रकार के महापुरुष अवतरित होते हैं। कभी कभी अच्छे महापुरुष आकर अपने अभिनय-व्यापार से जगत् को विस्मय में डाल देते हैं और संसार में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित करके आनन्द-मंगल की मंदाकिनी प्रवाहित कर देते हैं। किन्तु कभी-

कभी इतिहास बुरे महापुरुषों का भी प्रसव करता है, जिनके कार्य-कलाप संसार की शान्ति का अपहरण कर लेते हैं और त्रास, आतंक भय और उद्वेग को उत्पन्न करते हैं। उनके उच्छृंखल व्यापार से जगत् कराह उठता है।

जब अच्छे महापुरुषों की बात आती है तो आपके मन में किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जब बुरे महापुरुषों की बात कहता हूँ तो आप उलझन में पड़ जाते हैं कि जो बुरे है वे महापुरुष कैसे ? और जो महापुरुष हैं वे बुरे कैसे ? इस प्रकार का विकल्प उठना स्वाभाविक है, क्योंकि साधारणतया दुनिया अच्छे रूप में ही महापुरुषों को पहचानती आ रही है। किन्तु मैं किस विचार एवं दृष्टिकोण से महापुरुषों को दो रूप में बाँट रहा हूँ, यह बात आपके सामने संक्षेप में रख देता हूँ।

जो पुरुष जगत् के साधारण मनुष्यों की भूमिका से ऊँचा उठ जाता है, और उस ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि साधारण मनुष्य उसे स्पर्श नहीं कर पाते, वह महापुरुष कहलाता है। उसमें कुछ जन्मगत और कुछ संस्कार जनित विशिष्टताएँ होती हैं। उसके जीवन में एक प्रकार की प्रचण्डता होती है। हर रुकावट से लड़ने की क्षमता होती है। अपने पथ की विघ्न बाधाओं को उखाड़ फैंकने का अदम्य उत्साह होता है। उसकी इच्छा शक्ति इतनी प्रबल और प्रचण्ड होती है कि जो चाहता है, कर गुजरता है। उसमें अजेय पराक्रम, अप्रतिहत मनोबल और असाधारण लगन होती है।

यही सब चीजें किसी आदमी को महापुरुष बनाती हैं। साधारण से साधारण और क्षुद्र से क्षुद्र झोंपड़ियों में से भी ऐसे कुछ जीवन निकलते हैं और जब निकलते हैं तो घर की चहार दीवारियाँ उन्हें

घेर कर और रोक कर खड़ी नहीं रह सकती। वे मैदान में आते है और शक्ति के पुंज बन कर, ऐश्वर्य और सेज से विभूषित होकर आते हैं और चमकते हुए नजर आते हैं।

यह सब विशेषताएं महापुरुष मात्र की विशेषताए हैं और दोनों प्रकार के महापुरुषों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। फिर भी कोई अच्छा महापुरुष और कोई बुरा महापुरुष कहलाता है, इसका कारण दूसरा है।

किसी महापुरुष की प्रचण्डता में, ऐश्वर्य में, इच्छाशक्ति में और उसके जीवन में लड़ने की गहरी वृत्तियाँ पैदा हो जाती हैं। मन की अशुभ प्रेरणाएं और हृदय के आद्र संकल्प उसकी सभ्यता विशिष्टताओं पर काली घटा की भांति छा जाते हैं। बुरे विचार और बुरे आदर्श उसके जीवन को एक ऐसी दिशा की ओर ले जाते हैं, जहां कि वह अपने आपमें शक्ति प्राप्त करना चाहता है, और उसके लिए लड़ता है और संघर्ष करता है और अपने सुख के लिए हजारों-लाखों की सुख-सुविधा को कुचल देता है। वह दूसरों को रौंदता हुआ चलता है।

वह अपने जीवन में आगे बढ़ा है, किन्तु उसे सही दिशा नहीं मिली। उसने असाधारण शक्तियां प्राप्त की हैं, मगर उन शक्तियों का जगत् के कल्याण के लिए सदुपयोग करने की वृत्ति नहीं पाई। उसकी शक्तियां पर-पीड़न में व्यय होती हैं। ऐसे विशिष्ट शक्तिशाली पुरुष को हम पूरे महापुरुष के रूप में देखते हैं।

इसके विपरीत, महापुरुष की पूर्वोक्त विशिष्टताओं के साथ-साथ जब शुभ संकल्प और सत्प्रेरणाएँ जागृत होती हैं और इसके फलस्वरूप जीवन जब अपने और विश्व के कल्याण में व्यापृत हो

जाता है तो वह महापुरुष अच्छा महापुरुष कहलाता है। ऐसे महापुरुष अपने ऐश्वर्य को अपने तक ही सीमित न रख कर विश्व के कल्याण का साधन बनाते हैं। अपने अदम्य उत्साह को, अपनी प्रबल इच्छाशक्ति को और अपने अथक कर्तृत्व को भूतदया के लिए उत्सर्ग कर देते है। ऐसे महापुरुष जब चमकते हैं तो समग्र विश्व को अपने अलौकिक आलोक से आलोकित कर देते है और हजारों वर्षों तक जनजीवन को प्रभावित करते रहते हैं। उनके जीवन से युग-युग में मानवजाति प्रेरणा के प्राण ग्रहण करती रहती हैं।

जिस युग का यह राष्ट्रीय पर्व है और जिस काल में इसकी नींव पड़ी, उस युग में भारतवर्ष में दो शक्तियाँ ऊँची उठी हुई थीं। एक व्यक्ति राम के रूप में दूसरी रावण के रूप में। रावण भी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। वह अत्यन्त नीतिज्ञ, विद्वान् बलशाली था। बड़ी प्रबल इच्छाशक्तियाँ उसमें विद्यमान थी। उसका प्रताप और ऐश्वर्य ऐसा था कि न पूछिए बात। उसके पैरों से धरती काँपने लगती थी। मगर उसने अपनी शक्तियों का उपयोग जनता के कल्याण के लिए नहीं किया। इसी कारण वह महापुरुष होकर भी बुरा महापुरुष कहलाया। उसने जनता के उत्थान के लिए कुछ नहीं किया। जनता की भी कुछ इच्छाएँ होती हैं, उसकी भी कोई आवश्यकताएँ हुआ करती हैं, जनता भी सुख और शान्ति चाहती है और दूसरों के शरीर में भी हमारा-सा कोमल कलेजा है, यह बात उसने भुला दी। उसने जनता के जीवन को एक ओर डाल दिया और अपनी ही इच्छाएँ और तमन्नाएं उसके लिए महत्त्वपूर्ण हो गईं।

इस रूप में रावण बड़े आदमी के रूप में जगत् के रंगमंच पर जरूर आया, किन्तु उसने अपने बड़प्पन का उपयोग बुराइयों के लिए संहार के लिए और भोग-विलास के लिए ही किया। इस प्रकार

उसकी बुराइयों ने बुरे महापुरुष के रूप में उसे संसार के सामने खड़ा कर दिया।

दूसरी तरफ हमारे सामने राम आते हैं और इस रूप में आते हैं कि वे प्रारंभ से ही अपनी शुभकामनाओं को मङ्गल रूप में देते रहते हैं। वे परिवार या समाज में रहते हैं तो परिवार और समाज के बनकर रहते हैं, देश में रहते हैं तो देश के होकर रहते हैं और विदेश में जाते हैं तो वहाँ भी उनका जीवन जनता के कल्याण के लिए अर्पण होता रहता है।

इस प्रकार एक जीवन चारों ओर से घिर कर अपने अन्दर ही बद हो रहा। ससार की अच्छी वस्तुओं को अपने लिए ही अर्पित करता गया, जब कि दूसरा जीवन अर्थात् राम का जीवन अपनी शक्तियों को परहित में समर्पित करता गया। यही दोनों के जीवन की विभाजक रेखा है। इसी रेखा ने एक को दूसरे से जुदा कर दिया है।

राम की जिंदगी को कहीं से देखना आरंभ कीजिए, सर्वत्र परहितार्थ उत्सर्ग का मंगलसूत्र ही आपके हाथ लगेगा। गन्ने को कहीं से काट कर चखा जाय, मिठास ही आएगा, इसी प्रकार राम के जीवन को कहीं से देखा जाय, भूतहित की भावना ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी।

राम को अयोध्या का राज्य मिलने वाला है। सारी तैयारियाँ हो रही हैं। अयोध्या का समस्त वैभव उनके चरण चूमने को है। सब ओर खुशियां मनाई जा रही हैं। राम के राजसिंहासन पर बैठने की तैयारियाँ देख कर जनता का हृदय हर्ष से विभोर हो रहे हैं। मगर रामचन्द्र गम्भीर चिन्ता में डूबे हैं। मन ही मन विचार कर रहे

हैं कि हमारा रघुवंश इतना ऊंचा है, शानदार है और इतिहास में इतनी ऊंचाइयां पाने के लिए भाग्यशाली है, और उसके नियम और विधान उच्च श्रेणी के हैं, किन्तु—

विमल वंश यह अनुचित एकू।
अनुज विहास बड़ेहि अभिसेकू॥

—तुलसी रामायण

राम विचार करते हैं कि हमारे श्रेष्ठ वंश में, सब अच्छाइयां हैं किन्तु एक ही गड़बड़ी चल रही है। एक ही बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न मेरे अनुज भ्राता हैं हम सब एक साथ खेले हैं और एक रूप में रहे हैं। हमने अपने जीवन में कभी एक दूसरे से ऊंचाई-निचाई का अनुभव नहीं किया। जीवन के क्षेत्र में हम जहां कहीं गये, एक रूप में गये, एक ही स्थिति में गये, और एक ही रूप में जीवन के कदम नापे। हममें कौन बड़ा और कौन छोटा है? न छोटों ने छोटेपन का और न बड़ों ने बड़ेपन का कभी अनुभव किया है। किन्तु आज हमारे बीच में एक दीवार खड़ी हो रही है। छोटों को छोड़ कर बड़े का राज्याभिषेक हो रहा है और बड़े को सिंहासन पर बिठलाया जा रहा है। जो चीज नहीं थी, वह पैदा की जा रही है। मैं राजसिंहासन पर बैठूंगा और मेरे भाई मेरे नीचे सिंहासनों पर बैठेंगे। इस प्रकार यह सिंहासन मेरे लिए एक अजीब समस्या बन गया है। मैं आज्ञा दूंगा हुकूमत करूंगा और मेरे भाई उसे शिरोधार्य करेंगे। इस सिंहासन ने भाई-भाई के बीच अन्तर पैदा कर दिया।

मैं समझता हूँ कि राम के हृदय की यह जो वेदना और तड़फ है, उसी ने उनको इतनी महिमा प्रदान की है। राम के विशाल

और विराट हृदय में जो अन्तः-चेतना है, और जिस रूप में हमारे भारत के सन्तों ने और महान् दार्शनिकों ने और गहराई में गोता लगा कर हृदय को टटोलने वालों ने उसे हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वही राम के जीवन की महान् सम्पत्ति है। राम का बड़प्पन और गौरव इसी वेदना में घुल-घुल कर आगे बढ़ रहा है।

साम्राज्य पा जाने पर भाई, भाई का गला काटने को तैयार रहता है। सोने के सिंहासन के पीछे हजारों माता-पिता बलिदान कर दिये गये हैं। मित्र और दोस्त भी बलिदान कर दिये गये हैं और इतिहास की ओर आँख उठा कर देखते हैं तो हजारों लाशें तड़फती हुई दिखाई देती हैं। किन्तु वही सिंहासन राम को मिल रहा है और वे उसे लेने में हिचकिचा रहे हैं। राम के मन में एक ही चीज खटक रही है और वह यह कि मैं अपने भाइयों से ऊँचे कैसे बैठूंगा? यह सिंहासन जीवन में नई चीज आ रही है और भाई-भाई में भेद कर रही है। यह चीज क्यों पैदा हो रही है?

बस, यहीं राम के गौरव का इतिहास शुरू हो जाता है। आप देखते हैं कि जब सिंहासन के सम्बन्ध में परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और सिंहासन मिलने के मुहूर्त्त पर बनवास मिलता है और राम जङ्गल की राह लेते हैं, तब उनके मन में कोई दुःख नहीं है। वे आनन्द की मस्ती में झूमते हुए, जङ्गल की ओर कदम बढ़ाते हुए, चल देते हैं।

आगे क्या होगा? जनता के सामने गहरा अंधकार है, किन्तु राम के सामने प्रकाश चमकता हुआ मालूम होता है। राम की स्तुति करते हुए एक विचारक ने कहा है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः,
तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य,—
पुनातु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥

—तुलसी

अभिषेक की खबर सुन कर जिस पर प्रसन्नता की झलक नहीं आई और वनवास की सूचना मिलने पर और वनवास की तैयारी करने पर विषाद की झलक न आई, राम के मुख की वह छवि सुख-दुःख में समान रही। इस पर कवि कहते हैं कि राम की वह अलौकिक छवि विश्व का कल्याण करे। वह हमारे जीवन को पवित्र बनाए।

तो राम के जीवन में सुख-दुःख के प्रति जो सहजभाव है, वह उन्हें विराट रूप प्रदान करता है और उनके जीवन के उच्च से उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। यही सहज और उदार भाव उन्हें अच्छा महापुरुष बनाता है।

राम जहाँ कहीं भी जाते हैं, अपने-पराये के रूप में या देश-विदेश के रूप में किसी समस्या पर विचार नहीं करते। वे सर्वत्र जनकल्याण की भावना से ही कार्य करते हैं। वे संघर्ष करते हैं, किंतु व्यक्ति से नहीं, असत्य और अन्याय से। जब रावण, सीता को पकड़ कर ले गया तो राम ने उसके साथ युद्ध किया। किन्तु वह युद्ध वास्तव में रावण के विरुद्ध नहीं, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध था। रावण अन्याय अत्याचार का प्रतिनिधि बन कर सामने आया, यह बात दूसरी थी, मगर रावण के व्यक्तित्व के साथ उनका कोई संघर्ष नहीं था। उन्होंने उस समय यही कहा था कि रावण से नहीं लड़ रहा हूँ। उससे मुझे कोई घृणा नहीं, द्वेष नहीं। सोने की लंका

पर मैं अधिकार जमाने वाला नहीं। सोने का यह वैभव जिनका है, उन्हीं का है। मैं इसमें से एक माशा भी नहीं चाहता मैं असत्य से लड़ रहा हूं। और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष कर रहा हूँ।

राम कहते हैं—जहाँ नारी का अपमान होता है, जहा जनता का जीवन सुरक्षित नहीं है। और जहा एक प्रचण्ड शक्ति अपनी ही इच्छाओं को महत्त्व देती है और अपने भोग-विलास को ही सब कुछ समझती है और सामने जो हजारों इन्सान हैं, उन्हें इन्सान नहीं समझती और समझती है कि यह सब तो मेरे चरण धोने के लिए ही हैं और मेरे जीवन की आवश्यकताओं को ही पूर्ण करने के लिए हैं, जब तक इनसे मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, जब तक यह मेरी प्रजा है और जब मेरी आवश्यकताओं में रुकावट पड़ेगी, मैं इन्हें मच्छर की तरह मसल कर नष्ट कर दूंगा—जहाँ ऐसी स्वार्थमयी वृत्ति है, वहां संघर्ष करना ही मेरा कर्त्तव्य है। इस वृत्ति के साथ संघर्ष करना मनुष्य मात्र का धर्म है।

इस रूप में जब हम राम की मनोभावनाओं का विश्लेषण करते हैं और अध्ययन करते हैं तो समझते हैं कि राम एक सीता के लिए नहीं लडे। वह केवल सीता के लिए लडे होते तो उनकी विजय का यह दिन राष्ट्रीय पर्व का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता था, जिसे जनता हजारों-लाखों वर्षों से बड़े उत्साह और उल्लास के साथ मानती आ रही है। रावण सीता को उठा कर ले गया और राम ने उसे मार कर सीता को वापिस ले लिया, बस इतनी-सी बात होती और दो राजाओं के आपसी संघर्ष तक ही इतिहास सीमित होता और सिर्फ सीता का प्रश्न ही अटका हुआ होता तो, मेरे खयाल से इतिहास ने इस घटना को इतना विराट रूप कदापि न दिया होता।

किन्तु इतिहास ने इस घटना को जो व्यापक और चिरस्थायी महत्त्व प्रदान किया है, वह सूचित करता है कि इसके मूल में कोई व्यापक और विराट उद्देश्य निहित रहा है। उस समय संसार पर असत्य छाया हुआ था, नारी जाति की प्रतिष्ठा खतरे में पड़ी हुई थी और महाशक्तियाँ अपने मद में चूर हो कर छोटी-छोटी सत्ताओं को ग्रस रही थीं और इस रूप में अन्याय और अत्याचार का प्रसार हो रहा था और उसका उन्मूलन करना ही राम के संघर्ष का उद्देश्य था। राम ने संघर्ष किया और अपनी जिंदगी को जोखिम में डाल कर भी संघर्ष किया। उनका उद्देश्य प्रशस्त था। उन्हें जनता का समर्थन मिला। उन्हें विजय की प्राप्ति हुई। सत्य विजय हुआ और विजया-दशमी का महापर्व स्थापित हो गया। सत्य की विजय की चिरस्मृति के लिए।

राम लड़े, उन्होंने शक्ति-भर संघर्ष किया और खून की नदियाँ बह गईं, किन्तु उनके पीछे अशुभ प्रेरणा नहीं थी, विश्वकल्याण की भावना ही उस संघर्ष को प्रेरणा दे रही थी। संसार भर के दीन-दुखियों की आहें उनके साथ थीं और सेना की अपेक्षा वह आहें ही अधिक शक्तिदायिनी थीं। संसार के आंसू और आहों ने राम को वह शक्ति प्रदान की कि वे रावण की प्रचण्ड शक्ति को परास्त कर सके। नहीं तो उनके पास क्या था? कौन बड़ी भारी तैयारी थी? तीन प्राणी अयोध्या से निकले थे और उनमें से भी एक छीन लिया गया था। दो ही बाकी रह गये थे। और दूसरी ओर रावण की असीम और अपरिमित रणसामग्री थी और असंख्य योद्धाओं की फौज थी। दो निरीह व्यक्ति उसके सामने क्या थे?

मगर नहीं, राम की सद्भावना ने और दीनों के आर्त्तनाद ने उन्हें प्रेरणा दी और उसी प्रेरणा से वानरजाति के वीर पुरुष राम

की बगल में आकर खड़े हो गये। महान् वानरजाति के वीरों को पता था कि हम अपना सिर कटाएंगे तो बदले में क्या मिलेगा? मिलने को कुछ भी नहीं था। फिर भी वे आगे बढे। उन्होंने दुनिया की फौलादी छाती तान कर खड़ी हुई रावण की उद्दण्ड शक्ति के मुकाबिले में, अपना और अपने भाई का शरीर लिए खड़े राम का ही साथ दिया। वे नौजवान असत्य से और बुराइयों से लड़ने के लिए और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए संघर्ष करने को डट गए। वास्तव में वे युवक धन्य हैं जो अन्याय और असत्य के विरुद्ध अपनी समस्त शक्तियों को होम देते हैं और ऐसा करते समय धन और वैभव का, शक्ति और सम्पत्ति का कोई लिहाज नहीं करते। जो धन के सामने मस्तक नहीं झुकाते और शक्ति के सामने घुटने नहीं टेकते और हृदय के शुभ संकल्प के साथ अन्याय के विरुद्ध मोर्चा बना कर खड़े हो जाते हैं, संसार की कोई भी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकती।

जब उस समय का इतिहास पढ़ते हैं और एक-एक वीर की करामातों पर दृष्टिनिपात करते हैं तो मुँह से बरबस 'वाह-वाह' की ध्वनि उनके साहस और बलिदान के लिए निकल पड़ती है। वीर वर हनुमान को देखिए वह अपने प्राणों को हथेली पर रख कर जाता है और सीता का भेद ले कर और पता लगा कर लौटता है। यह कोई सामान्य बात थी? हनुमान को मालूम नहीं था कि वह जिंदा लौट सकेगा भी या नहीं? रावण की लंका से सुरक्षित आ सकेगा या नहीं किन्तु उसे कोई भय नहीं, कोई संकोच नहीं, आगा-पीछा सोचने की आवश्यकता नहीं। वह अपने महान् साहस के सहारे मौत के मुँह में चला जाता है और सफल हो कर आता है। वह अपनी जाति के सहस्रों वीरों को इकट्ठा करता है और कहता है—

रामादपि च मर्त्तव्यं, मर्त्तव्यं रावणादपि।

वानरजाति को आज फैसला करना है। एक ओर राम हैं और दूसरी ओर रावण है। दोनों के संघर्ष में वानरजाति का विनाश अवश्यभावी है। हम अलग-अलग नहीं रह सकते। ऐसी स्थिति में हमारे सामने गंभीर प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें किस ओर अपना भाग अदा करना है? संसार के आगे लिखे जाने वाले इतिहास में हमें वानरजाति के विषय में क्या उल्लेख कराना है? राम का साथ देने पर इतिहास हमारे विषय में लिखेगा—

बिना किसी स्वार्थ के, न्याय की प्रेरणा से, एक नारी के उद्धार के लिए वानरजाति ने महान् बलिदान दिया। और यदि रावण की ओर से, असत्य की ओर से हम खड़े होंगे तो इतिहास कहेगा कि हमने एक उच्छृंखल, न्यायहीन और विवेकविहीन राजा का पक्ष लेकर अन्याय और अत्याचार को प्रश्रय दिया।

तो मरना तो है, किन्तु मरने की कीमत कहां अदा करनी है? हमें अपनी शक्ति से सत्य के पक्ष को प्रबल बनाना है अथवा असत्य के पक्ष को सबल बनाना है? आखिर वानरजाति ने न्याय के पक्ष में ही अपना फैसला किया।

राम विदेशी थे, वहाँ उनका कोई संगी-साथी नहीं था और साधनहीन खड़े थे, किन्तु उन्होंने अपने कर्त्तव्य से दिखला दिया कि सत्य संसार में अकेला भी खड़ा हो सकता है। और जब वह खड़ा हो जाता है तो हजारों और लाखों उसके लिए बलिदान करने वाले मिल जाते हैं। ऐसा ही हुआ। लाखों ने सीता के लिए सिर कटवाए और विजयादशमी के दिन राम ने विजय पर्व मनाया और इतने वर्षों

के बाद आज भी हम उस विजय का स्मरण करते हैं और एक राष्ट्रीय पर्व के रूप में इस दिन को मना रहे हैं।

आज इस देश की, और इस देश की ही क्या, सारे भूमण्डल की ऐसी स्थिति है, जैसे भूकंप का झटका लग रहा हो। अन्याय और अत्याचार चारों ओर से पैर पसार रहे हैं। आज एक सीता का नहीं, सहस्रों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने उलझा पडा है और असंख्य दीन-दुखी उसी प्रकार सताये जा रहे हैं, जैसे रावण के राज्य में सताये जा रहे थे। कुछ ताकतें सारे भूमण्डल के ऊपर छा गई हैं जो तलवार के सिवाय और किसी चीज पर भरोसा नहीं करतीं। वे अपनी ही इच्छाओं को दूसरों पर लाद रहीं हैं और दूसरों की इच्छा की कोई कद्र नहीं करना चाहतीं। आप अपनी संस्कृति की नींव पर अपने देश का निर्माण करना चाहते हैं, मगर कोई अपनी ताकत नहीं पूछता। वे चुनौती दे रही हैं कि आपकी संस्कृति और आपका कलचर इसी तलवार से बनेगा। तलवार के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। इस परिस्थिति पर विचार करते हैं तो एक कवि की बात याद आ जाती है—

संसार कयामत के दहाने पै खड़ा है।
रावण तो हजारों हैं, मगर राम कहाँ है ?

सारा संसार प्रलय के किनारे खड़ा हुआ है और घोर अंधकार के सामने खड़ा है। यहाँ रावण की तलाश करें तो हजारों मिलेंगे— इस देश में भी मिलेंगे और बाहर भी मिलेंगे। जहां कहीं तलाश करना चाहेंगे, वहीं मिलेंगे। तलवार की पूजा करने वाले हर जगह मिल रहे हैं। मगर राम का कहीं खोजने पर भी पता नहीं मिल रहा हैं। हमारे जीवन को उस संस्कृति की ओर प्रेरित करने वाला कहीं नहीं दिखलाई दे रहा है, जिस संस्कृति के अनुसार असत्य से लड़ा

जाता है, व्यक्ति से नहीं लड़ा जाता। हमें रावण से लड़ना है, वह हमारे अन्दर है तो वहाँ भी लड़ना है और बाहर है तो वहाँ भी लड़ना है।

आपको मालूम है कि मनुष्य का हृदय और मनुष्य के विचार हजार बार रावण का भी रूप धारण करते हैं और राम के रूप को भी ग्रहण करते हैं। हृदय में जब अच्छी वृत्तियों का आविर्भाव होता है तो हम बुरी प्रवृत्तियों का गला दबोचने के लिए तैयार होते हैं और जब बुरी वृत्तियाँ अपना सिर ऊँचा करके खड़ी हो जाती हैं तो अच्छी वृत्तियाँ दब जाती हैं। इस रूप में हमारे अन्दर निरन्तर सोते और जागते, राम-रावण का संघर्ष होता रहता है। ऐसी स्थिति में आपको सोच लेना है और निर्णय कर लेना है कि आप किसकी पूजा करेंगे—राम की या रावण की? यह नहीं हो सकता कि हम एक तरफ भगवान् को और दूसरी तरफ शैतान को भी बैठा लें। दोनों एक साथ नहीं बैठने वाले हैं। आपने आज तक यही चेष्टा की है—दोनों को साथ-साथ बिठलाने की कोशिश की है और इसी रूप में विजया-दशमी मनाई है। जब तक आप ऐसा प्रयत्न करते रहेंगे और दोनों में एक को—राम को—चुन कर अपने हृदय में नहीं बिठलाएँगे, आपका जीवन विरूप बना रहेगा। जब आप राम को हृदय में विराज-मान कर लेंगे तभी विजयादशमी का यह राष्ट्रीयपर्व आपके जीवन में महान् प्रेरणा जगा सकेगा।

(१८)

ज्ञानपञ्चमी

जैन इतिहास के पृष्ठों में आज का दिन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण दिन है। यह वह चमकता हुआ दिन है, जिसे हम भूल नहीं सकते। बहुत लम्बा समय गुजर चुका है, फिर भी उसकी याद हमारे मस्तिष्क में, आज भी ताजा है और जब तक जैन साहित्य और इतिहास का एक भी विद्यार्थी इस भूमण्डल पर रहेगा, इस दिन का स्मरण किया जायगा।

हम उन महान् आत्माओं और आचार्यों के अत्यन्त ऋणी हैं, जिन्होंने महान् साधना करके और युग की गति को पहचान कर विस्मृति के घोर अंधकार में विलीन होते हुए श्रमण भगवान् महावीर के द्रव्य उपदेश को मूर्त्त रूप देकर बचा लिया और मूलभूत जैन साहित्य को अक्षर-स्वरूप प्रदान किया।

जैन इतिहास में आज का दिन 'ज्ञानपञ्चमी' या श्रुतपंचमी कहलाता है। कुछ भी कहें, दोनों का अर्थ एक ही है।

प्राचीन युग में ज्ञान की धारा, साधकों के मस्तिष्क में बहती चली आ रही थी। हमारा अंग या उपांग के रूप में जितना भी साहित्य था, लिखित रूप में नहीं था, लिपिबद्ध नहीं था, सिर्फ साधकों के मस्तिष्क में ही था। गुरु का मुख होता था और शिष्य के कान होते थे। गुरु ने मुख से कहा और शिष्य ने अपने कानों के द्वार से अपनी बुद्धि के खजानों में उसे भर लिया। बाहर का कोई भी साधन उन्होंने नहीं अपनाया। और बाहर के साधनों की उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी।

कितनी अच्छी स्मृतियाँ होंगी उन महान् आत्माओं की। और मस्तिष्क कितना सुलझा हुआ और साफ होगा। तभी तो इतने विशाल साहित्य-भण्डार को वे अपने मस्तिष्क में सुरक्षित बनाये रख सके। कितना विशाल साहित्य। समग्र चौदह पूर्वों का भारी भण्डार। इस समय तो समुद्र में एक बूंद ही शेष रही है, किन्तु उस समय तो लाखों बूंदें थी, जो समुद्र में बन्द ही रह गई हैं और हमारे पास तक नहीं पहुँच पाई हैं। इसी से उनका विस्मयजनक क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है।

तो श्रुत का महासागर उन्होने अपने मस्तिष्क में बन्द रक्खा और निरन्तर वह एक मस्तिष्क में से दूसरे मस्तिष्क में उतरता रहा और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बहता रहा।

किन्तु कालचक्र बड़ा बलवान् है। समय की गति इतनी द्रुततर है कि ठीक अवसर पर उसे न पकड़ा गया तो वह हाथ से निकल जाता है। फिर मनुष्य चाहे कि उसे पा लूं तो पाना बहुत कठिन है। अतएव मनुष्य को सदैव समय का ध्यान रखना चाहिए। समय बदलता है तो परिस्थितियाँ बदलती हैं और तब हमें भी बदलना पड़ता है।

समय किसी के लिए रुकता नहीं है। प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि रेलगाड़ी समय पर आती है और नियत समय तक ठहर कर चली जाती है। रेल तो मनुष्यों के सुभीते के लिए है और उसकी व्यवस्था मनुष्यों के ही हाथ में है। इसलिए वह थोड़ी देर ठहरती भी है, किन्तु काल का प्रवाह किसी के हाथ में नहीं है। वह किसी की सुविधा-असुविधा की परवाह नहीं करता। वह पल भर भी नहीं ठहरता। एक ओर से आता है और दूसरी ओर चला जाता है।

रेलगाड़ी भी नियत समय से अधिक आपकी प्रतीक्षा नहीं करती। गाड़ी का यात्री अपने मित्रों से मिलने-जुलने में समय व्यतीत कर दे या इधर-उधर चला जाय तो वह उसके लिए रुकने वाली नहीं है। वह तो समय पर आएगी और समय पर चली जाएगी। बाद में उसकी दौड़ केवल दौड़ ही रह जाती है और वह गाडी को पकड़ नहीं सकता। उसको दूसरी गाड़ी का इन्तजार करना पड़ेगा और उसका महत्त्वपूर्ण काम बर्बाद हो जायगा।

तो समय की रफ्तार और भी तेज है। समय का सदुपयोग करने की शक्ति नहीं पैदा हुई, मन में बल नहीं आया और समय को पकड़ने की कला नहीं सीखी, तो समय का प्रवाह बहता रहेगा, इंसान पिछड़ जायगा और पछताना ही उसकी तक़दीर में होगा।

किन्तु हमारे वे महान् आचार्य असावधान नहीं थे। उन्होंने समझ लिया कि समय बदल रहा है और मस्तिष्क उतने साफ-सुथरे नहीं रहे हैं और स्मृतियाँ क्षीण होती जा रही है।

एक आचार्य की कहानी सुनी है। किसी कारण से वे सोंठ का एक गँठिया लाये। जरूरत के मुताबिक उसका उपयोग कर लिया और बाकी बचे हुए को कान में लगा लिया और सोचा कि फिर उप-

योग कर लेंगे। किन्तु वे उसका उपयोग करना भूल गये।। प्रतिक्रमण करते समय वह गँठिया कान में से गिरा। तब उन्होंने सोचा—इस गँठिया का उपयोग बाद में करने का विचार किया था, मगर स्मरण नहीं रहा और समय निकल गया।

इस छोटी-सी घटना के आधार से ही ज्ञानसूत्र बँध गया। उन्होंने विचार किया—कान में अटकाये हुए सोंठ के गँठिये को भी भूल गये, तो जो विशाल ज्ञान मस्तिष्क में रखते आ रहे हैं, उसका क्या हाल होगा? जनता की स्मरणशक्ति परिस्थितियों के कारण क्षीण होती जा रही है, ऐसी स्थिति में प्रयत्न नहीं किया गया और समय रहते सावधानी न बर्त्ती गई, तो इस महान् साहित्य के प्रति कृतघ्न हो जाएँगे। विश्व की यह महान् निधि विस्मृति के अतल सागर में डूब जाएगी और फिर उसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकेगा।

बस, उस ज्ञान-भण्डार को कायम रखने के लिए सब को निमंत्रण दिया गया। जब सभी श्रुतधार सन्त एक जगह एकत्र हुए तो, ऐसा कहा जाता है कि चिन्तन-मनन करने के बाद, आज के दिन सब से पहले जैनाचार्यों ने कलम पकड़ी। किसी-किसी का कहना है कि लिखना पहले प्रारंभ कर दिया गया था और आज के दिन उसकी पूर्णाहुति हुई।

चाहे शास्त्रों का लेखन आरंभ हुआ हो, चाहे लेखन की पूर्णाहुति हुई हो, दोनों ही महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। शास्त्रों के लेखन का प्रारंभ भी महत्त्वपूर्ण है और पूर्णाहुति भी महत्त्वपूर्ण है और यह निर्विवाद है कि आज का दिन जैन इतिहास में सदा स्मरणीय रहने वाला दिन है। यह दिन ज्ञान को ग्रहण करने का और उसे सुरक्षित रखने का दिन है। एक बार ज्ञान के सुरक्षित होने पर जैन संघ में अपूर्व उल्लास जागा था और यह दिन उसी का स्मरण कराता है।

हमें विचार करना है कि उस समय के विचारशील और दीर्घदृष्टा आचार्यों ने श्रुत को लिपिबद्ध न किया होता, तो आज हमारी क्या स्थिति होती ? हम उस महान् प्रकाश से वंचित रह कर अज्ञान के अन्धकार में ही टकराते फिरते और खोजने पर भी कहीं राह न पाते ।

उस समय चौदह पूर्वों में से एक पूर्व का ज्ञान लिखा गया था और बारह वर्षीय अकाल के समय वह भी विच्छिन्न हो गया। अंग और उपांग भी परिपूर्ण रूप में विद्यमान नहीं रहे और उसका बहुभाग विस्मृत हो चुका। श्रुत का इतना भाग, जो आज हमें उपलब्ध है, पुस्तकारूढ़ न किया गया होता तो हमें उपलब्ध न होता।

श्रुतपंचमी का यह दिन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। हजारों आराधक इकट्ठे होकर इसे मनाते रहे हैं। और भारत के कोने-कोने में मनाया जाता रहा है। एक अतिशय पावन स्मृति को जगाए रखने के लिए हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बड़े हर्ष, उल्लास और ऊँचे ढंग से इस पर्व की आराधना करते रहे हैं।

जैनों के पर्वों का यही महत्त्व है। वे किसी न किसी आदर्श को अपने सामने रखते हैं। उनके सामने खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की भावना नहीं होती। यह सब चीजें जिनमें होती हैं, वे लौकिकपर्व हैं, उदाहरणार्थ—संवत्सरी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की विशुद्धि का पर्व है। जिस दिन हम अपनी भूलों को साफ करते हैं, चिन्तन-मनन के द्वारा मन को सुलझा लेते हैं और मन की गुत्थियों को सुलझा लेते हैं और जीवन में कोई धब्बा लगा हो तो क्षमायाचना और पश्चात्ताप के द्वारा उसे साफ कर डालते हैं। संवत्सरी का दिन

क्षमायाचना के लिए तो है ही, किन्तु उसका भी उद्देश्य ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप की विशुद्धि करना है।

जैनधर्म ने बहुत बड़ी-बड़ी चीजें हमारे सामने रक्खी हैं। उसने ज्ञान को भी आचार का रूप दिया है। लोगों ने ज्ञान को ज्ञान और आचार को आचार समझ रक्खा था और इस प्रकार विचार अलग और आचार अलग था। किन्तु जैनधर्म ने ज्ञान को भी आचार में सम्मिलित करके एवं महत्त्वपूर्ण आदर्श संसार के समक्ष पेश किया है। हमारे यहां पांच प्रकार के आचार हैं—(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तप आचार और (५) वीर्याचार, जो इन पांच आचारों का स्वयं पालन करता है और पालन कराता है, वही आचार्य कहलाता है। तो स्वयं आचार का पालन करना, कराना और पालन करने वालों का अनुमोदन करना, उन्हें उल्लास देना और आचार के प्रति श्रद्धा प्रकट करना आचार्य का कर्त्तव्य है।

आप देखते हैं कि पांच आचारों में सब से पहले ज्ञानाचार आया है और ज्ञान को भी हमने आचार का रूप दिया है। ज्ञान हमारे यहाँ कोरा ज्ञान ही नहीं है, मस्तिष्क का व्यायाम और बुद्धि का उतार-चढ़ाव ही नहीं है। किन्तु ज्ञान यदि जीवन के कल्याण के लिए प्राप्त किया जा रहा है, उसका अभ्यास और चिन्तन किया जा रहा है, पुराने शास्त्रों का मनन करने की बुद्धि है और गुत्थियों के सुलझाने की कोशिश की जा रही है और सिद्धान्तों को मांज कर सामने रक्खा जा रहा है, और किसी को अच्छी शिक्षा देकर अच्छा साधु या गृहस्थ बनने की प्रेरणा दी गई है और अपने ज्ञान के प्रकाश से जनसमूह के मार्ग का प्रदर्शन किया जा रहा है, तो यह सब भी ज्ञान का आचरण है। ज्ञान का यह आचरण जीवन को इतना पवित्र

बनाता है कि किसी दूसरे मार्ग से उतनी पवित्रता प्राप्त करना सरल नहीं है। एक आचार्य कहते है—

जीवत्यर्थदरिद्रस्तु धीदरिद्रो न जीवति।

मनुष्य लक्ष्मी के मोह में और धन के मोह में फँसा है। वह दुनिया में सफलता और प्रतिष्ठा पाने के लिए सिक्के पाने की फिराक में रहता है, उनका संग्रह करता है और खजाने भरता है और यह विचारता है कि मैंने लक्ष्मी प्राप्त करली है और दरिद्रता दूर हो गई है। किन्तु आचार्य कहते हैं कि जो धन से गरीब है और दरिद्रता में जीवन गुजार रहा है और संभव है कि उसके पास कोई साधन नहीं है, फिर भी वह अपनी नाव अपने हाथ और अपनी बुद्धि से खे सकता है, किन्तु जो बुद्धि से दरिद्र है, ज्ञान से गरीब है और जिसके खजानों में बुद्धि-ज्ञान का प्रकाश नहीं है, किसी भी शास्त्र का चिन्तन नहीं है और जिसके पास कोई भी नवीन विचार धारा नहीं है और जिसे अपनी गुत्थियों को सुलझाने की और अपने परिवार एवं राष्ट्र की समस्याओं को हल करने की बुद्धि नहीं है, वे समय पड़ने पर कठि-नाइयों में फँस जाते हैं और अन्धकार से घिर जाते हैं। ऐसे लोग कभी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं तो न कोई सूझ और न कोई विचार ही आते हैं। उस अन्धकार में ज्ञान की एक भी किरण नहीं चमकती है।

ऐसे लोग भी दरिद्र हैं और ज्ञान से गरीब हैं। जो ज्ञान से दरिद्र हैं, वह संसार में जीवित नहीं रहते हैं और जो परिवार, समाज और देश ज्ञान से दरिद्र नहीं है, ऊँचे विचार का है, संभव है उसके पास कुछ भी न हो किन्तु समय गुजर जाने के बाद वे ऊँचे आ जाते हैं।

समाज, देश और व्यक्ति का उत्थान और संसार का वृत्त ज्ञान के सहारे ही टिका हुआ है। मैं बतला चुका हूँ कि आपका परिवार जब युगलियों के रूप में था? उनके पास केवल शरीर था और कल्प-वृक्षों के वनफलों से गुजारा करने के सिवाय उनके पास कोई चीज नहीं थी। किन्तु भगवान् ऋषभदेव के द्वारा जीवन में तभी चेतना मिली, नया ज्ञान मिला, और जीवन को समझने के लिए नयी बुद्धि मिली। और आज हम जिस दुनिया को देख रहे हैं, आखिर यह कहाँ से आई? यह मनुष्य की बुद्धि का ही फल नहीं तो क्या है? इतने विशाल महल खड़े हैं, तरह-तरह के धान्य और फल-फूल और जीवन की विविध सामग्रियाँ आज विद्यमान हैं, यह सब मनुष्य की बुद्धि का ही चमत्कार है।

ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई। उनके मतानुसार भी ईश्वर की सृष्टि पृथ्वी, सूर्य, चांद और सितारे हैं। यह भी ईश्वर ने बनाये या नहीं, इस प्रश्न को छोड़ भी दे, तो भी ईश्वर की बनाई हुई चीजों के द्वारा ही मनुष्य जीवित नहीं रह सकता था। ईश्वर ने पैर टिकने के लिए जमीन और ऊपर आसमान बना दिया, किन्तु दोनों के बीच में जो विराट सृष्टि खड़ी है और संसार एक बड़ी ऊँचाई पर दिखाई दे रहा है, यह सब ज्ञान और बुद्धि का ही परिणाम है। यह उन्नति बुद्धि के द्वारा ही हुई है। मनुष्य ने अपने ज्ञान के द्वारा ही यह सृष्टि खड़ी की है।

तो मनुष्य खुद बना और खुदने ही अपने पैरों पर खड़े रहने की तैयारी की। आज लाखों पुस्तकें हैं और व्याकरण हैं और विविध शास्त्र हैं, उनको हम भूल नहीं सकते। हम देख रहे हैं कि आज दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक रेलें दौड़ रही हैं, आकाश में वायुयान दौड़ रहे हैं, ज्ञान के भण्डार भरे पड़े हैं। यह सब किस

ईश्वर ने छूमन्तर करके पैदा कर दिये हैं ? यह सब मनुष्य की बुद्धि की ही उपज है । जरा सोचिए तो सही कि एटम बम बड़ा है या मनुष्य की बुद्धि बड़ी है ? लोग एटम बम (अणुबम) से घबड़ाते हैं, भयभीत होते हैं और कितना भयानक संहार उसकी बदौलत आया है ? किन्तु एटम को जन्म देने वाला कौन है ? किसने इसका विकास किया है ? मनुष्य ने ही तो ! तो सिद्ध है कि एटम बड़ा नहीं, मनुष्य का मस्तिष्क ही बड़ा है । और मनुष्य के मस्तिष्क में हड्डी, मांस और चर्बी नहीं, किन्तु इसमे आत्मा की ज्योति ही प्रकाश कर रही है और उसने ही इतना विराट संसार का वैभव खड़ा किया है । इस प्रकार हम विचार करते हैं कि ससार में बुद्धि का वैभव ही बड़ा है । एक आचार्य कहते हैं—

तपोभिराढ्यां विभवैर्दरिद्राः ।

जो विचारों में ऊँचा था, तपोधन था, जिसके पास तप रूपी धन का अविवेकी खजाना था, किन्तु पौद्गलिक धन की दृष्टि से गरीब रहा, और सम्भव है उसके पास एक दिन खाने का भी प्रबन्ध नहीं रहा, किन्तु अपने विचारों में धनाढ्य रहा, बड़े-बड़े महल भी उसके चरणों में झुके और दुनिया की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ भी रगड़ खाती हुई उसके चरणों में आई ।

तो आपको विचार करना है कि आप अपनी सन्तान के लिए, आने वाली पीढी के लिए जितनी चिन्ता धन की रखते हैं, उससे ज्यादा चिन्ता बुद्धि और विचार देने की रखते हैं या नहीं ? अगर आपने उसकी ज्ञान की गरीबी को दूर कर दिया और वह दूर हो गई है तो वह जो चाहेगी, प्राप्त कर लेगी । हमारे यहाँ एक कहावत चली आती है—

पूत सपूतां क्यों धन संचै ?
पूत कपूतां क्यों धन संचै ?

यदि पूत कपूत है, उसमें बुद्धि नहीं है, समाज और परिवार के गौरव को अक्षुण्ण रखने और बढ़ाने की योग्यता नहीं है, अपने आपमें महान्-ऊँचा नहीं बन सका है, अपने जीवन को उसने क्षुद्र बना लिया है और अपने घर में ही वह क्षुद्र रह गया है, उसमें बुद्धि नहीं आ रही है, तो क्यों धन का संचय करता है ? उसके लिए लाखों और करोड़ों भी इकट्ठे करके रख जायगा, तब भी क्या होगा ? तेरे मरने के बाद वर्ष-दो वर्ष भी नहीं गुजरने पाएँगे कि सारा धन गायब हो जायगा, वह उड़ा कर साफ कर देगा, तेरा सारा संचय चौपट हो जायगा।

चक्रवर्ती का कितना बड़ा साम्राज्य होता है ? वह छह खण्ड का अधिपति होता है और सूर्योदय एवं सूर्यास्त के बीच की दुनिया उसके छत्र के नीचे आ जाती है, मगर चक्रवर्ती का पुत्र भी कभी चक्रवर्त्ती बना है ? और जिसके बाप-दादा चक्रवर्त्ती नहीं थे, उसे चक्रवर्त्ती बनने में कितनी देर लगती है ? मगर चक्रवर्त्ती का पुत्र चक्रवर्त्ती नहीं बनता।

तो इस खयाल को छोड़ दो कि पिता, पुत्र को जो धन सौंप जाता है, वह ज्यों का त्यों बना रहता है। पिता प्रभूत सम्पत्ति संचित करके चला जायगा, किन्तु यदि वह अपने पुत्र को सम्पत्ति का सदुपयोग करने की बुद्धि नहीं दे गया है, इस्तेमाल करने की कला नहीं दे गया है; न्यायपूर्वक कमाने और समाज को अर्पण करने की वृत्ति नहीं दे गया है और खाली धन पकड़ा गया है, तो वह धन सुरक्षित नहीं रह सकता। अतएव पूत कपूत है तो धन का संचय करके रख जाना वृथा है।

और यदि पूत सपूत है, पुत्र में ज्ञान है, कला है, सदाचार है और कोई दुर्व्यसन नहीं है, तब भी धन का संचय करने की चिंता क्यों कर रहा है ? क्यों दगा-फरेब कर रहा है ? क्यों दिन-रात हाय पैसा, हाय पैसा कर रहा है ? आखिर तूने अपनी सन्तान का जीवन बना दिया है, तो फिर चिंता काहे की है ? तू परिवार के दस बीस आदमी भी संभला कर जायगा, तो भी वह संभाल लेगा और सभव है कि वह सैकड़ों का भी जीवन बना दे। राष्ट्र के-जीवन में भी परिवर्त्तन ला दे और लाखों करोड़ों का भाग्य उसकी मुट्ठी में आ जाय। जो कुछ भी तू देख कर जा रहा है, उसे उससे भी महान् बनना है। अतएव तू उसके लिए चिन्ता मत कर।

तेरे सामने एक ही प्रश्न है कि अपने पुत्र या शिष्य को क्या देकर जाता है ? किस प्रकार बड़ा बनाना है ? बड़ा बनाना है तो बल्लियों के सहारे तो बड़ा नहीं बनाना है, वैसाखी पकड़ कर कोई कब तक बड़ा बना रहेगा ? जो पुत्र, शिष्य, पिता या जो समाज वैसाखियों के सहारे चलता है, वह लूला और लंगड़ा है और वह जीवन की दौड़ नहीं लगा सकता। मनुष्य में इतना बल होना चाहिए कि उसे वैसाखी का सहारा न लेना पड़े, परावलम्बी न होना पड़े, स्वयं तन कर चल सके और दूसरों को सहारा और आलम्बन दे सके। अपने पुत्र या शिष्य में ऐसी योग्यता उत्पन्न कर दी तो उनके लिए धन की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव उन्हें ज्ञान के द्वारा बलवान् बनाइऐ। ज्ञान ही सबसे बड़ा धन है। कहा है–

न ज्ञानतुल्यः किल कल्पवृक्षो,
न ज्ञानतुल्या किल कामधेनुः।
न ज्ञानतुल्यः किल कामकुम्भो,
ज्ञाने न चिन्तामणिरप्यतुल्यः ॥

संसार में कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकलश और चिन्तामणि रत्न बहुत बड़ी चीजें समझी जाती हैं, किन्तु इन्हें न आपने देखा है, हमने देखा है। मगर इन सब से बढ़ कर एक चीज है, और वह है ज्ञान। इनमें से कोई भी और सब मिल कर भी ज्ञान की बराबरी नहीं कर सकतीं। फिर इन्हें पाने की कल्पना तो कोरी कल्पना भी हो सकती है, मगर ज्ञान को प्राप्त करना अपने हाथ की बात है।

आशय यह है कि संसार में ज्ञान ही सबसे बड़ी शक्ति है। मगर आज के युग में ज्ञान की महिमा भुला दी गई और उसके स्थान पर दूसरी चीजें आ गई हैं। कर्म आठ होते हैं और संसारी जीव प्रतिक्षण सात कर्म तो बांधते ही रहते हैं, मगर आज उनमें से दो ही कर्म याद आते हैं—एक वेदनीय और दूसरा अन्तराय। जब कोई मिलता है तो देखते हैं कि उसे दो ही कर्मों की चिन्ता है। एक तो अपने सुख-दुख की चिंता रहती है, अर्थात् वेदनीय कर्म की फिक्र रहती है और दूसरे कुछ न मिलने की अर्थात् अन्तराय कर्म की चिंता रहती है। लोगों को और कर्मों की चिंता नहीं होती, उनसे भी लड़ना है या नहीं, यह विचार नहीं होता। उन्हें तो वेदनीय कर्म से और अन्तराय कर्म से ही लड़ना है, ताकि संसार का बढ़िया से बढ़िया सुख मिल सके और धन-सम्पत्ति मिल जाय। मगर वेदनीय और अन्तराय कर्म से लड़ने के लिए भी बुद्धि और विवेक की आवश्यकता है। आठ कर्मों में सब से भयंकर तो ज्ञानवरण कर्म है। शास्त्रकारों ने उसकी सब से पहले गणना की है। अन्तराय वगैरह कर्मों को पहले स्थान नहीं दिया गया है। ज्ञानावरणीय कर्म को प्रथम स्थान और महत्त्व क्यों दिया गया है? इसलिए कि संसार के समस्त त्रास और दुःख अज्ञान में से जन्म लेते हैं।

जब कोई भी व्यक्ति या समाज अज्ञान में रहता है तो दुनिया भर के पाप और दुःख उसके गले पड़ जाते हैं। वह उनसे छुटकारा पाने की लाख कोशिश क्यों न करे, ज्ञान के अभाव में कृतकार्य नहीं हो सकता। वह एक दुःख को दूर करने जायगा तो दूसरे अनेक दुःख उससे चिपट जाएँगे और उसकी स्थिति यही होगी—

एकस्य दुःखस्य न पावदन्तं,
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे।

एक दुःख से लड़ते-लड़ते बेहाल हो रहे हैं और उसे हरा नहीं पाये कि दूसरा दुःख सामने खड़ा हो जाता है। इस प्रकार दुःखों से कैसे लड़ा जायगा? दुखों से लड़ कर अगर सफलता पानी है, दुखों से पिण्ड छुड़ाना है, तो ज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा, ज्ञान के द्वारा ही दुखों से सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। ज्यों ही ज्ञान का अपूर्व प्रकाश मिला, चिन्तन और मनन का विकास हुआ कि आठों कर्मों के कल पुर्जे ढीले होने लग जाते हैं। आवरण भी ढीला होने लगता है। ज्ञान की चमक आते ही अज्ञान और सुख-दुःख की समस्याओं का हल होने लगता है।

दुख मिले या सुख मिले, ज्ञानवान् पुरुष दुख को भी सुख बना लेता है। ज्ञान एक ऐसा दिव्य यन्त्र है, जिसमें दुख भी सुख के रूप में ढल जाता है। और जिसे ज्ञान की कला प्राप्त नहीं है, वह सुख को भी दुख बना लेता है, वह प्रत्येक दशा में हाय-हाय करता रहता है।

तात्पर्य यह है ज्ञानी पुरुष सुख में भी आनन्द मानता है, दुख में भी आनन्द मानता है, उसे सब कुछ प्राप्त है तो भी आनन्द मानता है और कुछ भी प्राप्त नहीं है तो भी आनन्द मानता है। फूलों पर

चल रहा है तो भी आनन्द में है और काँटों में घसीटा जा रहा है तो भी आनन्द में है। दुख के समय भी मधुर मुस्कान उसके दिव्य चेहरे पर खेलती रहती है और सुख के समय भी वही मुस्कान दिखाई देती है। आनन्द प्राप्त करने की यह दिव्य कला ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव ज्ञानावरणीय कर्म को जैनधर्म ने पहला स्थान दिया तो ठीक ही दिया।

अगर लड़ना है तो सब से पहले ज्ञानावरणीय कर्म से लड़ो। वह तुम्हारे इस जीवन को और अगले जीवन को भी बिगाड़ता है। इसके विपरीत ज्ञान अनन्त-अनन्त भवों को सुधारने वाला है। अनन्त और अक्षय काल तक आनन्द देने वाला है।

तुम्हें दूसरे कर्मों को तोड़ने की फिक्र है, वेदनीय और अंतराय कर्मों को दूर करने की चिन्ता है और उसके लिए जप-तप करते हो, देवी-देवताओं की मनौती करते हो और दुनिया भर के तूफान करते हो, त्यौहार आते हैं तो उनके सामने मत्था टेकते हो, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म को तोड़ने के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करते। उसको तोड़ने की आतुरता नहीं है, चिन्ता भी नहीं है और कला भी नहीं है। यह अज्ञानता है और बड़ी भयंकर अज्ञानता है जब तक यह टूट नहीं जाती और ज्ञान की कला का उदय नहीं होता, तब तक कुछ नहीं होगा, तुम्हारे मनोरथ पूरे नहीं होंगे। इस प्रसंग पर एक पिता की कहानी याद आती है।

एक सेठ था। उसके कई लड़के थे। सेठ बूढ़ा हो चुका था और अब तब चल देने की तैयारी में था। एक समय उसे विचार आया—मैं भरा-पूरा घर छोड़ कर जा रहा हूँ। मेरी सांस निकलने वाली है। क्या मेरे पश्चात् मेरे लड़के इस घर को सम्भाल सकेंगे?

मेरे गौरव को सुरक्षित रख सकेंगे ? और बूढ़ा सेठ इसी विचार में रहने लगा।

सेठ बीमार पड़ा तो उसके चेहरे पर उदासी छाई रहती थी। यह देखकर लड़कों ने और दूसरे लोगों ने भी कहा—आपका आखिरी समय आ चुका है। प्रसन्न होकर विदा होना चाहिए। किन्तु आपके चेहरे पर अशान्ति मालूम होती है। इसका क्या कारण है !

सेठ ने कहा—मेरी चिन्ता का कारण यह है कि घर खाली पड़ा है। मैंने उसे भरने के लिए वर्षों प्रयास किया, किन्तु देखता हूँ कि वह आज भी खाली पड़ा है। मैं इस घर को खाली छोड़ कर जा रहा हूँ। इसको कोई भर दे, कोने-कोने को भर दे, तो मैं शक्ति के साथ विदा हो सकता हूँ।

लड़कों ने कहा—यह कौन बड़ी बात है ? लीजिए, अभी घर को भर देते हैं।

एक लड़का गया और दुनिया भर का फर्नीचर आदि सामान ले आया। पर घर भरा नहीं गया। तब दूसरा लड़का घास लाया और तीसरा कबाड़ा ले आया। सब उस घर को भरने लगे। पिता ने यह देखा तो कहा—यह कूड़ा-कचरा किसलिए लाये हो ? फैंको इसको बाहर।

पिता का आदेश सुन कर घर साफ कर दिया गया। किन्तु लड़कों ने कहा—फिर घर भरें तो कैसे भरें ?

चौथा लड़का, जो सब से छोटा था, परन्तु चिन्तनशील था, वहीं बैठा रहा और कहीं नहीं गया। उसने सोचा—पिताजी बड़े विचारशील हैं और समस्त परिवार के लिए चेतनारूप हैं। अब

इनकी बुद्धि खराब हो गई हो, ऐसा नहीं दिखाई देता। कोई न कोई विशेष बात इनके दिल में खटक रही है।

और लड़के जब कह रहे थे कि बुड्ढे की मति मारी गई है इससे कभी मकान भरने को और कभी खाली करने को कहता है। तब छोटा लड़का गया और प्रत्येक कमरे में दीपक जला आया। समस्त कमरे और सारा घर दीपकों के प्रकाश से जगमगा उठा। और इसके बाद वह पिता के पास आया और बोला—अब सारा घर प्रकाश से भर गया है और कोई जगह खाली नहीं है। कहिए, आपकी आज्ञा पूरी हुई या नहीं? कोई कसर रह गई हो तो उसे निकाल दूँ।

पिता ने इधर-उधर देखा। उसे संतोष हुआ। उसने लड़के की पीठ थपथपाई और कहा—तुम मेरे आशय को समझ गये। मकान को कूड़े-कचरे से भरने की जरूरत नहीं है। तुमने सही सोचा है। इस घर को प्रकाश से परिपूर्ण बनाये रखना है—ज्ञान से भरना है।

भगवान् महावीर ने भी अपने शिष्यों और लोगों से यही कहा है—मन को भरा रखना, खाली मत रखना। परन्तु आप भरने लगे तो कोई क्रोध से भरने लगा, कोई मान और माया से भरने लगा और कोई लोभ और वासना से भरने लगा। इस प्रकार दुनिया भर का घास-फूस और कचरा-कूड़ा भरा जा रहा है, किन्तु उस महान् पिता की आज्ञा यह नहीं थी। वे तो उसे ज्ञान से भरने की बात कहते थे, ज्ञान के प्रकाश से मन के कोने-कोने को जगाने की बात कहते थे। इस प्रकार मन को भरा जायगा तो वह खाली नहीं रहेगा और जीवन मंगलमय बन जायगा।

संसार के सुख-दुःख की चिंता क्यों है तुम्हें ? कला अगर हाथ आ गई है तो स्वर्ग की कल्पना कर सकोगे और उस स्वर्ग को उतार कर यहीं ला सकोगे।

जब तक अज्ञान है, मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग की तलाश करता है, किन्तु ज्ञान का उदय हो जाने पर मरने के बाद स्वर्ग की चिन्ता नहीं रहती, मौजूदा जीवन ही स्वर्ग, और स्वर्ग से भी बढ़ कर बन जाता है।

तो स्मरण रखिए, आपको अपने मन को भरना है, किन्तु गन्दगी से नहीं भरना है, ज्ञान के पावन और उज्ज्वल आलोक से भरना है। यही श्रुतपञ्चमी का महत्त्व है। आपके पास ज्ञान है तो संसार भर का वैभव है और ज्ञान नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

एक सेठ का बड़ा शानदार महल था और उसमें लक्ष्मी का ठाठ लगा था। पुत्र थे, पुत्रियाँ थीं, बहुएँ थीं। सेठ ऐसा भाग्यवान् था कि उसके लड़के और नौकर-चाकर इशारा पाते ही भागते थे। किन्तु दुर्भाग्य से वह सेठ पागल हो गया। वह इधर जाय तो इसे तोड़ दे और उधर जाय तो उसे फोड़ दे और वही खाते हाथ लगें तो उन्हें खराब कर दे। चाहे जिससे लड़ पड़े। नतीजा यह हुआ कि सेठजी को साकलों से बांध कर कोठरी में डाल दिया गया।

एक दिन वह अपने घर का बादशाह था, जिसकी भृकुटि के चढ़ते ही लोग कांपते थे। पागल होने पर उसी की यह दशा हो गई।

उसे मौंगलिक सुनाने के लिए हमसे कहा गया। हम गये। देखा, वह कैदी की तरह कमरे में बन्द था और अपने परिवार के दुखों को सहन कर रहा था। उस स्थिति में बेटा आता तो धमका कर

जाता और नौकर-चाकर भी डाँट-फटकार बतलाते। पत्नी भी दो-चार गालियाँ सुना कर जाती। अब आप सोचिए कि क्या बात हुई? धन तो उसके पास अब भी था, कुछ चला नहीं गया था। महल भी उसी के नाम पर लिखा हुआ था और सारा कारबार भी उसके नाम से हो रहा था। मैंने सोचा सब कुछ है, किन्तु बुद्धि ठिकाने नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

कल्पना कीजिए, एक देवता आपके सामने आता है और कहता है—जितनी धन दौलत और महल-मकान आदि चाहिए, वह सब ले ले, मैं सब कुछ दे दूँगा, किन्तु बदले में तुम्हारी बुद्धि ले लूंगा। इस प्रकार एक ओर संसार का वैभव दिया जाय और दूसरी ओर ज्ञान का अपहरण कर लिया जाय, तो क्या आप यह पसन्द करेंगे? मैं समझता हूँ कि आप बुद्धि देकर ऋद्धि लेना पसन्द नहीं करेंगे। आप यही सोचेंगे कि पागल-बन कर धन-वैभव से क्या सिर फोड़ें? पागल उस सम्पदा का क्या करेगा? वह तो नंगा रहेगा, कपड़े फाड़ेगा और धन हाथ लग जायगा तो उसे सड़क पर फैंक देगा।

तो यह कोई नर्क और मुक्ति का प्रश्न नहीं है। इस सीधी-सी बात को समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। जिसके पास जरा भी बुद्धि है और जो पहले से ही पागल नहीं है, वह तो यही कहेगा—अपनी धन-दौलत और वैभव अपने ही पास रहने दो। हमारे तो हाथ ही बस हैं। हम अपने हाथों से कमा खा लेंगे। हमें पागल नहीं बनना है।

आशय यह है कि मनुष्य भले धन और वैभव की कामना करता हो, परन्तु उससे भी पहले बुद्धि और ज्ञान की कामना करता

है। यही बात समाज के विषय में है। जिस समाज में ज्ञान की चेतना आ जाती है, उसकी उन्नति अवश्य होती है। भगवान् महावीर ने कहा—

> नाणस्स सव्वस्स पगासणाए।
> अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
>
> —उत्तराध्ययन, ३२

ऐ साधक! तेरा प्रयत्न, पुरुषार्थ, चिन्तन, मनन और तपश्चरण आदि ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने के लिए है और अज्ञान तथा मोह को दूर करने के लिए है। यदि तू ने अपने जीवन में उस साधना को पूर्ण कर लिया है तो सभी कुछ मिल जायगा, किसी चीज की कमी नहीं रह जायगी। तू जो चाहेगा वही हो जायगा। अलबत्ता अपना उत्तरदायित्व निभाने की जरूरत है और ज्ञान को प्राप्त करने की जरूरत है।

ज्ञान का महात्म्य विर्विवाद है। सभी लोग ज्ञान की महिमा गाते हैं और उसकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि आज के समाज में चतुर्दिक् अज्ञान छाया हुआ है और समाज को अज्ञान का घुन लगा हुआ है। और देश भी अज्ञान के अन्धकार में भटक रहा है।

जब तक अज्ञान दूर नहीं होता, आत्मा एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वह कितनी ही कठिन तपश्चर्या करे, साधन करे और निराहार रहे, मगर अज्ञान हटे बिना लेश मात्र भी उसका विकास नहीं होता। इस प्रकार आध्यात्मिक विकास की शुरूआत भी अज्ञान के हटने पर ही होती है। तो लौकिक और लोकोत्तर, दोनों प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने के लिए ज्ञान ही सबल साधना है।

अज्ञान को दूर करना है तो शास्त्रों का मनन करो, अभ्यास करो; चिन्तन करो, तपश्चर्या करो, ज्ञानवानों का सत्संग करो और अपनी आध्यात्मिक भावनाओं को प्राप्त करो ।

धन्य है वे जो ज्ञान के प्रकाश के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भाग्यशाली हैं वे लोग जो ज्ञान के सौरभ को बिखेरते हैं। पुण्यशाली हैं वे जो ग्रन्थों और शास्त्रों का संग्रह करते हैं और दूसरों को ज्ञान चेतना देते हैं। भाग्यवान् हैं वे जो सांसारिक दृष्टि से कष्ट में रहते हुए भी निरन्तर पठन-पाठन करने में और ज्ञान की उपासना करने में निरत रहते हैं। बड़ा भाग्य है उनका, जो समाज में ज्ञान की वृद्धि करते हैं, जीवन की समस्याओं पर नवीन रोशनी डालते हैं और वे जहाँ कहीं भी जाते हैं, दीपक की रोशनी की भांति जगमगाते हैं, और जिस गली या घर में जाते हैं, रोशनी बिखेर देते हैं। वे दुनिया के जिस किसी कोने में जाते हैं, अपने देश और समाज की प्रतिष्ठा में चार चांद लगा देते है। वे धन्य और महान् धन्य हैं, जो निरन्तर ज्ञान की आराधना करके स्व-पर के जीवन को आलोकमय और आनंदमय बना देते हैं।

१४-११-५०

(१९)

अक्षय तृतीया

जैन संस्कृति तथा जैन धर्म के इतिहास में, आज के पुण्यमय दिवस का बड़ा महात्म्य वर्णित है। जैन धर्म के इतिहास में ही क्यों? हमारे पड़ौसी धर्मों में भी इसका महत्त्व कम नहीं आंका जा सकता है। आज के मंगल-पूर्ण दिवस को अक्षय तृतीया के नाम से पुकारा जाता है। जैन धर्म के अनेकों ग्रन्थों से जहाँ इसके महात्म्य का वर्णन है, वहाँ वैदिक धर्म के पुराणों में भी इसका महात्म्य आप सुन सकेंगे। जैन संस्कृति में अक्षय तृतीया तपः शक्ति का प्रतीक माना जाता है। तपोहिमगिरि पर कौन कितना ऊँचा चढ़ सकता है? यह चढ़ने वाले व्यक्ति की शक्ति का माप दण्ड है। जैन धर्म के शास्त्रों में हम से लम्बा तपः अन्य कोई नहीं माना गया है। इस तपः को वर्षी तपः कहा जाता है। और उसकी पूर्ति अक्षय तृतीया ही है। अतः अक्षय तृतीया वर्षी तपः का पूरक होने के साथ ही तपोहिमगिरि का वह उच्चतम शिखर है, आप लोगों से पूछूँ, कि यहाँ अजमेर वालों में और जोधपुर से यहाँ पारना करने को आने वाले सज्जनों में कितनों ने वर्षी तपः किया है? सम्भवतः पुरुषों में से एक का भी हाथ न उठ सके?

परन्तु बहिनें बीसों की संख्या में हाथ उठा सकती हैं। तो क्या, पुरुषों की अपेक्षा हमारी बहिनें अधिक वीर हैं ? मुझे कहना चाहिए, कि धर्म के क्षेत्र में, जप और तपः में, धर्म और ध्यान में, दान और पुण्य में तथा सभी प्रकार के धर्म-कर्मों में हमारी बहिनें सदा पुरुषों से आगे रहती हैं। धर्म और समाज की आधार शिला ही हमारी बहिनें रही हैं।

अस्तु, मैं कह रहा था, कि आज का दिवस बड़ा ही पुण्यमय और मंगल पूर्ण है। इसके महत्त्व को लेकर अभी-अभी हमारे अनेक मुनिवरों ने अपनी भिन्न-भिन्न शैली में आपको अक्षय तृतीया का महात्म्य बतलाया है। मैं भी आपके सामने प्रस्तुत विषय को लेकर थोड़ा बोलूँगा। यद्यपि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, डाक्टरों ने बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम बिल्कुल भी न करने को कहा है, तथापि मैं अपने श्रद्धेय महा स्थविर श्री ताराचन्दजी म० की और आप में से ही बहुत से भाई-बहिनों की प्रेरणा का अनादर भी कैसे करूँ। अतएव स्वयं की इच्छा न होते हुए भी अक्षय तृतीया के महात्म्य के विषय में बोलूँगा।

हाँ, तो आज के दिवस के महत्त्व को समझने के लिए हमें भारत के हजारों-लाखों और करोड़ों वर्ष पुराने अतीत की तलछट में जाना होगा। भारत के उस पुरातन इतिहास के पन्ने खोलने होंगे, जिसमें मानव ने पुरुषार्थ की, श्रम की प्रथम बार अंगड़ाई ली थी। जब हम अतीत की गहराई में पैठते हैं, तो हमें उस मूल स्थिति का स्मरण हो आता है, जो युगलियों के नाम से चली आ रही थी। उनका जीवन अपने-अपने शरीर आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित था। उनकी संख्या के अनुपात से उस युग में प्राकृतिक साधन उन्हें पर्याप्त मिल जाते थे। अतः उन्हें अपनी शरीरगत आवश्य-

कताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता था। नदी, निर्झर और सरोवरों का निर्मल जल, ऋतु के अनुसार वृक्षों पर लगे फल और सोने-बैठने को वृक्ष मूल—बस, यही तो उनके जीवन की आवश्यकताएँ थी। फिर संघर्ष हो ही क्यों? संघर्ष का जन्म तो अभाव से होता है। और तत्कालीन सीमित आवश्यकता की पूर्ति के साधनों का अभाव उस युग में था नहीं।

जैन इतिहास की भाषा में उस युग को कल्प-वृक्षों का युग कहा जाता है, और शास्त्र की परिभाषा में उस युग को भोग-भूमि कहा है। विचारने और सोचने की बात है, कि भोग-भूमि का अर्थ क्या है? जहाँ पर शरीर की आवश्यकाताओं की पूर्ति के लिए कुछ भी श्रम करना न पड़े, लून-तैल और लकड़ी की जहाँ जरा भी चिंता न हो, उदर की ज्वाला से लड़ने को जहाँ हाथ-पैर हिलाने न पड़ें और जहाँ शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष की जरा भी उपादेयता न हो, उसी स्थिति को, उसी अवस्था को और उसी युग को भोग भूमि कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ, कि उस युग में मानव जाति इतने लघु रूप से चल रही थी, कि प्रकृति के प्राकृतिक भण्डार में उस को किसी बात की कमी का अनुभव नहीं करना पड़ता था।

परन्तु, काल की गति बड़ी विचित्र है। उसका चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। चाहे दुनिया बने या बिगड़े? चाहे वह सुख के झूले में सोती रहे और चाहे वह दुःख में कराहती रहे। फिर भी काल की गति क्षण भर को भी बन्द नहीं होती। वह चुप होकर कभी बैठना सिखाती ही नहीं।

जरा सोचिए तो जीवन का परखा हुआ सत्य है, कि जब जन संख्या बढ़ जाती है, वस्त्र एवं खाद्य पदार्थों की कमी होने लगती है,

तब मानव, मानव को मानव न समझ कर दानव समझने लगता है, परस्पर लड़ने झगड़ने लगता है। कल्पना कीजिए, जन संख्या ८, १६, ३२, ६४ के क्रम से बढ़ती रहे और भोजन सामग्री में विकास न हो, और यदि हो भी तो १, २, ४, ८, के क्रम से हो, तो संसार की स्थिति क्या होगी? मेरा तो यह स्पष्ट विचार है कि संसार का कोई भी कर्म क्यों न हो, ऐसी स्थिति में शान्ति नहीं दे सकता। भूख से तड़पड़ाती जनता को धर्म कैसे शान्ति दे सकता है। उसे तो पहले रोटी चाहिए। एक संस्कृत के किसी कवि ने कहा है—'पूर्णे सर्वे जठर पिठरे प्राणिनां सम्भवन्ति।' यह धर्म, यह कर्म, यह भोग, यह जप और यह तप तभी तक आनन्द प्रदायी हैं, जब तक पेट की चिंता नहीं हो। पेट की चिन्ता होते ही ये सब कपूर की भांति न जाने कहाँ पर बिखर जाते हैं। पेट की दवा आखिर रोटी ही है। ;'चरन वैति' का पाठ ही पढ़ा है। निरन्तर चलते रहना ही उसका जीवन है। परिवर्तन, संशोधन और परिवर्धन उस में होते ही रहते हैं। काल ने युग को कभी एक रूप में नहीं रहने दिया है। आते-आते भगवान् ऋषभदेव के युग में जैन-संख्या में वृद्धि होने लगी। ज्यों-ज्यों जन संख्या बढ़ने लगी, प्रकृति के प्राकृतिक भण्डार भी खाली होने लगे। खाद्य सामग्री की कमी ने उस युग के मानव को पहली बार अपनी समस्या पर सोचने को विवश कर दिया। उप भोग्य न्यून और उप भोगता अधिक। स्थिति बदली, संघर्ष आरम्भ हुआ। लड़ना वह चाहता नहीं था, पर भोजन के अभाव ने उसे लड़ने की कला सिखा दी। अभी तक मानव-मानव में जो प्रेम के धागे मजबूत थे, वे टूटने लगे। ईर्षा द्वेष और क्रोध के ताप से मानव जलने लगे। छीना-झपटी होने लगी। उदर पूर्ति की आड़ में उसका स्वाभिमान जा छुपा। इतिहास के इन पन्नों को जब तक हम भावना के नेत्रों से पढ़ना

न छोड़ेंगे। तब तक हम वास्तविक सत्य को नहीं पा सकेंगे। सत्य सदा भावना से आवृत रहा है।

जरा सोचिए तो सही, तवे के नीचे आग जल रही है। ऐसी हालत में कोई यह चाहे, कि दो-चार पानी की बूंदें डाल कर तवा ठंढा कर दूं, तो यह कैसे हो सकता है। तवा कभी भी शीतल नहीं हो सकता। होगा, यह कि तवे पर जो पानी की दो-चार बूंदें पड़ी हैं, वे भी उसकी दाह में, उसके ताप में और आग की ज्वाला में जल कर समाप्त हो जाएँगी। इसी तरह परिवार के लोग रोटी-रोटी चिल्ला रहे हों, समाज भूखों मर रहा हो, और राष्ट्र की सन्तानें अन्न के अभाव में बे मौत ही मर रही हों, ऐसी परिस्थिति में "शान्ति रखो, धर्म करो, यह तो कर्मों का फल है"—कह-कह कर कब तक जनता को झूठे सन्तोष से शान्त कर सकोगे? जठर ज्वाला की आग में जलते मानव को कब तक धर्म के नाम पर, संस्कृति के नाम पर तथा भगवान् के नाम पर धैर्य दे सकोगे? माना कि धर्म के अभाव में मानव, दानव बन सकता है। परन्तु अन्न के अभाव में तो वह तन कर खड़ा भी नहीं हो सकता। अतः धर्म के साथ अन्न का गहरा सम्बन्ध रहा है। पहले जीवन के आवश्यक साधन जुटाएँ, भूख की पूरी दवा करलें, फिर शान्ति की, धर्म की और कर्म तथा उसके फल की दार्शनिक प्रेरणा दें, तो ठीक रहेगा। शान्ति और धर्म पनप सकेंगे। कर्म और उसके फल की व्याख्या जनता के गले उतर सकेगी। मानव जीवन प्रगति कर सकेगा।

मैं आप से भगवान् ऋषभदेव के युग की बात कह रहा था। ऋषभदेव के जन्म से पूर्व कल्प-वृक्ष ही मानव की आशा को पूरी करते थे। परन्तु बाद में वृक्षों के फलों में कमी होने लगी और इधर जन संख्या दिनोदिन बढ़ने लगी। कल्प-वृक्षों के बँटवारे होने

लगे, व्यक्ति ने प्रकृति पर अपना अधिकार जमाना प्रारंभ कर दिया। फिर भी समस्या का हल न निकला। उस समय ऋषभदेव ने कहा— "इन बँटवारों से समस्या का हल कभी न होगा।" और ये बँटवारे भी कब तक चल सकेंगे ? दो व्यक्तियों के बीच में एक रोटी हो, तो आधी-आधी से काम चल सकता है। पर तीसरा आ गया, तो कैसे काम चलेगा ? इसी प्रकार एक ही रोटी का हिस्सेदार कोई चौथा और पाँचमा व्यक्ति भी आजाए, तो उस एक रोटी का क्या महत्त्व रहेगा ? वस्तु एक और हिस्सेदार अनेक हो जाएँ, तो फिर वहाँ संघर्ष के सिवाय और होगा ही क्या ? अतः तुम्हारी पेट की समस्या का हल बँटवारे में नहीं, उत्पादन बढ़ाने में ही है। ऐसा उन लोगों को ऋषभदेव ने समझाया। ऋषभदेव ने कहा—'जो रोटी उपलब्ध है, उसी की ओर मत देखो, नयी रोटी पैदा करने का भी प्रयत्न करते रहो। मनुष्य उठो, और काम करो, श्रम करो। अब यह भोग भूमि नहीं, कर्म भूमि हो गई है। जितना श्रम करोगे, सुखी रहोगे ?" तुम संसार में जीवन लेकर आए हो, तुम्हारे पास हाथ हैं, फिर भी तुम खाने के लिए संघर्ष क्यों करते हो ? छीना-झपटी क्यों करते हो ? ये हाथ केवल खाने के लिए ही नहीं हैं, कमाने को भी हैं। खाने में एक ही हाथ का उपयोग होता है, किन्तु उत्पादन कार्य में दोनों हाथ बराबर काम करते रहते हैं। अतः खाने की अपेक्षा तुम्हारा उत्पादन दुगुना होना चाहिए। कल्पना कर लो, कि यदि आपके घर में ऐसा व्यक्ति आजाए, जो दोनों हाथों से खाने वाला हो, तो सारे घर में कोलाहल मच जायगा। आप कहने लगेंगे कि यह तो मानव नहीं दानव है। इन्सान वह है जो एक हाथ से खाता है और दूसरे हाथ का परिवार समाज और राष्ट्र को वितरण करता रहता है। भगवान् ऋषभदेव ने यही कहा—

"अयं मे हस्तो भगवान्,
अयं मे भगवत्तरः ।"

यह मेरा हाथ भगवान् है । इसका सही अर्थ यह है कि यह हाथ ही सब कुछ कर सकता है । समाज एवं राष्ट्र के सामने स्वर्ग उतार सकता है । विश्व में सुख, शान्ति और आराम का भण्डार भर सकता है । अतः तुम्हारा यह हाथ भगवान् है, नहीं भगवान् से भी बढ़कर है । महाभारत में महर्षि व्यास ने भी यही बात कही है—

"अहो सिद्धार्थता तेषां,
येषां संतति पाणयः ।"

अर्थात् जिनके पास हाथ हैं, श्रम करने की शक्ति है, वे इस संसार में कभी दुःखी और खिन्न नहीं हो सकते । वे कभी भूखों नहीं मर सकते । श्रम में अत्यन्त शक्ति है । श्रम-शील मनुष्य अपने जीवन में किसी भी वस्तु के अभाव का दर्शन नहीं कर सकता ।

जैन संस्कृति का मूल स्वर कर्म भूमि के महत्त्व का ही यशोगान करता है, भोग भूमि का नहीं । यह ठीक है कि भोग भूमि में संघर्षमय जीवन न होने से सुख और शान्ति अवश्य है, परन्तु उस सुख और शान्ति के पीछे कर्त्तव्य भावना का अभाव है । युगलिये शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकते हैं, पर मुक्ति के भव्य-पथ पर नहीं चल सकते हैं । प्रगति के पथ पर कदम नहीं बढ़ा सकते हैं । उसकी दुनिया एक ऐसी दुनिया है जिसमें न अधिक उत्थान है, और न अधिक पतन ही है । विकास और ह्रास के मध्यवर्ती मार्ग पर वे स्थित होते हैं । किन्तु कर्म भूमि के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता । वहाँ का मानव अपना उत्थान भी कर सकता है, और पतन भी । विकास भी चरम सीमा का और पतन भी हद दर्जे का वह कर

सकता है। कर्म-भूमि का मानव अपने जीवन का राजा होता है। बलदेव भी बन सकता है, और शैतान बनने से भी उसे कोई रोक नहीं सकता। अधिक क्या? कर्म भूमि का मानव भगवान् तक बन सकता है। भोग-भूमि में ऐसा नहीं हो सकता। वहाँ का जीवन एक सीमित जीवन है।

युगलियों का जीवन वैयक्तिक जीवन है, वहां सामाजिक जीवन का नाम भी नहीं है। पति को भूख लगी तो वह कल्पवृक्ष से फल लेकर खा लेता है, और पत्नी भूख से व्याकुल बनी तो उसने भी फलों से अपनी भूख को निवृत्त कर लिया। परन्तु एक-दूसरे के लिए एक दूसरा नहीं लाता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की पूर्ति तो कर लेता है, पर दूसरे की आवश्यकता का वह जरा भी ध्यान नहीं रखता। इस स्थिति को देख कर भगवान् ऋषभदेव ने कहा, कि जब तक व्यक्ति अपने आप में बन्द रहता है तब तक वह कभी भी विकास नहीं कर सकता। पारस्परिक सहयोग से ही वह अपना विकास कर सकता है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का सिद्धान्त भगवान् ऋषभदेव ने ही मानव जाति के कल्याण के लिए आविष्कृत किया था। और यही सुन्दर सिद्धान्त मानव को व्यक्ति से समाज की ओर ले गया था। भगवान् ऋषभदेव ने सामूहिक जीवन व्यतीत करने की प्रबल प्रेरणा दी। और धीरे-धीरे कई व्यक्तियों का समूह मिल कर परिवार बना, कई परिवारों को मिल कर समाज बना और कई समाजों को मिल कर राष्ट्र बना। इस तरह ऋषभ-युग में परिवार समाज एवं राष्ट्र का जन्म हुआ। व्यक्तिगत भावना का लोप हो जाने पर सब में सामूहिक चेतना काम करने लगी।

आज का विश्व सुख और शान्ति की खोज तो कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से वह अभी तक भौतिक साधनों की ओर ही झुकता

जा रहा है। जीवन में भौतिक साधनों की भी जरूरत तो है, पर उस के साथ में आध्यात्मिक साधन संयम और धृति की बड़ी आवश्यकता है। जैसे कि अभी पण्डित श्रेयमलजी म० ने प्रतिपादन किया है। कल्पना करो कि आपको घोड़ा तो दे दिया जाय, किन्तु आपके हाथ में उसकी लगाम न दी जाए, तो क्या हालत होगी? हवाई घोड़े को यदि लाखन कोठरी जैसे मोहल्ले की गलियों में तेज गति से दौड़ाया जाय, तो हालत यह होगी कि आप स्वयं भी गिरेंगे, तथा दूसरे मनुष्यों को भी घायल करेंगे? इसी प्रकार भौतिक साधन रूपी अश्व मानव को चढ़ने के लिए मिला। परन्तु उसके मुंह में संयम की लगाम न हो, तो आपको हर कदम पर खतरा ही रहेगा। आपको ही नहीं, आपके परिवार, समाज और राष्ट्र को भी क्षति पहुँचायेगा। इसका कटु फल तो हम विगत दो विश्व युद्धों में तथा वर्त्तमान में भी कोरिया में प्रत्यक्ष ही देख सकते हैं। योरोप के भौतिक साधन सम्पन्न देशों ने विश्व के वैभव पर अधिकार किया, धन-सम्पत्ति की विशाल राशि एकत्रित की, फिर भी उन्हें सुख एवं शान्ति का अनुभव नहीं हो सका, सुख और शान्ति की अभिलाषा करते हुए भी उन्हें सुख और शांति मिल नहीं सकी। सुख और शान्ति के लिए तो विवेक, त्याग और संयम की बड़ी जरूरत है, और भविष्य में भी रहेगी। मेरा तात्पर्य इतना ही है, कि भौतिक और अध्यात्म साधनों में पूरा पूरा सन्तुलन चाहिए, तभी हम विकास के मार्ग पर अबाध गति से चल सकते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने मानव को जीवन निर्वाह के लिए भौतिक साधान बतलाए, फिर भी वे केवल भौतिकवाद से चिपटे नहीं रहे। उन्होंने सोचा, कि यह ऐश्वर्य कहीं मानव को उसके वास्तविक लक्ष्य से भटका न दे? उसे पथ-भ्रष्ट न बना दे? अतः उस महापुरुष ने आत्म-कल्याण का मार्ग अंगीकृत किया। मानव समाज में भौतिक

जीवन के पनप जाने के बाद आध्यात्मिक जीवन का आविष्कार किया। प्रेय के पश्चात् श्रेय का मार्ग भी बतला दिया।

उस महापुरुष के मुनि बन जाने के बाद की कथाओं में कुछ मतभेद पड़ जाता है। एक कथा तो अभी मंत्री मुनि श्री पुष्करजी म० कह गए हैं, और दूसरी विचारधारा अभी पण्डित श्रेयमलजी म० ने आपको सुना दी है, कि वह महापुरुष दीक्षा लेने के पश्चात् १२ मास तक गोचरी के लिए घर-घर और द्वार-द्वार घूमता रहा। उस काल के बीच में उन्हों ने तपः किया या नहीं, इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः कथाकार के दिमाग में भी न आया हो? उनका कहने का आशय यही था, कि लोग भिक्षा देना जानते ही न थे। परन्तु एक कथाकार कहता है, कि भगवान् ने जब से दीक्षा ली, तभी से मौन धारण करके खड़े रहे, न आहार किया और न पानी ही पिया। उनके चार हजार शिष्य भूख से घबरा कर भाग जाते हैं। परन्तु वे महापुरुष हिमगिरि की तरह अडिग खड़े रहते हैं, निरंतर संघर्ष करके अन्तर्द्वन्द्व करके भूख पर तथा प्यास पर अधिकार कर लेते हैं। कहा जाता है, कि फिर वे पंजाब की ओर जाते हैं, फिर वहाँ से तक्षशिला की ओर होते हुए अयोध्या को पावन करते हैं। एक तरफ लम्बे-लम्बे विहार और दूसरी तरफ वह भयंकर भूख-प्यास जो मानव के साहस को परास्त कर देती है, बड़े-बड़े घिनौने कार्य करा बैठती है, उस विराट पुरुष पर अपना अधिकार न जमा सकी। यह उस महापुरुष की महान् साधना थी। १२ मास तो क्या वे इस साधना के मार्ग से प्रशस्त तपः पथ पर जीवन भर भी चल सकते थे। परन्तु उन्हों ने अपने साथ के दूसरे साथियों की तरफ भी देखा, उनकी शक्ति को भी तौला। उन्हों ने विचार किया कि—

"न केवल मयं कायः
कर्षणीयो मुमुक्षुभिः ।
नाऽप्युत्कटरसैः पोष्यो,
मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥"

—जिनसेन

हां, तो उन्होंने कहा कि लम्बे-लम्बे तप करके शरीर को केवल हड्डियों का ढांचा मात्र ही नहीं बना देना है, और न माल-मसाले तथा गरिष्ठ पदार्थ खाकर इसे मांसल ही बना देना है। दोनों ही अतिवाद हैं। तप की व्याख्या करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अपने 'ज्ञान सार' ग्रन्थ में एक बड़ी सुन्दर बात कही है—

"तदेव ही तपः कार्यं,
दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।"

तपः वही और उतना ही करना चाहिए जिससे शरीर में समाधि भाव बना रहे। तपः का उद्देश्य आत्म-शान्ति है। पर जिस तपः से शरीर तो सूखता रहे, किन्तु मन में शान्ति न रह सके, तो फिर उस तप का कोई अर्थ नहीं रहता।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि यह साधना का मार्ग बड़ा कठोर है। साधना के मार्ग का सब से सुन्दर सिद्धान्त तो यह है कि आवश्यकता पड़ने पर तपः भी करें और आवश्यकता होने पर आहार भी करें। आत्मा से लगे हुए विकारों को साफ करने के लिए ही तपः की उपादेयता है, कर्मों की निर्जरा और आत्म शान्ति ही उसका फलितार्थ होता है, पर इसका अर्थ यह कभी न समझ लेना चाहिए कि तपः से ही निर्जरा होती है, तपः से ही आत्म शान्ति मिलती है। यदि साधक को कभी भोजन से भी आत्म शान्ति मिलती हो तो

वह भी निर्जरा का हेतु बन सकता है। आत्म-शान्ति की भावना से किया हुआ भोजन भी धर्म ही है। आचार्य जिनशेन यही कहना चाहते हैं, कि तुम मध्यम मार्ग से चलो। यदि तपः करने से आत्म-समाधि रहती हो, तो तपः करो और भोजन से आत्म समाधि रहती हो तो भोजन करो। जैन संस्कृति का मुख्य लक्ष्य आत्म-लाभ, आत्म-शान्ति और आत्म-समाधि ही है, तपः और भोजन तो उसके साधन मात्र ही हैं।

आप लोगों से मैं पूछता हूँ कि आज का दिन तपः के महत्त्व का है, या पारणा (आहार) के महत्त्व का है? आप कहेंगे कि आज तो पारणा के दिन का ही महत्त्व है। ठीक है, आप का उत्तर उचित है। जैन संस्कृति में विवेकपूर्वक चिन्तन एवं मनन द्वारा की जाने वाली क्रिया को ही महत्त्व दिया गया है। फिर चाहें वह तपः की हो, अथवा पारणा की हो। तपः और पारणा दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। यहाँ जितना महत्त्व तपः का है, पारणा का भी उससे कम नहीं है। यही कारण है कि उस विराट पुरुष के पारणा-दिवस को हजारों-लाखों वर्षों से मानते आ रहे हैं। उस महापुरुष का हर अक्षय तृतीया को यशोगान करते है, उसके विशिष्ट गुणों का उत्कीर्तन करते हैं। आप भूले नहीं होंगे, कि गत वर्ष हम सब सन्तों ने और साथ ही आप गृहस्थों ने सादड़ी सन्त महासम्मेलन का प्रारंभ इसी शुभ और मंगलमय दिवस से किया था। आज पारणा का दिवस तो है ही, साथ में हमारे श्रमण संघ की वर्ष गाँठ भी आज ही है। अतः हमें दुहरी प्रसन्नता होनी चाहिए। हमें इस मंगल भावना का प्रसार और प्रचार करना चाहिए, कि हमारा श्रमण संघ दिनो-दिन अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न बनता रहे।

हाँ, तो आप और हम आज जिस महापुरुष का पारणा महोत्सव मना रहे हैं, उस महाप्रकाश पुञ्ज का हमें सदा स्मरण करते रहना चाहिए, केवल स्मरण मात्र ही नहीं, बल्कि उसके आत्म-गुणों का अपने में विकास भी करना होगा, तभी हम सच्चे अर्थ में पारणा-दिवस मना सकेंगे। वह एक विराट शक्ति थी, जो निरन्तर १२ मास तक लम्बा तपः करता रहा, पर भक्तों में न इतना शरीर बल रहा और न ही इतना मनोबल। अतः वह एक-एक दिन के बीच पारणा करता हुआ, १२ मास पूर्ण कर लेता है। आज के इस भौतिक जगत में जहाँ मानव भोजन का गुलाम बनता जा रहा है, घरों में अनेक प्रकार के मिष्ठान्नों की सुगन्ध आती रहती है, वहाँ बहुत से भाई-बहिन तपः और त्याग के पवित्र मार्ग पर चल रहे हैं—यह हर्ष की बात है।

मैं आप से कह रहा था कि आज पारणा का दिन है। भगवान् ऋषभदेव ने आज के रोज ही अपने वर्षीय तपः का पारणा श्रेयांस-कुमार के यहाँ इक्षु-रस से किया था। वह समय कितना सुन्दर होगा ? जब दाता ने श्रद्धा और भक्ति से भगवान् को रस-दान दिया। दान लेने वाला पात्र बड़ा है, या दान देने वाला दाता बड़ा है ? यह प्रश्न भी बड़े महत्त्व का है। इस प्रश्न के उत्तर में एकान्त निर्णय तो नहीं दिया जा सकता। इस प्रसंग पर लोगों की दृष्टि पात्र की महानता की ओर ही जाती है, परन्तु सत्य तो यह है कि दाता का महत्त्व भी कम नहीं है। आज वह संसार का महान् पुरुष जिसने अपने ही बुद्धि बल से और अपने ही शरीर श्रम से समाज एवं राष्ट्र का निर्माण किया था, अपने ही घर में अपने पौत्र के हाथों भिक्षा ले रहा है। दाता ही देव बन रहा है। जिस बड़ी पीढ़ी ने छोटी पीढ़ी को ऊपर उठाया था, आज वही छोटी पीढ़ी बड़ी पीढ़ी का सिंचन कर रही थी। बाबा भिक्षु और पोता दाता, कितना सुखमय था, जीवन

का-वह दाण ? श्रेयांसकुमार ने अपने जीवन में इस उदात्त भावना को साकार रूप दिया था, कि—

"परस्परं भावयन्तः,
श्रेयः परमवाप्स्यथ ।"

मैं कह चुका हूँ, कि आज का दिवस दाता का है। आप भी दान देते हैं, सदा देते ही रहते हैं। अन्न, जल, वस्त्र, पात्र आदि के दान का भी महत्त्व कम नहीं है, परन्तु वर्तमान युग में सब से बड़ी आवश्यकता है, माधुर्य के दान की। इक्षु-रस तो मुँह में रहे तभी मिठास दे सकता है, और क्षणिक शक्ति भी दे सकता है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। किन्तु माधुर्य का दान जीवन में जहाँ आत्मिक शक्ति पैदा करता है, वहाँ बाहरी जीवन को भी अनेक कटु प्रसंगों से बचा लेता है। जीवन को रुक्ष होने से बचा कर माधुर्यमय बना देता है। आज के युग के दैत्याकार यन्त्र प्रति दिन लाखों टन शक्कर पैदा करते हैं, फिर भी इन्सान की जिंदगी मीठी नहीं बनी। हजारों-लाखों मन शक्कर खा कर भी आज का मानव कटुता, विषमता और वैमनस्य की वृद्धि करता ही जा रहा है। इसका एक ही कारण है कि हमारे जीवन में माधुर्य का अभाव है। और यह अभाव एक ऐसा अभाव है कि जब तक इसका सद्भाव न होगा, जब तक इसकी पूर्ति न होगी, तब तक मानव समाज सुख और शान्ति पा सकेगा ? यह आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी।

आज के रोज बहिनें भी यहाँ पर उसी युग-पुरुष का अनुकरण करेंगी। इक्षु-रस का दान भी करेंगी। परन्तु मैं, उन बहिनों से कहूँगा कि इस दान के साथ वे सत्संकल्प का दान भी देना सीखें, जीवन में माधुर्य का दान भी देना न भूलें। परिवार में, समाज में, राष्ट्र में वे

जहाँ कहीं भी हों, सब को समभाव से देखना सीखें। साधु हो, या गृहस्थ हो, स्त्री हो या पुरुष हो, छोटा हो या बड़ा हो, अपना हो या पराया हो, सब के मानस में समान भाव से माधुर्य का अर्पण करती रहें। बहिनों के मन से, वचन से और व्यवहार से सदा माधुर्य भाव की वर्षा होती रहनी चाहिए। उन्हें यह भली भांति विचार कर लेना चाहिए कि उनकी भावना का माधुर्य केवल साधु के पात्र में ही न पड़ता रहे, बल्कि अपने पति, पुत्र, पुत्री और भाई-बहिन आदि की थाली में भी पड़ता रहना चाहिए। आज के मंगलमय दिवस के उपलक्ष्य में बहिनों ने यदि माधुर्य भाव को जीवन में साकार करने का संकल्प कर लिया तो मैं समझता हूँ, उन्होंने सच्चे अर्थों में अक्षय तृतीया का पारणा किया है। आपका यह इक्षुरस माधुर्य भाव का है। बहिनों की तरह पुरुषों को भी माधुर्य भाव की उपासना का व्रत ले लेना चाहिए।

अन्त में, मैं इतना और कहूँगा कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि "प्रभु! हम सच्चे अर्थों में आपका अनुगमन करते हुए, अपने अन्तःकरण, वाणी और कर्म से संसार के माधुर्य की वर्षा करते रहें। समाज और राष्ट्र में तथा परिवार में निरन्तर माधुर्य भाव की अभिवृद्धि करते रहें। हम अपने प्रत्येक कर्म को मधुरता से प्रारम्भ करें, उसे मधुरता से करते रहें और मधुरता से ही समाप्त करें। 'मधुरेण समापयेत्' के सुन्दर सिद्धान्त को हम कभी न भूल सकें। यदि आप लोगों ने इतना कर लिया तो आपका वर्तमान जीवन तो माधुर्यमय बनेगा ही पर आपका भविष्य भी समुज्ज्वल और शानदार बनेगा।

अजमेर
केशरसिंहजी की हवेली
अक्षय तृतीया १६-५-५३

(१९)

वैशाखी पूर्णिमा और बुद्ध जयन्ती

भारतवर्ष की संस्कृति में आज का दिवस परम पवित्र माना जाता है। आज वैशाखी पूर्णिमा है, यह पूर्णिमा अपना एक विशेष महात्म्य रखती है। आज भारतवासी हजारों और लाखों की संख्या में गंगा, यमुना, पुष्कर तथा नर्मदा आदि तीर्थ स्थानों में स्नान करते हैं। भारत की संस्कृति में स्नान का बड़ा महत्त्व गाया गया है। परन्तु उसके पीछे कौन-सी विचारधारा काम कर रही है? उसका क्या अभिप्राय है? इन प्रश्नों पर बहुत कम लोग विचार कर पाते हैं।

वर्तमान युग का भक्त मानव बाहरी रूप में उलझ कर अपने वास्तविक भीतरी रूप को भूल-सा गया है। वह अपने अन्तर मानस को परखने का प्रयत्न छोड़ बैठा है। वह धर्म के शुद्ध स्वरूप का परित्याग करके क्रियाकाण्ड उसे चिपट गया है।

भारत के विचारशील आचार्यों ने कहा है,—"जिस प्रकार बाहरी दुनिया में गंगा लहरा रही है, यमुना बह रही है, पुष्कर

लहरा रहा है, उसी प्रकार मानव के अन्तर मानस में भी ज्ञान की गंगा, श्रद्धा की यमुना और नैतिकता का पुष्कर लहरा रहा है। वह मनुष्य के अन्तर्जीवन का सिञ्चन करता है।" इस बाहरी स्नान से शरीर का मल तो साफ हो सकता है, पर आत्मा, बुद्धि और मन के मैल को साफ करने की शक्ति उसमें कैसे हो सकती है? आत्मा, बुद्धि और मन को मल रहित करने के लिए, शुद्ध करने के लिए ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र के तीर्थों का जल ही अपेक्षित है। जब साधक अन्तर की गंगा में, यमुना में डुबकी लगाता है, अन्तर के पुष्कर में स्नान करता है; तब ही वह अपने अन्तर के मैल को धो सकता है, विचार और बुद्धि के विकारों को नष्ट कर सकता है। यह ठीक है, कि शरीर का मैलापन भी अच्छा नहीं है। शरीर की गंदगी का हमारे स्वास्थ्य और मन पर बुरा असर पड़ता है। परन्तु मन का मैल, अन्तर मानस की गन्दगी शरीर की गंदगी से भयंकर है। शरीर के विकारों का असर स्वयं तक ही सीमित रहता है, किन्तु मानसिक विकारों का प्रभाव अपने परिजनों, मित्रों, साथियों तथा समाज और राष्ट्र पर भी पड़े बिना नहीं रहता। जब किसी मनुष्य के अन्तर मानस में क्रोध का विस्फोट होता है, तो उसका प्रभाव केवल क्रोधी मनुष्य तक ही नहीं रहता, बल्कि परिवार, समाज एवं राष्ट्र पर भी उसकी चिनगारियाँ बिखरती रहती हैं। इस भाँति मान, माया, लोभ, मोह और ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारों का असर भी अपने अन्य सहवासियों पर पड़े बिना कैसे रह सकता है? ये मनोविकार छूत के रोग हैं, जो समीपवर्ती जनों के मानस में भी सहज ही में जा चिपटते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—"अन्तर का मैल सब से बुरा है। बुद्धि और विचार का मैल सबसे अधिक विनाशक है।"

बुद्धि के अभाव में मानव अपना एक भी कार्य नहीं कर सकता। विचार शक्ति के बिना मनुष्य एक कदम भी आगे नहीं रख सकता।

हजारों, लाखों, करोड़ों कीड़े-मकोड़े और हजारों, लाखों पशु-पक्षी इधर-उधर भटकते फिरते हैं, अपने उदर की पूर्ति मात्र कर लेते हैं। परन्तु आज तक किसने महल बनाए, किसने नगर बसाए ? एक मानव ही ऐसा बुद्धिमान् प्राणी है, जिसने अपना प्रारंभिक जीवन पशु-पक्षियों की तरह जंगल में वृक्षों के नीचे रह कर, और वन-फल खाकर व्यतीत किया था। जब वह अपने एकाकी जीवन से ऊपर उठा तो उसने परिवार और परिजनों की रचना की, ग्राम और नगर बसाए, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया।

दुनिया कहती है, "यह सृष्टि ईश्वर ने रची है।" परन्तु मैं कहता हूँ, यह सब कुछ मानव ने रची है। जैसे-जैसे मानव की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, वैसे-वैसे उसने उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किया, और सृष्टि तैयार होती रही। मानव की बुद्धि, मानव की विचार शक्ति कोई कम नहीं है। उसका मस्तिष्क विराट है। उसकी बुद्धि ने युद्धों को जन्म दिया, तो शान्ति भी उसी मानव की सूझ है। मानव की विचार शक्ति ने बड़े-बड़े काम किए हैं। मनुष्य की बुद्धि ने ही उसे घोड़े की पीठ पर सवार किया, गाड़ी पर चढ़ाया, मोटर-रेल पर बैठाया वायुयान में उड़ाया। यह सब मनुष्य की बुद्धि की करामात नहीं, तो किसकी है ? तार-टेलीफोन, रेडियो आदि आविष्कार कितने विस्मय-जनक हैं ? ये सब मनुष्य की विशाल बुद्धि पर ही हुआ है। अपनी शुभ भावना से मनुष्य ने ससार को स्वर्ग बनाया, परन्तु ईर्ष्या-द्वेष तथा स्वार्थ के वशीभूत होकर वही अपने स्वर्ग के संहार के लिए रुद्र बन जाता है। उसके मानसिक विकारों ने ही उसे देव से दानव बनने को विवश किया। उसकी स्वर्गमयी बुद्धि से आविष्कृत महा-युद्धों से संसार का आंगण खून के लाल रंग से रंगा जा रहा है। तात्पर्य यह है, कि भीतरी शुद्धि से ही मानव सात्त्विक विचारों का बनता है।

वैशेषिक दर्शन के एक आचार्य ने कहा है—"समस्त दुःखों का जन्मदाता ज्ञान होता है।" उस दार्शनिक के मत में बच्चे को कम दुःख होता होगा, क्योंकि उसका ज्ञान कम है। ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके दुःख भी विराट रूप धारण करते जाते हैं। उसको शान्ति तभी मिलेगी, जब कि उसका ज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाएगा। इस दर्शनकार के विचारों में ज्ञान गुण का विनाश हो जाना ही मोक्ष है, परम शान्ति है।

भगवान् महावीर ने कहा—"यह तर्क वजनदार नहीं। इस तर्क का कोई महत्व नहीं। ज्ञान, यह तो आत्मा का एक निज गुण है, जो कभी भी किसी भी हालत में आत्मा से विलय नहीं हो सकता। यह विश्व एक जड़-चेतना का सम्मिश्रण रूप है। मानव उसका भेद ज्ञान द्वारा ही कर सकता है। जहाँ चिन्तन है, मनन है, अपने-पराये को समझने की शक्ति है, जीवन में चेतना है, सुख-दुख की अनुभूति है, वहाँ आत्मा है। और जहाँ पर विचार शक्ति नहीं, अपने पराये को परखने का ज्ञान नहीं, चेतना नहीं, तथा चिन्तन-मनन नहीं, वह जड़ है। अस्तु, आत्मा का वह ज्ञान गुण जिसके बल पर हम जड़ और चेतन का भेद समझ सकते हैं, वही नष्ट हो गया, तो फिर अवशेष क्या रहा?

इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा कि ज्ञान से दुःख नहीं बढ़ते। दुःखों का कारण है उसमें आया हुआ विकार। एक व्यक्ति ने जल पिया और हैजा हो गया। इसमें जल का दोष नहीं है, जल ने हैजा नहीं किया है। हैजा हुआ है, जल में रहे हुए कीटाणुओं के कारण, गन्दे और सड़े जल को पीने से। अस्तु, आप लोग जल से न लड़ो, पानी का नाश न करो, किन्तु जल के कीटाणुओं से, गन्दगी से युद्ध करो। इसी तरह ज्ञान से नहीं, ज्ञान में आए हुए

राग-द्वेष रूप मनो विकारों से लड़ो। जब तक विकारों का नाश नहीं होगा, तब तक आत्मा को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है।

जब आप लम्बी यात्रा तय करके आते हैं, तब शरीर पसीने से लथ-पथ हो जाता है, हाथ-पैर थक जाते हैं, दिमाग भारी हो जाता है, काम करने में मन नहीं लगता। किन्तु ठण्डे जल से स्नान करते ही दिमाग और सारा शरीर कितना शान्त हो जाता है। शरीर में नयी स्फूर्ति, नयी चेतना जाग उठती है। हाथ-पैरों में नयी शक्ति भर जाती है। जब कि बाहरी स्नान से इतनी शान्ति मिल सकती है तब ज्ञान-गंगा में गोता लगाने से, अन्तर की यमुना में डुबकी लगाने से, आत्मा के पुष्कर में मंज्जन करने से अनन्त २ जन्मों से आने वाले मनोविकार क्यों नष्ट न होंगे? अन्तर स्नान करने से अशान्ति और अप्रसन्नता कैसे टिक सकती है? ज्यों-ज्यों मनोविकार नष्ट होते जाते हैं, त्यों-त्यों जीवन में नयी चेतना, नयी स्फूर्ति का अनुभव होने लगता है। ज्ञान-गंगा में स्नान करने से ही आत्मा, बुद्धि और मन की सच्ची शुद्धि होती है।

पण्डित श्री श्रेयमलजी म० ने अभी आपको एक साधक और गृहस्थ की बात सुनाई है। एक हिमालय की चोटी पर खड़ा है, तो दूसरा हिमालय की तलहटी में। एक अनन्त आकाश में उड़ान भर रहा है, तो दूसरा जमीन पर रेंगने वाला कीड़ा है। बाहरी दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर नजर आ रहा है। साधक मुक्ति के पथ पर चलता नजर पड़ता है, और गृहस्थ संसार के दल-दल और कीचड़ में फँसा दीख पड़ता है। परन्तु भीतरी दृष्टि से, भावना की कसौटी से गृहस्थ का जीवन महान् था, साधक को उस गृहस्थ पर कितना द्वेष और कितना क्रोध आया? जैसे कि एक तूफान और बवण्डर उठ

आया हो ? कमण्डल से सिर फोड़ने पर भी गृहस्थ कितना शान्त बना रहा ? वाणी, कर्त्तव्य और आचरण के मिठास से वह अपने और सन्यासी के मैल को धोता रहा। और अन्त में उसने अपने जीवन की उज्जवलता से उस संन्यासी के जीवन को भी उज्जवल बना दिया। जीवन के इस मर्म को जिसने समझ लिया, वह चाहे कहीं पर भी और कैसी भी स्थिति में क्यों न रहता हो ? सुख और शान्ति उसके पीछे-पीछे दौड़ते रहते हैं।

न जाने क्यों ? हमारे मन में यह भ्रम पैठ गया है, कि परिवर्तन से सुख-शान्ति प्राप्त होती है। हजारों-लाखों मनुष्य इस कल्पना में उलझे रहते हैं, कि स्थान-परिवर्तन से तथा जल-पवन के परिवर्तन से हमें शान्ति मिलेगी। कुछ मरण के बाद शान्ति की कल्पना में फंसे रहते हैं। कुछ वेष परिवर्तन में ही सुख एवं शान्ति के सुनहले सपने देखते रहते हैं। परन्तु मैं कहता हूँ, यह सब भ्रम है, मिथ्या कल्पना है। सुख और शान्ति का आभास देश एवं वेष के परिवर्तन में नहीं है। कौन कह सकता है, दूसरे स्थानों पर बाहरी वातावरण यहाँ से भी कटु और अशान्त हो ? परलोक के सुख के सम्बन्ध में भी यही बात है। इस जन्म में तो हम मानव हैं। अपने जीवन को चाहें, जैसा बना सकते है। मरने के बाद दुर्भाग्य से कीड़े-मकोड़े एवं कुत्ते-बिल्ली हो गए, तो वहाँ कौन-सा सुख प्राप्त होगा ? देह, देश और वेष का परिवर्तन तो हम अनन्त-अनन्त बार कर चुके हैं। फिर भी हम शान्ति नहीं पा सके, सुख नहीं पा सके। अतः बाहरी परिवर्तनों में सुख-शान्ति नहीं है। शान्ति है, मन के परिवर्तन में, शान्ति है, बुद्धि और विचारों के परिवर्तन में। शन्ति है, मनोविकारों के परित्याग में। यह कहावत सर्वथा सत्य है, कि 'दिशा बदलने पर दशा बदलती है।' जब तक दिशा में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक

हमारी दशा भी सुधर नहीं सकती। अन्तर में गहरी डूबकी लगाने से ही हमारी दिशा और दशा सुधर सकती है, हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो सकते हैं।

संसार के समस्त पदार्थ पृथ्वी के उदर में छुपे पड़े हैं। किसान या माली जब पृथ्वी में बीज डालता है, तब होता क्या है? वह बीज अन्दर ही अन्दर पनपता है, अपने स्वभाव के अनुकूल रस को पृथ्वी कणों से खींचता रहता है। आम्र-फल मिठास खींचकर जगत को मिठास देता है, गुलाब सुगन्ध खींचकर जगत में सुगन्ध फैलाता है, नीम उसी पृथ्वी में से कटु रस खींचकर जगत को कड़वापन देता है, धतुरा उसी पृथ्वी में से मादकता खींचकर जगत को पागलपन प्रदान करता है। इसमें पृथ्वी का क्या दोष है? दोष है, उस बीज के अन्तर स्वभाव का। जो वस्तु अन्दर में जैसी होगी वह बाहरी रूप भी वैसा ही ग्रहण करेगी। अतः मैं कहता हूँ कि बाहर को दोष मत दो, बाहर में संघर्ष न करो, जो कुछ करना हो अन्तर में ही करो। अन्तर में विकार होते हैं, तभी वे बाहरी रूप ग्रहण करते हैं। मनुष्य है क्या? वह अपने विचारों का प्रतिबिम्ब मात्र ही तो है। अन्तर की शुद्धि होने पर ही बाहरी शुद्धि काम की है। लोग स्वर्ग की कल्पना से नाचने लगते हैं और नरक का नाम सुन कर ही कांपने लगते हैं। मैं सोचता हूँ ऐसा होता क्यों है? यदि तुम्हारे अन्तर मानस में स्वर्ग के बीज है, तो फिर नरक से भय क्यों? दुनिया की कोई भी ताकत तुम्हें नरक नहीं भेज सकती। हाँ, यदि तुम्हारे अन्तर में नरक के बीज ही पनप रहे हैं, तो फिर विश्व की कोई भी शक्ति तुम्हें नरक से बचा भी नहीं सकती है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है कि 'बुरा कर्म करने वाले को बुरा फल प्राप्त होगा ही। अच्छा कर्म करने वाले को अच्छे फल से वंचित कौन कर सकता है—

"सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवन्ति ।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला हवन्ति ।"

मगध सम्राट् श्रेणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था । पर इससे क्या हो ? उसके अन्तर में नरक-बीज पनप रहे थे फिर स्वर्ग और मुक्ति मिले भी तो कैसे ? जैसा विचार होता है, जैसा संकल्प होता है, जैसी भावना होती है और जैसा पूर्वोपार्जित कर्म होता है, हमारा भावी जीवन उसी के अनुसार बनकर तैयार होता हैं । हमारे इतिहास में एक छोटी-सी कहानी आती है वह कहानी छोटी होते हुए भी रहस्य पूर्ण है । लीजिए, मैं आपको वह कहानी सुना देता हूँ—

'श्री कृष्ण के राजमहलों में सभा भरी थी । राजा, महाराजा, सेठ साहूकार आदि सब यथा स्थान पर बैठे हुए थे । यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जैसे व्यक्ति होते हैं, वैसे ही विचार चल पड़ते हैं । कुंजड़ों की सभा में साग-सब्जी के लिए झगड़ा होगा, सेठ-साहूकारों की सभा में धन-सम्पत्ति का संघर्ष चलेगा, बहादुर सेनापतियों की सभा में युद्ध की चर्चा ही चलेगी और विद्वानों की सभा में ज्ञान-चर्चा सुनने को मिलेगी । श्री कृष्ण एक विचार शील पुरुष थे । अतः उनकी सभा में ज्ञान-चर्चा न चले, यह कैसे हो सकता था ?

एक बार वहाँ चर्चा निकल पड़ी, कि—"यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः ।" जैसी नजर, वैसी दुनिया । जब मानव, मानव को मानवता की दृष्टि से देखता है, तो सारे संसार में मानवता ही मानवता नजर आने लगती है । किन्तु जब वह संसार को दैत्य की दृष्टि से देखता है, तो सारा संसार राक्षस ही दिखने लगता है, और जब वह देवत्व की दृष्टि से संसार को देखने लगता है, तब उसके चारों

ओर की सृष्टि देवत्वमयी हो जाती है। चर्चा होते-होते लंबी हो गई। इस प्रश्न को लेकर युधिष्ठिर और दुर्योधन में तीव्र विवाद उठ खड़ा हुआ। दृष्टि सृष्टिवाद को स्वीकार करने से दुर्योधन इन्कार कर रहा था। दोनों महानुभावों में संघर्ष को बढ़ते देख, श्रीकृष्ण ने कहा—"अच्छा समय बहुत हो गया है। अतः आज यह सभा समाप्त की जाती है। इस विषय पर फिर कभी विचार-विमर्श करेंगे।"

समय निकलते क्या देर लगती है। उस चर्चा को दिवस, सप्ताह, मास और वर्ष के वर्ष बीत गए थे। जनता को उस बात का ध्यान भी न रहा था। कुत्ता तभी तक भौंकता है, जब तक उसे खट-खट की आवाज सुनाई पड़ती रहती है। आवाज के बंद होने ही वह भी भौंकना भूल जाता है। यही बात सामान्य मानवों के विषय में सत्य है। जब तक कोई विचार-चर्चा चलती रहती है, तब तक उसका ध्यान उसमें लगा रहता है। परन्तु बन्द हो जाने पर कुछ समय बाद उसकी विचारधारा का मोड़ दूसरी तरफ हो जाता है। परन्तु विचार-शील पुरुष सदा उस पर चिन्तन-मनन करते ही रहते हैं। सभासद तो उस चर्चा को भूल गए, पर श्रीकृष्ण उस पर निरन्तर विचार करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को बुलाया और कहा—"युधि-ष्ठिर! लो, यह कोरा रजिस्टर है। द्वारिका नगरी की गली-गली और घर-घर में घूम कर इसमें बुरे आदमियों के नाम लिख लाओ।" इसी प्रकार दुर्योधन को कहा, कि तुम अपने रजिस्टर में द्वारिका नगरी में रहने वाले अच्छे आदमियों का नाम लिख लाओ। युधि-ष्ठिर और दुर्योधन दोनों अपने-अपने काम को पूरा करने को निकल पड़े। द्वारिका की गली-गली में और घर-घर में एक बुरे आदमी की

खोज करता था, और दूसरा अच्छे आदमी की। दोनों को एक मास की अवधि दी गई थी।

अवधि पूरी होने पर फिर सभा भरी। जनता की उपस्थिति खूब थी। लोगों के मन में उत्सुकता भरी थी। देखें, "कौन-कौन बुरे हैं, और कौन-कौन अच्छे है।" इसी कल्पना में सब डूबे जा रहे थे। श्रीकृष्ण अपनी न्याय पीठ पर बैठ गए, और दोनों को अपना-अपना काम दिखलाने को कहा। दोनों ने अपने-अपने रजिस्टर श्री कृष्ण के सम्मुख रख दिए और दोनों अपने २ स्थान पर जा बैठे। जनता उद्ग्रीव होकर यह सब कुछ देख रही थी। श्रीकृष्ण ने जनता को जब यह कहा कि दोनों के रजिस्टर खाली हैं, किसी ने भी एक अक्षर नही लिखा, तब जनता कि उत्सुकता और भी अधिक बढ़ी। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की ओर संकेत करते हुए पूछा—'क्यों युधिष्ठिर! तुम्हें इतनी बड़ी द्वारिका में एक भी बुरा व्यक्ति नहीं मिला? युधिष्ठिर ने जवाब दिया—हाँ, महाराज! मेरी निगाह में तो मुझे एक भी व्यक्ति बुरा नहीं जँचा। जिस-किसी से भी बात-चीत की, उसमे कोई न कोई गुण मिल ही गया। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से पूछा—'तो, उसने कहा, महाराज! मुझे तो एक भी व्यक्ति अच्छा नहीं जँचा। अतः नाम किसका लिखता। कोरा का कोरा रजिस्टर आपको लाकर सौंप दिया है। जनता श्रीकृष्ण के निर्णय को सुनने के लिए सोत्सुक थी। श्रीकृष्ण ने खड़े होकर कहा—

'बस, ठीक है। द्वारिका न अपने आप में अच्छी है और न अपने आप में बुरी है। जिसकी दृष्टि में बुरापन है उसके लिए सारा संसार ही बुरा है, तथा जिसकी दृष्टि से अच्छापन है, उसके लिए सारा संसार ही अच्छा हैं। यह सब तो अपनी दृष्टि पर ही निर्भरहै।

मै विचार करता था, कि पूर्णिमा प्रत्येक मास में आती है, और चली जाती है। परन्तु वैशाखी पूर्णिमा अपना विशेष महात्म्य रखती है। आज के रोज हजारों लोग तीर्थों में स्नान करते हैं, और भागवत आदि पुराणों का पाठ भी सुनते हैं। वस्तुतः विचार करके देखा जाए, तो आज का दिवस आत्म-गंगा में स्नान करके पवित्र होने का है। हमें यह भी सोचना होगा, कि हम केवल शास्त्र-पाठ सुनकर संतुष्ट न हो जाएँ, अथवा शून्य चित्त होकर ही न सुनते रहें। जो सुनें, ध्यानपूर्वक सुनें, और फिर उस पर चिन्तन-मनन भी करते रहें। यदि हम आज अपने अन्तर की गंगा में गहरी डुबकी लगा सकें, तो निश्चय ही हमें शान्ति मिलेगी।

मैं आपको खुशी की एक बात और सुना दूँ, कि आज संसार के एक विराट पुरुष की जयन्ती भी है। उस विराट पुरुष का नाम है, गौतम बुद्ध, जिसे जनता भगवान् बुद्ध के नाम से पुकारती है। बुद्ध का जन्म राज-घराने में हुआ था। सोने के राज महलों में उसका लालन-पालन हुआ था। एक राजकुमारी से यौवन काल में उसका विवाह भी हो गया था। संसार के सर्व श्रेष्ठ और सर्वोच्च सुख उसे प्राप्त थे। दुःख तथा क्लेश की उस पर छाया भी नहीं पड़ी थी। फिर भी वह अपने आपमें गम्भीर रहता था। सदा चिन्तन एवं मनन में ही लगा रहता था। उसकी वैराग्य भावना से भयभीत होकर उसके अभिभावकों ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि बुद्ध की नजरों में वैराग्य का उद्दीपक कोई भी रोगी, वृद्ध और मृतक चढ़ न सके, जिससे कि उसे वैराग्य भाव का प्रोत्साहन मिल सके। इतना मजबूत प्रतिबंध होने पर भी एक बार बुद्ध रोगी, वृद्ध और मृतक को देख लेता है, और अपने सारथी छन्दक से पूछ बैठता है, कि क्या ये तीनों दशाएँ मुझे भी आकर घेरेंगी? और क्या मेरी प्रियतमा पत्नी यशोधरा और

नवजात कोमल शिशु राहुल को भी इन तीनों दशाओं में होकर जाना पड़ेगा ? और सचमुच छन्दक के स्वीकारात्मक उत्तर ने बुद्ध को वैराग्य के पथ पर चलने को एक बलवती प्रेरणा दे डाली।

एक दिन अचानक ही वह विराट पुरुष अपनी प्रियतमा पत्नी यशोधरा, कोमल शिशु राहुल और विशाल वैभव को छोड़ कर सुख और शान्ति की खोज में, अमरता की तालाश में राज महलों से निकल पड़ा। अपने त्याग और तपस्या के बल से उन्हें शान्ति मिली और उन्होंने संसार को भी सुख एवं शान्ति का मार्ग बतलाया। आज बुद्ध नहीं है, फिर उनकी वाणी और उनका उपदेश आज भी जीवित है।

मैं आप लोगों से कह रहा था, कि आज का दिवस एक स्नान का दिवस है। और एक विराट पुरुष के जन्म का दिन भी है। यदि आप सोने के सिंहासनों का, धन सम्पत्ति का त्याग न कर सकें, तो कम से कम मानवता के नाते सब की सेवा करने का व्रत तो लें। सब आत्माओं को उसी दृष्टि से देखें, जिस दृष्टि से हम अपने आप को देखते हैं। सब आत्माओं को परमात्मरूप समझने का प्रयत्न करते रहें। अपने जीवन को ऊँचा उठाने का संकल्प रखें। आपत्ति और संकट आने पर भी रोएँ नहीं, निरन्तर हँसते ही रहें, और दूसरों को भी हँसाने का प्रयत्न करें।

अन्तर में यह आशा लगाए रखें कि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों अवश्य ही मुझे सुख तथा शान्ति प्राप्त होगी। उदास और खिन्न रहने से कभी शान्ति नहीं मिल सकती है। आपके जीवन में महापुरुषों का यह शिक्षा वाक्य साकार होकर उतर आना चाहिए; कि—"मानव ! तू दूसरों को रुलाने को नहीं

जन्मा है, हँसाने को जन्मा है। तू यहाँ नरक बसाने को नहीं, स्वर्ग बनाने को उतरा है।

हम अपनी जिंदगी के राजा हैं। उसे बना भी सकते हैं, और बिगाड़ भी सकते हैं। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, स्वयं अपना नेता है। भगवान् बुद्ध ने बड़ी सुन्दर बात कही है कि 'मानव ! तू अत्त-दीप भव' अर्थात् स्वयं ही अपना प्रकाश बन कर चल।

वैशाख शुक्ला १५, बुद्ध जयन्ती
२६-५-५३